तुलसीदास

[आलोचनात्मक अध्ययन : प्रश्नोत्तर में]

संशोधित एवं परिवर्द्धित आठवाँ संस्करण

लेखक

श्री भारतभूषण 'सरोज' एम० ए०

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

प्रकाशक :

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा–३

आठवाँ संस्करण

सन् १९६६

मूल्य : २·५०

मुद्रक :

हिन्दी प्रिन्टिङ्ग प्रेस

डा० रांगेय राघव मार्ग, आगरा

आभार

भक्त-प्रवर महाकवि गोस्वामी तुलसीदास के विषय में इस पुस्तक को लिखते समय अनेक महान विद्वानों की रचनाओं से पूरी-पूरी सहायता ली गई है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लेखों से भी पर्याप्त सहायता मिली है। लेखक उन सभी पुस्तकों तथा लेखों के लेखकों का आभारी है जिनकी रचनाओं से किसी भी प्रकार की सहायता ली गई है।

प्रिय शीलारानी तनेजा को उसकी सहायता के लिए मैं हृदय से आशीष देता हूँ।

रामजस कॉलेज, दिल्ली।
तुलसी जयन्ती सं० २००७

भारतभूषण 'सरोज'

संशोधक की बात

'तुलसीदास' प्रश्नोत्तरी का आठवाँ संस्करण आपके सामने है। प्रस्तुत प्रश्नोत्तरी की उपादेयता तो इसके एकाधिक संस्करण द्वारा ही सिद्ध हो जाती है। इस संस्करण में यथास्थान मुद्रण की अशुद्धियों को दूर करने की तथा कुछ पहले प्रश्नों में विषय की आधुनिक प्रगति सम्बन्धी तथ्यों को जोड़ देने की चेष्टा कर प्रश्नोत्तरी को सर्वांगपूर्ण बनाया गया है। इस प्रयत्न में कहीं-कहीं अन्य लेखकों के 'मैटर' का भी उपयोग किया गया है तथा कहीं-कहीं संशोधक का अपना भी विवेचन है। कुछ अन्य आवश्यक प्रश्न भी आकलित कर दिए गए हैं। अन्य नवीन प्रश्नों के उत्तर तथा सम्वर्द्धित उत्तरांशों में सर्वत्र यही ध्यान रखा गया है कि वे पुस्तक के मूल लेखक की विचार-परम्परा से पृथक् न हो पाएँ।

आशा ही नहीं एवं विश्वास है कि यह संशोधित, परिष्कृत एवं परिवर्द्धित संस्करण विद्यार्थियों एवं इस विषय के अन्य अध्येताओं के लिए विचारणीय एवं लाभप्रद होगा।

—संशोधक

विषय-सूची

१—पृष्ठभूमि १—१५

२—प्रश्नोत्तर १–२०४

१—"हिन्दी साहित्य में भक्ति काल के उदय में पूर्ववर्ती एवं तत्कालीन परिस्थितियों का योग रहा था।" विवेचन कीजिए। १

२—भक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुए संक्षेप में हिन्दी-साहित्य में उसके विकास पर प्रकाश डालिए। ८

३—अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्यसाक्ष्य के आधार पर तुलसी की जीवन सम्बन्धी सामग्री पर विचार कीजिए। १८

४—तुलसीदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में इधर जो नवीन सामग्री प्रकाश में आई है उस पर विस्तृत रूप से विचार करते हुए अपनी सम्मति प्रकट कीजिए। २४

५—"तुलसी के काव्य में भावपक्ष एवं कलापक्ष का सुन्दर सामंजस्य हुआ है।"—उपयुक्त उद्धरण देते हुए इस पर विचार कीजिए। २९

६—तुलसीदास जी की रचनाओं का कालक्रम निर्धारित करने में प्रमुख रूप से किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में अपने विचार, यथेष्ट विस्तार के साथ प्रस्तुत कीजिए। ४१

७—'रामचरितमानस' का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? उपयुक्त उद्धरणों की सहायता से इसका युक्तियुक्त विवेचन कीजिए। ५४

८—'मानस' के सम्वादों की विशेषताएँ समझाते हुए लिखिए। ६०

९—'विनय-पत्रिका' के क्रम, उद्देश्य, भक्ति-भावना एवं काव्य-चमत्कार पर प्रकाश डालिए । ६६

१०—सिद्ध कीजिए कि 'विनय पत्रिका' भक्तों के हृदय का सर्वस्व है और भक्ति की पूर्ण पद्धति इसके भीतर दिखाई देती है । ७५

११—गीत परम्परा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए उसमें 'विनयपत्रिका' का स्थान निर्धारित कीजिए । ८१

१२—'विनयपत्रिका' में तुलसी की जो भक्तिभावना व्यक्त हुई है उसकी 'भ्रमरगीत' के रचयिता सूर की भक्तिभावना से संक्षेप में तुलना कीजिए । ८५

१३—काव्यकला की दृष्टि से संक्षेप में 'विनयपत्रिका' की आलोचना कीजिए । ९२

१४—'गीतावली' की काव्य सम्बन्धी विशेषताओं को उपयुक्त उद्धरण देते हुए तथा स्थल निर्देश करते हुए स्पष्ट कीजिए । ९९

१५—तुलसी रचित 'कवितावली' की विभिन्न दृष्टियों से आलोचना कीजिए । १०७

१६—तुलसीकृत 'बरवै रामायण', 'रामललानहछू', 'पार्वती-मंगल' तथा 'जानकीमंगल' की साहित्यिक आलोचना कीजिए । ११३

१७—"हमारा कवि मूल कथानक अध्यात्म रामायण और वाल्मीकि रामायण से लेकर उसकी रूपरेखा का अनुमान करते हुए उससे बहुत कम हटता है । फिर भी जब कभी और जहाँ कहीं वह हटता है वहाँ वह प्रायः कलात्मकता प्रदर्शित करता है ।" इस कथन की समीक्षा उदाहरण सहित कीजिए । ११८

१८—तुलसी के ग्रन्थों के आधार पर उपयुक्त उद्धरण देते हुए बतलाइए कि तुलसी किस दार्शनिक मत के अनुयायी थे । १२६

१९—'तुलसी का काव्य भक्ति-प्रधान काव्य है।' इस आधार पर तुलसी की भक्ति पद्धति की विशद् समीक्षा कीजिए। १३२
२०—"गोस्वामी तुलसीदास धर्म और भक्ति का अविच्छिन्न सम्बन्ध मान दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं।" उपर्युक्त उक्ति के संदर्भ में गोस्वामीजी की धर्म-भावना का विवेचन कीजिए। १४०
२१—"भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है, और तुलसी भी समन्वयकारी थे।' तुलसी की इस समन्वय कला की पूर्ण विवेचना कीजिए। १४५
२२—"तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' में अनेक प्रसंगों में ऐसी उक्तियाँ लिखी हैं जिनमें नारी-निन्दा होती है—" उपर्युक्त उद्धरण देते हुए इस मत की समीक्षा कीजिए। १५५
२३—तुलसी एवं सूर की काव्य-कला का साम्य एवं वैषम्य निरूपण करके उनका उत्कर्षापकर्ष दिखलाइए। १६३
२४—रस-निरूपण की दृष्टि से तुलसी, सूर और बिहारी की तुलना कीजिए। १७६
२५—अन्त:प्रकृति के निरीक्षण की दृष्टि से तुलसी, सूर और बिहारी की तुलना कीजिए। १८५
२६—तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के काव्यगत सौन्दर्य का विश्लेषण करते हुए उसकी समीक्षा कीजिए। १८८
२७—महाकवि तुलसी के काव्य का विवेचन करते हुए हिन्दी साहित्य में उनका स्थान निश्चित कीजिए। १९९

प्रश्नोत्तर

प्रश्न १—"हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के उदय में पूर्ववर्ती एवं तत्कालीन परिस्थितियों का प्रमुख योग रहा था" विवेचन कीजिए।

उत्तर—साहित्य की किसी भी धारा के उदय में पूर्ववर्ती एवं सामयिक परिस्थितियों का प्रमुख योग रहता है। कोई भी नवीन साहित्यिक धारा अपनी पूर्ववर्ती परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण कर अपने समकालीन-युग की नवीन परिस्थितियों के अनुरूप अपना रूप धारण करती है। हम भक्तिकाल के स्वरूप निर्धारण में भी इन्हीं दोनों प्रकार की परिस्थितियों का योग और प्रभाव पाते हैं। भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-काल माना जाता है। इस काल के साहित्य में भक्तों, रहस्यवादियों, यथार्थवादियों, आदर्शवादियों, प्रगतिवादियों आदि सभी को अपने-अपने मतलब की यथेष्ट सामग्री मिल जाती है। इसी कारण सभी इस युग की महत्ता को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं।

भक्तिकाल के उदय के कारण :

भक्तिकाल में आरम्भ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं जिनसे प्रभावित होकर काव्य का क्षेत्र बदल गया था। उत्तर भारत में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो जाने से वीर-गाथाकालीन वीर और शृंगार की भावना क्रमश: मन्द पड़ती हुई लुप्त हो गई। विधर्मी शासक (मुसलमान) अपने राज्य को दृढ़तर बनाने तथा अपने नए धर्म इस्लाम का प्रचार करने के लिए जनता पर अत्याचार करने लगे। हिन्दू रजवाड़ों के नष्ट हो जाने से कवियों का राज्याश्रय समाप्त हो गया। अत: कविता को राज दरबारों से हटकर विरक्त साधु-सन्तों

की कुटिया में आश्रय मिला और समस्त वातावरण भगवान के कीर्तिगान से ध्वनित हो उठा। भक्ति की इस धारा को प्रबल रूप से उभरते हुए देखकर हमारे साहित्य के अनेक विदेशी अध्येता आश्चर्यचकित हो उठे हैं। उनकी समझ में यह नहीं आया कि भक्ति की यह प्रबल धारा एकाएक कैसे उद्गमित हो उठी थी। इसे देखकर ईसाई लेखक जार्ज ग्रियर्सन ने अनुमान लगाया है कि इस भक्तिधारा पर ईसाइयों की भक्ति-भावना गहरा प्रभाव पड़ा है और उसी प्रभाव के फलस्वरूप भारत में यह धारा उत्पन्न हुई थी। परन्तु ग्रियर्सन का यह अनुमान कितना आधारहीन और भ्रामक था, यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि उस समय तक उत्तर-भारत में कोई ईसाई धर्म को जानता तक न था। ग्रियर्सन की इस भ्रान्ति का कारण यह था कि उनका भारतीय विचार-परम्परा, संस्कृति और धार्मिक-विकास का अध्ययन शून्य था। इसी कारण वह इसका मूल उद्गम ढूँढ़ने में असमर्थ रहे थे। अब अनेक भारतीय विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह नवीन-सी प्रतीत होने वाली भक्ति-धारा, भक्ति की उस अविच्छिन्न परम्परा का ही विकसित रूप था जो शताब्दियों से कभी दबती और कभी पुनः उभरती हुई चली आ रही थी। भारतीय आध्यात्मिक काव्य की धारा जो वीरगाथाकालीन संघर्षपूर्ण अशान्त वातावरण में दब सी गई थी, देश में मुसलमानी-साम्राज्य की स्थापना के उपरान्त शान्त वातावरण पाकर पुनः उभर आई थी।

एक और भ्रामक धारणा :

भक्तिकाल के उदय होने का एक दूसरा कारण यह बताया जाता है कि जब नए मुस्लिम-शासक हिन्दुओं पर अत्याचार करने लगे तो हिन्दू असहाय और निराश होकर उस दीन-रक्षक भगवान से अपनी रक्षा और उद्धार करने की प्रार्थना करने लगे। इसका अर्थ यह हुआ कि भक्ति की यह धारा उन्हीं अत्याचारों के कारण उत्तर-भारत में उत्पन्न हुई थी। ध्यान से देखने पर यह तर्क नितान्त निराधार प्रतीत होता है। क्योंकि जब उत्तर-भारत में हिन्दुओं पर धार्मिक और राजनैतिक अत्याचार हो रहे थे उस समय निरापद और शांत दक्षिण-भारत में भक्ति की अबाध धारा प्रवाहित हो रही थी। वहाँ वैष्णव-

भक्ति पनप रही थी। दक्षिण के आलवार भक्त प्रभु के लीलागान में व्यस्त थे। उधर उत्तर-भारत में पौराणिक शास्त्र का आधार लेकर भक्ति-भावना का प्रसार किया जा रहा था। यहाँ की जनता विष्णु के विभिन्न अवतारों की उपासना करती थी। साधारण जनता स्मार्त मतावलम्बी थी। नाथ-पंथियों का शैव-धर्म भी काफी प्रभावशाली था। परन्तु इन सब में विष्णु के अवतारों पर विश्वास करने वाली भावना का विशेष प्रभाव पड़ा। सगुण-भक्ति के मूल में अवतार की कल्पना प्रमुख थी। हमारी इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हमें सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य में कहीं भी मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर किए जाने वाले अत्याचारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कैसा भी उल्लेख या रूप नहीं मिलता। इसलिए यह कहना नितान्त निराधार है कि यह भक्ति-धारा मुस्लिम-अत्याचारों की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुई थी और न इसके जन्म और विकास में किसी विदेशी भक्ति-धारा का ही कोई प्रभाव कार्य कर रहा था।

हिन्दुओं का आन्तरिक वैचारिक संघर्ष प्रधान कारण था :

वस्तुतः इस भक्तिधारा के मूल में हमें जिस सामाजिक और वैचारिक संघर्ष की छाया दिखाई पड़ती है, वह संघर्ष हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं का संघर्ष नहीं था। वह संघर्ष था हिन्दू-समाज की ब्राह्मण आदि उच्च वर्ण की जातियों तथा निम्न वर्ण की शूद्र आदि जातियों के बीच। वस्तुतः इसे हम हिन्दुओं का आन्तरिक जातीय संघर्ष मानते हैं। भक्तिकाल के पूर्वार्द्ध में हम इसी संघर्ष का प्रबल रूप पाते हैं। निम्न वर्ग की जातियाँ उच्च वर्गीय जातियों की धार्मिक-सामाजिक संकीर्णताओं, आडम्बर, पक्षपात आदि के विरुद्ध विद्रोह करती दिखाई पड़ती हैं। कबीर आदि सन्तों का काव्य इसका प्रमाण है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उस युग में भक्ति की धारा उच्च वर्ग के सङ्कीर्ण-सीमित घेरे के बन्धनों को ध्वस्त कर जनसाधारण में व्यापक रूप से विकास पा रही थी। अब प्रश्न यह उठता है कि उस काल में ही यह विद्रोह-मूलक धारा इतनी व्यापकता क्यों पा सकी? इसका उत्तर तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है। भक्ति के इस विकास में तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों का गहरा प्रभाव रहा था।

सामाजिक परिस्थिति :

उस युग में सामाजिक क्षेत्र में दो संस्कृतियों और विचारधाराओं का परस्पर संघर्ष चल रहा था। हिन्दू संस्कृति अपनी पूर्णता और समृद्ध प्राचीनता का दम्भ लिए प्राणपण से अपनी अस्तित्व-रक्षा का प्रयत्न कर रही थी और उधर नवीन धार्मिक-उन्माद से ओतप्रोत मुस्लिम संस्कृति हिन्दू संस्कृति पर हावी हो इस्लाम के बलात् प्रचार द्वारा इस देश में अपनी जड़ें जमाने की कोशिश में लगी थी। इस संघर्ष के कारण हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य और घृणाभाव को प्रोत्साहन मिल रहा था। रक्षा की भावना के कारण उच्च वर्ग के हिन्दुओं ने अपने सामाजिक बन्धन दृढ़ कर दिये थे। इन सामाजिक बन्धनों के कारण उत्पन्न सङ्कीर्णता ने धार्मिक भावना को गौण बना दिया था। हिन्दुओं के सामाजिक बन्धन इतने संकीर्ण हो उठे थे कि उस समाज में शूद्रों, अन्य निम्न जातियों तथा नारियों को धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से पूर्ण बहिष्कृत-सा कर दिया गया था। उदार-चेता विचारकों और प्रतिभाशाली कवियों को संकीर्णता अखरने लगी थी। रामानन्द आदि विचारकों ने इसका विरोध कर भक्ति का द्वार मानव मात्र के लिए उन्मुक्त कर दिया था। कबीर आदि विचारक प्रतिभाशाली कवियों ने शुद्ध आध्यात्मिकता के बल पर, जिसमें शास्त्रों का कोई बन्धन स्वीकार नहीं था, इस संकीर्णता को दूर करने का प्रयत्न किया। इसके लिए कबीर ने एक नवीन-सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का पौरोहित्य किया।

रस चेतना का आदि-स्रोत सर्वथा नवीन नहीं था। प्राचीन काल में बौद्ध-धर्म के उदय के साथ ही उच्च वर्गीय सामाजिक व्यवस्था एवं धार्मिक संकीर्णता और अत्याचारों के प्रति विद्रोह की भावना का जन्म हो चुका था। रूढ़ि और प्रगति की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के साथ संकीर्ण और उदार होती हुई यह भावना जनजीवन-प्रवाह के साथ बहती चली आई थी। कबीर ने इस भावना में आत्म-विश्वास की दृढ़ता फूँकी, उसे संकीर्णताओं से मुक्त किया और निम्न जातियों में व्याप्त हीनता की भावना को दूर कर समता की दृष्टि प्रदान की। इस प्रकार विशुद्ध मानवता के आधार पर एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ। कबीर आदि सन्तों को इस पावन-प्रयत्न में हमारे सूफी-कवियों ने भी अपना पूर्ण योग दिया। उन दोनों ने मिलकर हिन्दू-मुस्लिम-संस्कृति एवं धार्मिक भावना में

समन्वय और सन्तुलन लाने का प्रयत्न किया। इनके इस नवीन एवं सराहनीय प्रयत्न के कारण हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं के समन्वय से निर्गुण उपासना की एक ऐसी पद्धति सामने आई जिस पर अनेक प्राचीन और नवीन धार्मिक मत-मतान्तरों, वादों और विचार-धाराओं का प्रभाव था। हिन्दी-साहित्य का यह जागरण काल था और कबीर इसके अग्रदूत थे।

धार्मिक परिस्थिति :

धार्मिक क्षेत्र में हिन्दू-धर्म और संस्कृति पर निरन्तर आक्रमण हो रहे थे। मूर्तिपूजकों (हिन्दुओं) और मूर्तिभंजकों (मुसलमानों) के संघर्ष में मूर्तिभंजकों को विजय मिल रही थी। इससे निराश से होकर हिन्दू अपनी रक्षा के लिए किसी आश्रय की खोज कर रहे थे। उसी विषम निराशा स्थिति में दक्षिण-भारत से रामानन्द भगवान राम का लोक-रक्षक रूप लेकर उत्तर-भारत में आए। उनके राम के दो रूप हुए—कबीर के निराकार राम और तुलसी के साकार राम। साथ ही दक्षिण से कृष्ण-भक्ति का प्रबल प्रवाह भी उत्तर-भारत की ओर आया। इन दोनों ने मिलकर समस्त उत्तर-भारत को अपनी शान्तिदायिनी गोद में समेट लिया। रामानन्द ने काशी में रामभक्ति का प्रचार कर भक्ति को जनसाधारण के लिए सुलभ बना दिया। दूसरी ओर चैतन्य महाप्रभु ने बंगाल में तथा वल्लभाचार्य ने ब्रज में कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया। सूर और तुलसी ने इन्हीं के सिद्धान्तों का आश्रय ग्रहण कर कृष्ण-भक्ति और राम-भक्ति की अक्षय-धारा प्रवाहित की जो आज तक निन्तर प्रवहमान है। दक्षिण-भारत से आई इस भक्ति-धारा को ही उत्तर-भारत में सगुण-भक्ति को प्रतिष्ठित करने का गौरव प्राप्त है।

इस सगुण-भक्ति-धारा ने धार्मिक क्षेत्र में जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया था वह यह था कि इसने उस युग में प्रचलित विभिन्न मत-मतान्तरों, सम्प्रदायों, विकृत उपासना पद्धतियों का विरोध कर एक अखंड, पूर्ण ब्रह्म की उपासना-पद्धति की स्थापना की थी। साथ ही वैष्णवों, शाक्तों, शैवों आदि के पारस्परिक विरोधों और साम्प्रदायिक संकीर्ण द्वेष-भावना का उन्मूलन कर उनमें स्वस्थ समन्वय स्थापित करने का सराहनीय प्रयत्न किया था।

निर्गुण भक्ति की उत्पत्ति के कारण :

कबीर से पूर्व की उत्तर-भारत की धार्मिक स्थिति के परिणामस्वरूप निर्गुण-भक्ति की स्थापना हुई थी। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में समाज पर सिद्धों और नाथपंथियों का गहरा प्रभाव था। इन दोनों ही सम्प्रदायों के अनुयायी प्रायः निम्न जाति के अशास्त्रज्ञ व्यक्ति थे। ये लोग हठयोग की रहस्यपूर्ण बातों और क्रियाओं द्वारा समाज के भोले-भाले, अनपढ़ लोगों को आश्चर्यचकित कर उन पर अपना प्रभाव जमा लेते थे। साथ ही जाति-पाँति, वेद, ब्राह्मण, कर्मकाण्ड, तीर्थ, व्रत आदि का विरोध कर समाज के निम्न वर्ग में उच्च वर्ग के प्रति असन्तोष और विद्रोह की भावना उत्पन्न कर रहे थे। और निम्न वर्ग में निराकार की उपासना का प्रचार करते थे। क्योंकि उनका निराकरण ब्रह्म इन सारे बन्धनों से परे था। परन्तु इस निराकारोपासना की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि यह भक्ति-भावना उत्पन्न करने के लिए हृदय-पक्ष से शून्य था। इस रसहीनता के कारण सन्त और सूफी इसे पूरी तरह से अपनाने में अपने को असमर्थ पाते थे। इस अभाव की पूर्ति महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त नामदेव ने की। उन्होंने उस निराकारोपासना में रागात्मक उपासना का समन्वय कर उसे थोड़ा-बहुत रसमय बना दिया। साथ ही सूफियों की प्रेम-भावना ने उसमें और अधिक सरसता उत्पन्न कर दी। इस प्रकार नाथों के हठयोग, वैष्णवों की सरसता, शंकर के मायावाद, सूफियों की प्रेमभावना आदि के मिश्रित प्रभाव से कबीर ने अपने 'निर्गुण पंथ' की स्थापना कर विभिन्न मत-मतान्तरों के प्रभावो की भूल-भुलैयों में भटकती हुई जनता का उद्धार किया। सूफी-सन्तों पर भी उपासना के इस नए रूप का प्रभाव पड़ा था। कबीर आदि ने बाह्य धर्माचारों के आडम्बरपूर्ण आचारों का खंडन करने के लिए साकार ब्रह्म का विरोध किया और निराकार के प्रति सूफियों की प्रेम-भावना को लेकर एक ऐसी नए प्रकार की भक्ति का प्रचार किया जिसमें साकारोपासना और निराकारोपासना दोनों के ही तत्व विद्यमान थे।

इस काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता के भी प्रयत्न हुए। कबीर आदि ने राम और रहीम, कृष्ण और करीम की एकता स्थापित कर दोनों जातियों में धार्मिक एकता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर जायसी आदि मुस्लिम

सूफियों ने हिन्दू-कथाओं के आधार पर प्रेम-कहानियाँ लिखकर हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक एकता का मार्ग प्रशस्त किया। यह समय की माँग थी और हमारे हिन्दी के साधकों ने उसे पूरा करने का प्रयत्न किया था।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल की सम्पूर्ण धाराओं के उद्गम के मूल में एक अविच्छिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक भावना कार्य कर रही थी। इस पर न किसी विदेशी भक्ति-धारा का प्रभाव था और न यह विदेशी शासकों के अत्याचारों से उत्पन्न निराशा की प्रतिक्रिया के रूप में ही प्रकट हुई थी। वीरगाथाकालीन संघर्षपूर्ण वातावरण में यह धारा हमें राज-दरबारों में लिखे गए वीर-रस प्रधान साहित्य के कारण दबी हुई-सी दिखाई देती है। परन्तु यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उस काल में भी राज-दरबारों से बाहर जो साहित्य रचा जा रहा था वह एक प्रकार से धार्मिक साहित्य ही था। वीरगाथा काल की समाप्ति पर जब काव्य राज-दरबारों के संकीर्ण वातावरण से मुक्त हो, हटकर पुनः जनता में आया तो बीच में लुप्त सी दिखाई पड़ती भक्ति-भावना अनुकूल अवसर पाकर प्रस्फुटित एवं पल्लवित हो फलवती बनी।

संक्षेप में, दक्षिण की भक्तिधारा ने, जिसका आधार शास्त्रीय विवेचन था, उत्तरी भारत में सगुण भक्ति का बीजारोपण किया। यद्यपि यहाँ शैवों, शाक्तों एवं नारदी-भक्ति-पद्धति के रूप में सगुण-भक्ति पहले से ही प्रचलित थी। परन्तु उसके रूप को व्यवस्थित कर उसे पुनरुज्जीवन प्रदान करने वाली धारा दक्षिण की सगुण भक्ति-धारा ही थी। इस सगुण भक्ति-धारा के दो प्रमुख भेद हुए— कृष्ण भक्ति-धारा और राम-भक्ति धारा। बौद्धमत के ध्वंसावशेषों—सिद्धों एवं नाथों—के प्रभाव से एवं उनकी प्रतिक्रियास्वरूप निर्गुण धारा का आरम्भ हुआ जिसमें सूफियों की सरसता, मायावाद की नीरसता आदि अनेक परस्पर विरोधी तत्त्वों का अदभुत मिश्रण था। निर्गुण भक्तिधारा को हम एक प्रकार से विभिन्न पूर्व एवं समकालीन विचारधाराओं की एक अद्भुत खिचड़ी भी कह सकते हैं। इसके भी दो भेद हुये—ज्ञानमार्गी शाखा तथा प्रेममार्गी शाखा।

प्रश्न २—भक्ति के स्वरूप का विवेचन करते हुये संक्षेप में हिन्दी-साहित्य में उसके विकास पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास भक्त-शिरोमणि माने जाते हैं। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा राम की साकारोपासना को मूर्त रूप प्रदान किया था। इसलिए तुलसी-साहित्य का अध्ययन करने के लिए हमें पहले भक्ति के स्वरूप और उसके विकास को समझ लेना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति का विवेचन करते हुये लिखा है—"भक्ति-मार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्म-भावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है। स्वरूप की यह प्रतिष्ठा तत्त्व-चिन्तन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति के द्वारा ही हो सकती है और सर्वत्र हुई है।"

धर्म के इस अन्तिम रसात्मक पक्ष अर्थात् भक्ति तक मनुष्य का हृदय उपास्य के स्वरूप की उन्नत भावना के उपरान्त पहुँचता है।

शुक्ल जी की उपर्युक्त भक्ति-विषयक व्याख्या को समझने के लिए हमें प्राचीन एवं नवीन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गई भक्ति की व्याख्या को भी समझ लेना चाहिए।

'भक्ति' का अर्थ और व्याख्या :

'भक्ति' शब्द का शाब्दिक अर्थ है—'भगवान की सेवा करना।' यह शब्द संस्कृत की 'भज सेवायाम्' धातु से बनाया गया है। 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र' के अनुसार 'ईश्वर में अतिशय अनुरक्ति ही भक्ति है'—'सा परानुरक्तिरीश्वरे'। 'नारद भक्ति सूत्र' के अनुसार 'ईश्वर के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है'—'स त्वस्मिन परम प्रेम रूपा।' भक्ति के मूलाधार ग्रन्थ श्रीमद्भागवत के अनुसार—'मनुष्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ धर्म वही है जिसके द्वारा भगवान कृष्ण में भक्ति हो, यह भक्ति ऐसी हो जिसमें किसी प्रकार की कामना न हो और जो नित्य निरंतर बनी रहे। ऐसी भक्ति से आनन्द स्वरूप भगवान की उपलब्धि करके भक्त कृत-कृत्य हो जाता है।' 'गोपाल पूर्व तापनी' उपनिषद के अनुसार—'मन को भगवान में पूर्ण रूप से केन्द्रित करके किसी फल की इच्छा किए बिना उनका निरन्तर भजन करना ही भक्ति है।' आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार—'भक्ति भगवान के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है।'

भक्ति-विषयक उपर्युक्त व्याख्याओं और परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति ईश्वर के प्रति निस्वार्थ प्रेम-भावना को कहते हैं ।

कर्म-ज्ञान-भक्ति का पूर्वापर सम्बन्ध :

विकास की दृष्टि से कर्म, ज्ञान और भक्ति का पूर्वापर सम्बन्ध माना जाता है । भक्ति की भावना एकाएक ही उत्पन्न न होकर मानव-विकास के विभिन्न सोपानों की चरम परिणति है । मानव अपने आदिम रूप में कर्म-मार्गी था, सभ्यता का विकास होने पर जब उसने विवेक से कार्य लेना आरम्भ किया तो ज्ञानमार्गी बना और जब ज्ञान द्वारा उसने ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा कर ली तो उस ईश्वर का सामीप्य लाभ करने के लिए वह भक्तिमार्गी बन गया । इस विकास को हमें तनिक विस्तार के साथ समझ लेना चाहिए ।

मानव-विकास के लम्बे इतिहास में मानव की ईश्वर अथवा देवता-विषयक भावनायें क्रमशः उन्नत, व्यापक और परिष्कृत होती चली गई हैं । अपनी आदिम दशा में मानव की दृष्टि में देवता एक ऐसा शासक था जो पूजा करने पर रक्षा और कल्याण करता था तथा पूजा न करने पर क्रुद्ध होकर अनिष्ट करता था । उसकी पूजा के मूल में भय और लोभ की प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं । वनदेवता, ग्रामदेवता, कुलदेवता आदि इसी प्रकार के देवता थे । कुछ अपेक्षाकृत सभ्य जातियों में प्राकृतिक शक्तियों—सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल आदि के नाना प्रकार के उपकारों से प्रभावित होकर इनकी उपासना की जाती थी जो उनके प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन होता था । उपास्य के इस उपकारी स्वरूप के भीतर ही अखिल विश्व के पालक और रक्षक भगवान के व्यापक स्वरूप की भावना का अंकुर छिपा था ।

एकेश्वरवाद : कर्मकाण्ड का रूप :

कुल-देवता आदि देवताओं की भावना ने ही कालान्तर में 'एकेश्वरवाद' की भावना में विकास पाया । ऋग्वेद में इन सारे देवताओं का तत्त्वदृष्टि से एक में समाहार करके 'ब्रह्मवाद' की प्रतिष्ठा की गई । आगे चल कर जब परलोक की भावना का उदय हुआ तो परलोक के सुख या निःश्रेयस की भी कामना होने लगी । और निःश्रेयस की इस नवीन भावना ने देवताओं की पूजा

से लोकहित को सम्बद्ध कर दिया। प्राचीन काल में किए जाने वाले बड़े-बड़े यज्ञ इसी भावना के प्रतीक थे। यह कर्मकाण्ड का रूप था।

ज्ञानमार्ग का प्रारम्भ :

वैदिक काल में जिस मननशीलता और भावुकता ने सम्पूर्ण देवताओं के एकत्व की भावना को जन्म दिया था वह आगे चलकर उपनिषद् काल में पूर्णता को पहुँची। इस भावना में सौन्दर्य-भावना और शुद्ध अनुराग के बीज पहले से ही वर्तमान थे जिसने ब्राह्मण-काल में 'नारायण' के रूप में सगुण-ब्रह्म की स्थापना की। और जब आगे चलकर उस समष्टि शक्ति के स्वरूप के परिचय की उत्कंठा उत्पन्न हुई तो चिन्तकों ने अपनी बुद्धि और कल्पना की दौड़ लगानी प्रारम्भ की। यहीं से 'ज्ञानमार्ग' का आरम्भ मानना चाहिए। यही भाव-समन्वित ज्ञान-मार्ग आगे चलकर उपनिषद्-काल में पूर्णता तक पहुँच चुका था।

ज्ञान के दो रूप :

उपनिषद्-काल मे इस ज्ञान के दो रूप थे। एक हृदय-पक्ष को त्याग केवल बुद्धि या विशुद्ध ज्ञान को लेकर चला, तथा दूसरा हृदय-पक्ष समन्वित ज्ञान को लेकर आगे बढ़ा। पहले ने कर्मकान्ड का पूर्ण विरोध कर मनन या चिन्तन को ही अपना मूलाधार बनाया। इसे 'निवृत्तिपरक ज्ञान-मार्ग' कहा जाता है। दूसरे ने ज्ञान के साथ-साथ निष्काम-कर्म का भी उपदेश दिया। यह 'कर्मपरक ज्ञान-मार्ग' कहलाया। इसमें बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय था। और आगे चल कर इसी से भक्ति का जन्म और विकास हुआ।

ब्रह्म के दो रूपों की कल्पना :

उपर्युक्त दो ज्ञान-मार्गों के अनुसार ब्रह्म के दो स्वरूपों की कल्पना की गई। कहीं ब्रह्म को सगुण और व्यक्त कहा गया और कहीं निर्गुण और अव्यक्त। इसके अतिरिक्त कहीं उसे उभयात्मक अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार का माना गया। भारतीय भक्ति-मार्ग ब्रह्म के इसी उभयात्मक रूप को लेकर चला जिसमें मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त, चल-अचल आदि दोनों प्रकार की भावनाओं का समान स्थान था। ब्रह्म के ये दोनों ही रूप नित्य और सत्य माने गए। इसी

कारण ब्रह्म के सगुण और व्यक्त-रूप को असत्, भ्रम या मिथ्या नहीं माना गया।

'उपासना' का समावेश :

उपनिषद् काल से पूर्व उपास्य की केवल 'पूजा' की जाती थी। इस पूजा में उपासना की भावना नहीं थी क्योंकि उपासना किसी स्वरूप की ही की जाती है। उपासना की यह भावना पूजा की भावना से अधिक व्यापक और परिष्कृत थी। उपासना द्वारा मानव ब्रह्म के और नजदीक पहुँच गया क्योंकि उसमें व्यक्तित्व और हृदय का योग था। इसी कारण इसे 'कर्म' से अधिक श्रेष्ठ माना गया। 'कर्म' के साथ मन के इस योग में मन की बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति दोनों का ही योग था। अर्थात् उसमें ज्ञान और उपासना, बुद्धि-तत्त्व और हृदय-तत्त्व दोनों का मेल था। इसी मेल की भावना से भक्ति-मार्ग का आरम्भ मानना चाहिए। और इसके साथ ही व्यक्ति के सुख की कामना के साथ साथ लोक-कल्याण की भावना का प्रचार बढ़ा। अतः भक्ति-मार्ग के मूल में व्यक्ति के कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना का प्राधान्य रहा।

गीता का निष्काम कर्म-योग :

गीता में निष्काम कर्म तथा कर्म, ज्ञान और उपासना के समन्वय पर अधिक बल दिया गया। 'निष्काम कर्म' से अभिप्राय उन कर्मों से था जो केवल अपने ही कल्याण या लाभ के लिए न किए जाकर लोक की रक्षा, पालन एवं रंजन की दृष्टि से किए जायें। इसमें लोक-कल्याण की भावना अत्यधिक प्रबल थी। और लोक-कल्याण की इस साधना के लिए गीता मे उपासना के निमित्त ब्रह्म के सगुण रूप को स्वीकार किया गया। इस सगुण रूप की अभिव्यक्ति लोक की रक्षा, पालन और रंजन करने वाले रूप मे हुई। अतः उपास्य के रूप में नारायण या वासुदेव को स्वीकार कर लिया गया। अहिंसा को भागवत धर्म का प्रधान लक्षण लोक-कल्याण की भावना के कारण ही माना गया। ब्रह्म के इस स्वीकृत सगुण रूप में ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप समाहित थे। ब्रह्म के इस समन्वित रूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असम्भव था। उसकी केवल उपासना की जा सकती थी। इसी कारण ज्ञान मार्ग की सुनी-सुनाई

बातों के आधार पर ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने का दम्भ अधिक प्रचार न पा सका। यही कारण था कि कबीर आदि की तुलना में सूर-तुलसी अधिक लोकप्रिय बन सके।

माधुर्य पूर्ण उपास्य की स्थापना :

गीता का उपास्य लोक-रक्षा और लोक-मंगल करने वाली धर्मशक्ति का स्वरूप था। उसमें शक्ति, शील, सौन्दर्य, ऐश्वर्य का समन्वित रूप था। इसी कारण अवतार का हेतु लोक में धर्म की स्थापना करना माना गया था। आगे चलकर गीता के इस भक्ति मार्ग से लोक-धर्म-पक्ष या कर्मपक्ष हटता चला गया और एक ऐसे माधुर्यपूर्ण उपास्य को अपनाया जाने लगा जो अत्यन्त घनिष्ठ प्रेम का अवलम्बन हो सके। भगवान के लोक रक्षक गुण तिरोहित से होने लगे। भागवत में भगवान के इसी माधुर्य रूप की प्रतिष्ठा की गई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार—

"भागवत ने कृष्ण की वह मधुर मूर्ति सामने रखी जो प्यार करने योग्य हुई—उस ढंग का प्यार जिस ढंग के प्यार की प्रेरणा से माता-पिता अपने बच्चे को दुलारते-पुचकारते हैं, उस ढंग का प्यार जिस ढंग के प्यार की उमङ्ग में प्रेमिका अपने प्रियतम का ललक कर आलिंगन करती है। भागवत ने भगवान को प्यार करने के लिए भक्तों के बीच खड़ा कर दिया।"

भक्ति का कर्म-ज्ञान-समन्वित रूप :

गीता में भक्ति का कर्म-ज्ञान-समन्वित रूप था। वहाँ मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा मानी गई तथा भक्ति को ज्ञान प्राप्ति का साधन माना गया। परन्तु भागवत में भक्ति को सर्वोपरि प्रधानता प्रदान कर उसे साधन न मानकर साध्य माना गया। यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या ज्ञान के बिना भी भक्ति सम्भव है। इसका उत्तर उपनिषदों में मिल जाता है। उपनिषदों ने पहले ब्रह्म के व्यापक स्वरूप का ज्ञान कराकर तब उपासना का मार्ग खोला था। जब ज्ञान द्वारा जाने गए ब्रह्म के स्वरूप की ओर हृदय आकर्षित होता है तभी जीवन की सच्ची साधना प्रारम्भ होती है। ज्ञान द्वारा जाना हुआ ब्रह्म का स्वरूप जैसा होगा उस स्वरूप का भक्त वैसे ही स्वरूप को प्राप्त होगा। इसी कारण भक्ति मार्ग के विभिन्न आचार्य ज्ञानी और भक्त दोनों ही थे।

तुलसी ने ज्ञान और भक्ति में जो किसी प्रकार का विरोध नहीं माना था उसका रहस्य यही था। उपास्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा तत्त्व-चिन्तन या ज्ञान की प्रकृत पद्धति द्वारा ही हो सकती है और भक्ति उपास्य के उसी स्वरूप की जाती है। इसलिये ज्ञान के बिना भक्ति अधूरी है। सूर और तुलसी भक्त होने के साथ-साथ विद्वान भी थे। इसी कारण वे भक्ति का वह स्वरूप उपस्थित करने मे पूर्ण सफल हुए जहाँ कबीर आदि को असफलता मिली थी।

भक्ति के विकास का इतिहास

प्रारम्भिक रूप :

वैदिक-धर्म प्राचीन काल से ही दो प्रधान शाखाओं में विकसित होता आया है—शैव मत तथा वैष्णव मत। इन दोनों ही मतों के मूल में भक्ति की धारा निरन्तर प्रवाहित होती चली आई है। परन्तु भक्ति की धारा वैष्णव मत में ही अधिक महत्त्व पाती रही है। वैदिक धर्म का विकास क्रमशः भागवत, सात्वत और पांचरात्र मतों में पाया जाता है। दूसरे शब्दों में इसे विष्णु की उपासना का क्रमिक विकास भी कहा जा सकता है। विष्णु का आदि रूप वेदों में मिलता है। वहाँ विष्णु एक देवता है, साथ ही अन्य देवता भी हैं। परन्तु कालान्तर में अन्य सारे देवता विष्णु में ही समाहित हो जाते हैं। विष्णु में चमत्कार और अलौकिक शक्ति का समावेश होता है और अन्त में विष्णु को एक सर्वशक्तिमान, लोकरक्षक, सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है।

भागवत, सात्वत और पांचरात्र मत :

षट् ऐश्वर्यों से सम्पृक्त होने के कारण विष्णु 'भगवत' कहलाए और उनके उपासक 'भागवत'। महाभारत में विष्णु और वासुदेव-कृष्ण का एकीकरण हो गया। कृष्ण के यादव वंश को 'सात्वत वंश' भी कहा गया इसलिए 'भागवत मत' का दूसरा नाम 'सात्वत मत' भी पड़ गया। गीता इस मत का प्रधान ग्रन्थ है। उसमें भागवत मत का चरम लक्ष्य 'एकान्तिक भक्ति' माना गया है। इस मत का अन्तिम विकसित रूप 'पांचरात्र-मत' में मिलता है। इस मत के उपास्य देव भी 'वासुदेव' अर्थात् कृष्ण हैं। इसमें ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप स्वीकृत हैं। इसका मुख्य उद्देश्य भक्ति के साधन-मार्ग का निरूपण करना

रहा। भक्ति को संसार के दुख से मुक्ति का एकमात्र साधन माना गया। और इस भक्ति की प्राप्ति के लिए भगवान की शरणागति अथवा प्रपत्ति को ही प्रधान साधन स्वीकार किया गया। इसके समावेश से भक्ति ने लोकधर्म का स्वरूप धारण कर लिया। और 'शरणागति' की इसी भावना को लेकर परवर्ती आचार्यों ने भक्ति को चरम विकास की सीमा तक पहुँचा दिया।

भक्ति के विकास में विघ्न :

भक्ति के इस विकास में अनेक विघ्न भी आए। जैन, बौद्ध आदि मतों ने भक्ति के मूल स्रोत वेदों का खंडन और विरोध का परिणाम वज्रयान-सहजयान आदि वाममार्गी सम्प्रदायों के रूप में सामने आया। ये सम्प्रदाय लोक-जीवन को विकृत आचरणों और आदर्शभ्रष्ट विकृत उपासना-मार्गों की ओर ले जा रहे थे। फलस्वरूप वैदिक धर्म निष्प्रभ हो उठा। शंकराचार्य ने इस विषय स्थिति में एक ओर प्राचीन औपनिषदिक धर्म की पुनःस्थापना की और दूसरी ओर वेद-विरोधी विचारधारा के नाम पर पनपने वाले कुतर्कमूलक आवेग को रोक कर प्रबल आध्यात्मिक दर्शन का प्रतिपादन किया।

परन्तु शंकर का यह अद्वैतवादी दर्शन साधारण भावुक भक्त हृदय को कोई अवलम्बन न प्रदान कर विद्वानों के वाद-विवाद का ही प्रिय विषय बनकर रह गया। इस स्थिति को देख अनेक आचार्य दार्शनिक दृष्टि से इसका खण्डन करने लगे। इन वैष्णव आचार्यों ने अपने भक्ति-सम्प्रदाय का प्रचार करने के लिये अद्वैतवाद का खंडन करते हुये अनेक सम्प्रदायों की स्थापना की।

विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना :

सबसे पहले तमिलनाड के आचार्य नाथमुनि ने विशिष्टाद्वैत मत के दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन कर दक्षिण के आलवार भक्तों के लिये दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। आगे चलकर यामुनाचार्य ने पांचरात्र के सिद्धान्तों तथा 'शरणागति' के तत्त्वों का विशद्-मार्मिक विवेचन किया। आगे चलकर रामानुजाचार्य ने उक्त दोनों आचार्यों द्वारा निर्मित पृष्ठभूमि पर श्रीवैष्णव मत को सुव्यवस्थित रूप प्रदान कर उसका देशव्यापी प्रचार किया। उन्होंने अपने श्री सम्प्रदाय में एक-मात्र विष्णु की आराधना का विधान कर मानवमात्र को भक्ति का अधिकारी घोषित किया। रामानुज के इस सम्प्रदाय का उत्तर-भारत के भक्ति-आन्दोलन

पर गहरा प्रभाव पड़ा। रामानुज उपासना द्वारा ही जीव की मुक्ति संभव मानते हैं। वे ज्ञान को मुक्ति का साधन न मान भक्ति को ही मानते हैं।

द्वैताद्वैतवाद और द्वैतवाद :

आगे चलकर निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतवाद की स्थापना की जिसे सनक-सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इन्होंने भी शंकर के अद्वैतवाद का विरोध करते हुये जीव और जगत का अस्तित्व एवं व्यापार ईश्वर की इच्छा पर ही अवलम्बित माना। ईश्वर की कृपा से ही जीव को अपनी प्रकृति का ज्ञान होता है। आगे चलकर मध्वाचार्य ने भी शंकर के अद्वैतवाद का तीव्र विरोध करते हुए रामानुज के विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को अस्वीकार कर अपने द्वैतमत अर्थात् ब्रह्म-सम्प्रदाय की स्थापना की। इन्होंने भक्त और भगवान की पृथकता को पहली शर्त माना। इस मत में भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान कर उसे 'अमला-भक्ति' अर्थात् सर्वथा दोषरहित भक्ति कहा गया और यह भक्ति भगवान की कृपा होने पर ही प्राप्त होती है। उत्तर-भारत का गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय माध्वमत से प्रभावित बताया जाता है। मध्वाचार्य ने ही अपने भक्तिमार्ग में राधा की उपासना का सर्वप्रथम विधान किया था और राधा और कृष्ण का समान महत्त्व माना था। इस मत के अनुसार 'प्रेम लक्षणा अनुरागात्मिका परम भक्ति' ही साधना का चरम लक्ष्य माना गया है।

शुद्धाद्वैतवाद

आगे चलकर वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्त्तित विचाराधारा को आधार बनाकर अपने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की। इसके अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है और अपनी 'ह्लादिनी संविद्' द्वारा 'आश्लिष्ट' है। माया ईश्वर के अधीन है। जीव अपनी अविद्या द्वारा क्लेश पाता है। वह आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है और दुःख भी भोग करता है। अतः ईश्वर और जीव में स्पष्ट भेद है। वल्लभस्वामी का यह शुद्धाद्वैतवाद 'पुष्टिमार्ग' का रूप धारण कर हिन्दी के कृष्णभक्तों का प्रधान सम्बल बना।

विकास का सिंहावलोकन :

उपर्युक्त सभी आचार्यों ने शंकर के अद्वैतवाद के विरोध में अपने-अपने सम्प्रदायों की स्थापना की थी। इनमें परस्पर भेद होते हुए भी भक्ति के क्षेत्र में

काफी समानता थी। डाक्टर हिरण्मय ने भक्ति के इस विकास को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"श्री सम्प्रदाय की साधना-पद्धति पांचरात्र पर अधिक अवलम्बित थी और उसमें शरणागति अथवा प्रपत्ति पर जोर था। निम्बार्काचार्य के सनक-सम्प्रदाय की प्रेम लक्षणा भक्ति का मुख्य आधार राधाकृष्ण की उपासना थी और वह हरिवंश-पुराण, विष्णु-पुराण और महाभारत से प्रभावित थी। मध्वाचार्य की कृष्णोपासना और विष्णुस्वामी की गोपालोपासना में मनोवेग के विस्तार के लिये कोई गुंजाइश नहीं थी। इसलिए आगे चलकर इसी कृष्णोपासना को अपना कर वल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु ने उत्तरी भारत में भक्ति-आन्दोलन को एक नई दिशा की ओर मोड़ दिया। जिसका प्रभाव परवर्ती सभी सम्प्रदायों पर पड़ा। जिस प्रकार आचार्य रामानन्द जी से प्रेरणा और शक्ति पाकर रामोपासना की सगुण और निर्गुण धाराएँ प्रवाहित हुईं उसी प्रकार आचार्य वल्लभ और चैतन्य महाप्रभु से स्फूर्ति ग्रहण कर राधाकृष्ण की उपासना के विभिन्न रूप प्रकट हुए।"

भक्ति के विकास में अन्य विचारधाराओं का योग :

उपर्युक्त दार्शनिक विचारधाराओं के अतिरिक्त अन्य अनेक विचारधाराओं का भी भक्ति के विकास में पर्याप्त योग रहा था। वज्रयान, सहजयान, पाशुपत मत, योग-परम्परा, सूफी मत आदि ने भी भक्ति-धारा में कई नई बातों का समावेश किया था। सहजयानी सिद्धों ने भ्रष्टाचारी सिद्धान्तों का खंडन कर एक 'सहज' मार्ग का नारा बुलन्द किया। इन्होंने हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि की विकृत साधना-पद्धतियों का विरोध करते हुए सहज-साधना का प्रचार किया। ये लोग चित्त-शुद्धि पर विशेष बल देकर सहजावस्था की उपलब्धि को ही परम पुरुषार्थ मानते थे। इस प्रकार इन सिद्धों ने जीवन में सदाचार, चित्त-शुद्धि तथा निर्मल चरित्र को बहुत महत्त्व देकर विभिन्न साधना-मार्गों में छाए भ्रष्टाचार, आडम्बर आदि का विरोध किया था। कबीर आदि सन्त-कवियों पर इस 'सहजयान' का गहरा प्रभाव पड़ा था।

अद्वैतवाद का प्रभाव :

हमारे सन्त-कवियों पर अद्वैतवाद का भी गहरा प्रभाव था। उनका-ज्ञान

और उपदेश अद्वैत पर आधारित है। ये लोग माया की सत्ता और जीव-ब्रह्म की एकता स्वीकार करते हैं। इस एकता में माया बाधक है। ज्ञान द्वारा इस माया का नाश किया जाता है। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ये लोग विशिष्टाद्वैतियों की भक्ति-भावना को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी द्वैत-भावना को नहीं। इन पर बौद्धों के शून्यवाद का तथा सहजयानियों के सहज-मार्ग का प्रभाव सिद्धान्तों की इसी एकता के आधार पर स्पष्ट होता है।

सूफी मत का प्रभाव :

सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद ने भक्ति-धारा को बहुत-कुछ प्रभावित किया है। सन्तों के नीरस ब्रह्मवाद पर सूफी प्रेमवाद का प्रभाव पड़ने से उसमें सरसता आ गई थी। हठयोगियों के नाथपंथ का भी भक्तिधारा के सन्तों पर काफी गहरा प्रभाव था। उन्होंने हठयोग को ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बना लिया था। परन्तु ये सारे प्रभाव गौण ही रहे। भक्ति की सरस धारा में इनका योग-दान अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। भक्ति की धारा का वास्तविक विकास तो रामानन्द और वल्लभ स्वामी के प्रचार-प्रयत्न द्वारा ही हुआ था। और उसमें भी सगुण भक्ति-धारा निर्गुण भक्तिधारा की तुलना में अधिक व्यापक और प्रभावशाली रही। निर्गुण भक्तिधारा अपनी नीरसता के कारण साहित्य के सरस क्षेत्र को अधिक प्रभावित न कर सकी। सूर और तुलसी सगुण भक्तिधारा के सबसे समर्थ और प्रभावशाली भक्त-कवि हुए।

सगुण भक्ति के दो रूप :

सगुण भक्ति धारा रामभक्ति और कृष्णभक्ति के दो रूपों में विभक्त होकर प्रवाहित होती रही। विकास की दृष्टि से इन उप-सम्प्रदायों का महत्त्व गौण है। क्योंकि ये भक्ति के मूल स्वरूप को नहीं बदल सके। भक्ति का स्थूल रूप प्रारम्भ से लेकर आज तक लगभग एक-सा ही रहा है। उसका साध्य आज भी वही है जो प्रारम्भ में था। हाँ, साधनों में अवश्य थोड़े-बहुत भेद और परिवर्तन होते चले आए हैं।

इस भक्तिधारा ने हिन्दी-साहित्य को गहरे और व्यापक रूप से प्रभावित किया है। भक्ति-काल का हिन्दी-साहित्य तो पूर्ण रूप से इसी से प्रभावित रहा

है। इसका महत्त्व इसी बात से आँका जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य का भक्ति काल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग माना जाता है। सूर और तुलसी इस भक्ति-साहित्य के सर्वाधिक सशक्त और समर्थ प्रतिनिधि हैं। भक्ति का यह विवेचन तुलसी-साहित्य को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। बिना इसे समझे तुलसी-साहित्य को समझना असम्भव है।

प्रश्न ३—अन्तः साक्ष्य एवं बाह्य साक्ष्य के आधार पर तुलसी की जीवन-सम्बन्धी सामग्री पर विचार कीजिए।

उत्तर—महाकवि रामभक्तशिरोमणि तुलसीदास की जीवनी के सम्बन्ध में कई वर्षों से गवेषणापूर्ण कार्य हो रहा है परन्तु अभी तक उनके सम्बन्ध में कोई निश्चित सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। उनके ग्रन्थों में कुछ जीवन-सम्बन्धी घटना-बिन्दु प्राप्त होते हैं, परन्तु वे भी परिचय के रूप में उद्धृत नहीं जान पड़ते। केवल निराश हृदय के भावों और दैन्य-प्रकाशन के लिए व्यक्त किए गये हैं। अपनी कविता में कवि ने अपने व्यक्तित्व का जो चित्र चित्रित किया है वह स्पष्टतः ही प्रामाणिक सिद्ध होता है। जनश्रुति और बाह्यसाक्ष्य में अतिशयोक्ति की सम्भावना रहती है। कवि के काव्य-सौष्ठव को देखकर सहृदय जन प्रशंसा और श्रद्धा के सूत्र में बँध जाते और लौकिक और दैविक शक्तियों का ताना-बाना उसके जीवन के चारों ओर बुन देते हैं। इससे जीवन सम्बन्धी जो बाह्य साक्ष्य उपलब्ध होते हैं वे अप्रामाणिक और असत्य प्रतीत होते हैं। जन-श्रुतियाँ भी प्रायः अंशतः ही प्रामाणिक होती हैं। तुलसी-दास के जीवन-सम्बन्धी अन्तःसाक्ष्य की सामग्री का आधार कवितावली, बाहुक और विनय-पत्रिका हैं। इनके पश्चात् मानस, दोहावली, रामाज्ञा प्रश्न, पार्वतीमंगल और बरवै रामायण उनके जीवनवृत्त-सम्बन्धी तथ्यों को स्पष्ट करते हैं। उनके अन्य ग्रन्थों में जीवन-सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होती।

तुलसी के जन्मकाल के सम्बन्ध में उनके किसी भी ग्रन्थ में कोई विवरण नहीं मिलता। जनश्रुति तथा अन्य बाह्य साक्ष्यों के अनुसार उनकी माता का नाम हुलसी और पिता का नाम आत्माराम दूबे था। उन्हें बाल्यावस्था में ही माता-पिता की प्यार भरी गोद से विलग होना पड़ा और जीवन का प्रभात तुरन्त ही तमोमयी सन्ध्या में परिवर्तित हो गया। घर भर में केवल एक वृद्धा

दादी ही रह गई थी। उच्च-कुल में अवतरित होने पर भी तुलसी आत्म-ग्लानि के वशीभूत होकर अपने को 'मंगन' कुल का बताते हैं। आरम्भ में ये 'तुलसी' के नाम से ही सुशोभित थे, और कदाचित् वैराग्य धारण करने के पश्चात् इन्होंने अपना नाम तुलसीदास कर लिया हो। प्रायः राम का नाम लेते रहने के कारण इनका नाम रामबोला भी पड़ गया था, यह विनयपत्रिका से स्पष्ट होता है। जाति से ये निर्विवाद रूप से ब्राह्मण थे। परन्तु इनका सम्बन्ध ब्राह्मणों की किस उपजाति से था, यह विवादग्रस्त है। श्री सुधाकर द्विवेदी और डा० ग्रियर्सन ने उन्हें सरयूपारीण ब्राह्मण सिद्ध किया है। मिश्र बन्धुओं के अनुसार वे कान्यकुब्ज और 'वार्ता' के अनुसार सनाढ्य ब्राह्मण थे, जिसकी पुष्टि विनयपत्रिका की निम्न पंक्ति से की गई है—

"दियो सुकुल जन्म शरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।"

इसके अनुसार उन्हें सुकुल (शुक्ल) कहा गया है जो सनाढ्यों का एक गोत्र है। जीवन के उषाकाल में ही माता-पिता से वंचित होकर ये अनाथावस्था को प्राप्त हो गये। इसी कारण इनका बाल और किशोर जीवन दरिद्रता की दलदल में व्यतीत हुआ। उनके लिए तो चार चने भी चार फलों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के समान थे। बाल-जीवन भिक्षा माँगकर यापन करने के कारण ही सम्भवतः तुलसी ने अपने को 'मंगन' कहा है। इसी समय उनके दीक्षा-गुरु से उनकी भेंट हुई, जिन्होंने शूकरक्षेत्र में रामकथा का गान किया। परन्तु उस समय अज्ञानावस्था होने के कारण तुलसी उसका कोई महत्त्व न जान सके। इस प्रकार उनका जीवन बराबर अस्त-व्यस्त ही रहा। उन्हें पग-पग पर दरिद्रता और अपमान की पंकिलता में फँसना पड़ा—

बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को।

इसी समय इनका पाणिग्रहण संस्कार हुआ और इनका भावुक हृदय अपनी पत्नी दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली की ओर आकृष्ट होकर उत्कट रूप में आसक्त हो गया। दाम्पत्य जीवन पन्द्रह वर्ष तक सुखमय रहा और फिर सुख भी काल-कवलित हो गया। एक बार रत्नावली के मायके चले जाने पर तुलसी उस कठिन विरह को सहन न कर सके और विवश होकर मेघाच्छन्न

रात्रि के निविड़ अंधकार में ही चढ़ी हुई नदी को तैर कर पार किया और मिलन की सुखद कल्पनाओं में डूबे हुए स्त्री के पास जा पहुँचे। प्रेम ही हृत्-तंत्री को झनकार कर उन्हें पत्नी की ओर खींच लाया था। रत्नावली ने उनके इस प्रेमाधिक्य पर व्यंग्य करते हुये उस दिव्य प्रेम की ओर संकेत किया जो जीव को भव-सागर से पार कर देता है—

लाज न आवत आपको दौरे आएहु साथ।
धिक-धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहों मैं नाथ॥
अस्थि चर्ममय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
होती जो कहुँ राम में, होति न तो भव भीति॥

इस फटकार से उनके हृदय-तल में गुरु-द्वारा बोये हुये आध्यात्मिक संस्कार के अंकुर प्रस्फुटित हो उठे। स्त्री की हृदय-विदारक और मर्मभेदी वाणी से चोट खाकर ये जीवन की ओर से विमुख और विरक्त हो गये और राम-भक्ति के पथ का अनुसरण करने लगे। इनके विवाह के सम्बन्ध में अनेक समालोचकों का अनुमान है कि "मेरे ब्याह न बरेखी" और "काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब" के आधार पर इनका विवाह नहीं हुआ था। परन्तु 'मेरे ब्याह न बरेखी' का यह तात्पर्य नहीं कि 'मेरा ब्याह या बरेखी' नहीं हुई वरन् 'मेरे यहाँ तो न ब्याह ही होना है और न बरेखी ही' क्योंकि किसी की बेटी से अपना बेटा तो ब्याहना नहीं है। फिर विनय-पत्रिका का यह पद—

लरिकाई बीतो अचेत चित, चंचलता चौगुनो चाय।
जोबन जर जुवति कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥

स्पष्ट घोषित करता है कि उनका विवाह हुआ था। रत्नावली की व्यंग्य भरी वाणी से और जीवन की कटुता और क्षणभंगुरता से प्रभावित होकर तुलसी वैरागी बन गये थे। इन्होंने वैराग्य-दशा और पर्यटन का अपने ग्रन्थों में विशेष रूप से वर्णन किया है। राम-कथा, जो इन्होने शूकरक्षेत्र में सुनी थी, आगे जाकर पल्लवित हुई और इन्होंने चित्रकूट, अयोध्या, काशी, सोतावट आदि तीर्थों की यात्राएँ कीं और सत्संग एवं शास्त्र अध्ययन द्वारा अपने ज्ञान का विस्तार किया। उनकी राम भक्ति की भावना दृढ़ से दृढ़तर होती गई और उनके राम-सम्बन्धी ज्ञान में विकास होता गया। यद्यपि वे दुर्दिनों और दुर्जनों

से घिरे थे और पीड़ा से उनका शरीर जर्जर था, तो भी उनका आत्म-विश्वास बड़ा उच्च कोटि का था और वे भगवान राम को ही एकमात्र आराध्य मानकर अपना सब-कुछ उन्हें ही अर्पण कर चुके थे। उनकी आत्मा में अभूत-पूर्व शक्ति तो आ गई थी परन्तु उन्हें जीवन की तत्कालीन परिस्थितियों से असन्तोष था। वितंडावाद की सृष्टि हो रही थी और जीविकोपार्जन करना कठिन हो गया था। इन्होंने समाज, धर्म और नीति आदि सभी की नाड़ी की प्रत्येक गति का कुशल वैद्य की भाँति अध्ययन किया था। ऐसे महात्मा की आत्मा ऐसी परिस्थिति में समाज, धर्म और राजनीति का आदर्श उपस्थित करने के लिये तड़प उठी। इसी कारण से उन्होंने अपने समय की परिस्थिति का अत्यन्त सुन्दर चित्र अङ्कित किया है—

जीविका विहीन लोग, सीद्यमान सोच बस।
कहैं एक एकन सौं, "कहाँ जायँ का करी॥" इत्यादि।

तुलसीदास ने सम्वत् १६३१ में 'मानस' की रचना की, जब सम्वत् (१६४३) में 'पार्वती-मंगल' और 'रुद्रबीसी' के बीच 'कवितावली' के कुछ कवित्तों की रचना की। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की रचना-तिथि का उल्लेख तुलसी ने नहीं किया है। 'मानस' जैसी लोक-प्रसिद्ध रचना के कारण तुलसी का यश सभी स्थानों में व्याप्त हो गया था। 'रामचरितमानस' जैसे श्रेष्ठतम ग्रन्थ की रचना करने पर भी अपने को कवित्व-विवेक से हीन और कला तथा विद्या से रहित कहना तुलसीदास जी की महानता ही सिद्ध करता है--

कवि न होंउ नहिं बचन प्रवीना, सकल कला सब विद्या हीना।
कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिख कागद कोरे॥

इस प्रकार तुलसीदास जी ने अपना जीवन एक विरागी और संसार-त्यागी महात्मा के रूप में आरम्भ किया था, परन्तु जीवन की कटुता और पीड़ित समाज के सन्ताप-सागर की उत्ताल तरंगों से उनका हृदय इतना विकम्पित हो उठा था कि वे आत्म-बोध के लिए की गई साधना को लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के लिये प्रतिष्ठित कर गये। उन्होंने जीवन के कण्टकमय मार्ग को पार किया और 'सियाराम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी' की टेक

निभाई और भारत की मृतप्राय: जनता को रामरसायन का पान कराकर युग-युग के लिए अमर हो गए। परन्तु वे स्वर्ग-लोक को कब सिधारे इस विषय में कोई निश्चित उल्लेख नहीं मिलता। तुलसी का यह जीवन अन्त: साक्ष्य की भित्ति पर आधारित है। बाह्य साक्ष्य के आधार पर उनका जीवनवृत्त उनके समकालीन और परवर्ती लेखकों ने भी चित्रित किया है, परन्तु यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इन लेखकों ने या तो तुलसीदास के काव्य की प्रशंसा की है अथवा उनकी भक्ति की। कवि के जीवन पर यथेष्ट रूप से विवेचन किसी ने नही किया है। जो कुछ सामग्री उपलब्ध होती है वह भक्ति के दृष्टिकोण से ही मिलती है।

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, भक्तमाल, गोसाईं चरित, तुलसी चरित और भक्तमाल की टीका में तुलसी सम्बन्धी जो उद्धरण उद्धृत किये गये हैं उनसे स्पष्ट होता है कि तुलसीदास नन्ददास के बड़े भाई थे। राम के अनन्य भक्त थे और उन्होंने काशी में रह कर रामायण की रचना अवधी भाषा में की थी। वेणीमाधवदास के 'गोसाईं चरित' में तुलसीदास का जीवनवृत्त आरम्भ से लेकर अन्त तक तिथियों तथा घटनाओं के आधार पर लिखा गया है।

इस ग्रन्थ के अनुसार तुलसी का जन्म १५५४ में श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुआ था, जिसके अनुसार तुलसी की आयु १२६ वर्ष की ठहरती है। इतना विस्तृत जीवन यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में अनेक विवाद प्रचलित हैं। कवि की कृतियों में भी कोई ऐसा साक्ष्य नहीं मिलता जिससे किसी निश्चित तिथि का प्रमाण मिल सके। 'राममुक्तावली' की एक पंक्ति के अनुसार स्वर्गीय जगन्मोहन वर्मा का अनुमान है कि तुलसी १२० वर्ष तक जीवित रहे और उनकी जन्मतिथि १५६० होनी चाहिए। परन्तु उनकी शैली, विचारधारा और छन्द योजना आदि के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि यह गोस्वामी जी की कृति नहीं है।

एक जन्मश्रुति के साक्ष्य पर 'मानस मयंक' का लेखक तुलसी की जन्मतिथि १५५४ मानती है। यदि इसी तिथि को प्रामाणिक माना जाय तो 'रामचरित-मानस' के आरम्भ (सम्वत् १६३१) के समय कवि की अवस्था ७७ वर्ष की ठहरती है। परन्तु इस तिथि को प्रामाणिक नहीं माना गया है। अतएव

१५५४ में कवि का जन्म होना असम्भव है। विलसन के अनुसार कवि के 'रामचरितमानस' का प्रणयन ३१ वर्ष की अवस्था में आरम्भ हुआ। इसके अनुसार इनकी जन्मतिथि १६०० सम्भावित है। परन्तु यह तिथि भी असम्भव जान पड़ती है। ग्रियर्सन ने जनश्रुति की अपेक्षा किसी दृढ़तर प्रमाण के आधार पर कहा है, "सबसे अधिक विश्वस्त विवरणों से यह बात स्पष्टतः प्रतीत होती है कि कवि का जन्म १५८१ में हुआ था।" श्री रामगुलाम द्विवेदी भी इसी तिथि को प्रामाणिक मानते है। इस विचार के लिये एक महत्त्वपूर्ण समर्थन तुलसी साहिब हाथरस वाले के आत्मोल्लेखन में मिलता है, जब वह कहते हैं कि अपने पूर्व जन्म में जब उन्होंने अपने रामचरितमानस की रचना की थी, उनका जन्म सं० १५८९ भादों सुदी १३ मंगलवार को हुआ था। यह तिथि गणना से शुद्ध ठहरती है। सम्भवतः यह किसी परम्परागत साक्ष्य के आधार पर दी गई हो। इस तिथि को मानने में कोई असम्भावना भी दिखाई नहीं देती, अतएव यही तिथि कवि की जन्मतिथि मानी जा सकती है।

कवि के जन्म-स्थान के विषय में भी अनेक विवाद प्रचलित हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तुलसी का जन्म राजापुर में हुआ था और कुछ के मतानुसार सोरों ही इनकी जन्मभूमि थी। दोनों पक्षों द्वारा उद्धृत साक्ष्यों के आधार पर यह निश्चित करना कठिन है कि दोनों में से कौनसा स्थान उस पुनीत पद का अधिकारी है। यह तो निश्चित ही जान पड़ता है कि गोस्वामी जी राजापुर में बहुत काल तक रहे और उन्होंने कदाचित् उसी सूकर क्षेत्र की यात्रा की थी जो सोरों कहलाता है। इस सम्बन्ध में अभी गवेषणापूर्ण कार्य हो रहा है परंतु अभी तक किसी निश्चित साक्ष्य का पता नहीं चला है। जितनी भी सामग्री अब तक उपलब्ध हुई है, उसकी परीक्षा करने मे तुलसीदास का जन्म सोरों में होना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

'गोसाईं चरित' के अनुसार वैराग्य धारण करने के पश्चात् तुलसी ने १५ वर्ष तक तीर्थ यात्रा और पर्यटन किया और अन्त में चित्रकूट में अपना निवास-स्थान निर्धारित किया। यहीं पर इन्हें प्रेत दर्शन हुए, जिसकी सहायता से इन्होंने हनुमान और राम के दर्शन किये। १६१६ में यहीं इनका सूरदास से मिलन हुआ। इसके पश्चात इन्होंने राम और कृष्ण सम्बन्धी पदों की रचना की और

उन पदों को सम्वत् १६२८ में 'राम-गीतावली' और 'गीतावली' के नाम से संग्रहीत किया। तत्पश्चात् काशी-गमन किया, और शिव ने दर्शन देकर इन्हें राम-कथा लिखने के लिये प्रेरित किया। अतः अयोध्या में आकर १६३१ में 'रामचरित मानस' की रचना की। फिर इन्होंने 'रामावली', 'रामलला नहछू', 'पार्वती मंगल', 'जानकी मंगल' आदि ग्रन्थों की रचना की। इसके पश्चात् १६६६ में 'बाहुक' और 'वैराग्य-संदीपिनी' की रचना की। संवत् १६७० में जहाँगीर तुलसीदास के दर्शनार्थ काशी आया और उनको धन-सम्पन्न करना चाहा, परन्तु तुलसीदास ने अस्वीकार कर दिया। अन्त में सम्वत् १६८० में गङ्गा तीर असीघट में तुलसीदास ने श्रावण कृष्णा ३, शनिवार को महाप्रस्थान किया—

संवत सोलह सौ असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

इस प्रकार तुलसीदास के जीवन सम्बन्धी तीन साक्ष्य उपलब्ध होते हैं—अन्तःसाक्ष्य, बाह्यसाक्ष्य और जनश्रुति। इनमें सबसे अधिक प्रामाणिक अन्तः साक्ष्य है, कारण उसमें कवि की स्वकथित सामग्री मिलती है। जनश्रुति एक प्रकार से अप्रामाणिक है, क्योंकि वह समय के प्रवाह के साथ परिवर्तित होती रहती है। बाह्यसाक्ष्य में भी बहुत-सा प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है यदि वह अनेक घटनाओं से समर्थित हो। तुलसी सम्बन्धी आज के गवेषणापूर्ण कार्य में जब तक कोई अन्तिम परिणाम उपलब्ध नहीं होता तब तक अन्तः-साक्ष्य की सामग्री को ही प्रामाणिक माना जाना चाहिए।

प्रश्न ४—तुलसीदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में इधर जो नवीन सामग्री प्रकाश में आई है उस पर विस्तृत रूप से विचार करते हुये अपनी सम्मति प्रकट कीजिये।

उत्तर—रस-सिद्ध कवीश्वर तुलसीदास जी ने इस जगत में प्रादुर्भूत हो कर किस पुण्य-स्थली को सुशोभित किया, इस सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित और प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हुई है। उनका सम्पूर्ण जीवन सम्बन्धी विवरण ही एक प्रकार से अप्रामाणिक सामग्री से पूर्ण है। कारण, कवि की कृतियों में कोई भी ऐसा उल्लेख अथवा अन्य प्रकार का साक्ष्य नहीं

मिलता, जिससे उसके जीवनवृत्त अथवा उसके किसी विशेष अंश पर प्रकाश पड़ सके। ऐसी अवस्था में बहिर्साक्ष्य और उसकी पुष्टि में जो अन्त:साक्ष्य उपलब्ध होता हो, उसी पर आश्रित रहना पड़ता है। तुलसी के जन्मस्थान के विषय में विशेष रूप से राजापुर और सोरों के पक्ष में अलग-अलग प्रमाण दिये गये हैं। राजापुर निवासी रामबिहारी शुक्ल ने राजापुर-पक्ष के तर्कों का उल्लेख किया है।

ठाकुर शिवसिंह सेंगर, पंडित राम गुलाम द्विवेदी और मानस के अनेक टीकाकारों ने तुलसी का जन्मस्थान राजापुर को ही माना है। ये लेखकगण तथा टीकाकार तुलसी के समसामयिक नहीं थे, फलत: इनका कथन तभी सत्य माना जा सकता है जब वह किसी पुष्ट आधार पर आधारित हो। अत: जन्म-स्थान सम्बन्धी उनका उल्लेख किस प्रमाण की भित्ति पर आधारित है, यह अज्ञात है, इसलिए उसे पूर्ण रूप से निश्चयात्मक नहीं माना जा सकता।

राजापुर में उपाध्याय (सरयूपारीण) ब्राह्मणों का एक वंश है। उस वंश के लोग अपने को गोस्वामी जी के शिष्य श्री गणपति उपाध्याय का वंशज बताते हैं। इस वंश के पंडित मुन्नीलाल उपाध्याय, जिनके पास गोस्वामी जी की 'मानस' की पाण्डुलिपि है, के यहाँ दो तीन पुराने कागज-पत्र जीर्ण अवस्था में प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक तो पन्ना के राजा श्री हिन्दूपति की सनद है, और दूसरा एक जीर्ण-शीर्ण कागज है जिस पर उर्दू लिपि में सनद लिखी हुई है। जिसके बाएँ हाशिये पर एक इबारत लिखी है, जिससे गोस्वामी जी के राजापुर में जन्म लेने का परम्परागत लोक-विश्वास पुष्ट होता है।

इस विश्वास की पुष्टि 'श्रीरामचरितमानस' में भी मिलता है। अयोध्या काण्ड के 'तापस-प्रसङ्ग' में जिस समय भगवान प्रयाग से चलकर यमुना पार करके आगे बढ़ते हैं, उस समय—

सुनत तीर बासी नर-नारी। धाये निज-निज काज बिसारी।

सुनि सविवाद सकल पछिताहीं। रानी राम कीन्ह भल नाहीं॥

यहीं पर ग्राम-वासियों की बात अपूर्ण रह जाती है और तापस-वर्णन प्रारम्भ हो जाता है—

जब तक वह यमुना पार करके कवि के जन्म-प्रदेश में पदार्पण नहीं करते। यमुना पार करने के समय ही राम ने बटुकों को विदा किया और यमुना पार करने के बाद ही निषादराज को विदा किया। यहाँ तक मार्ग के ग्रामवासी नर-नारियों में कवि ने समवेदना का विशेष उद्रेक नहीं किया है। इसके पश्चात् वन-पथ पर राजकुल के निर्वासित ये सदस्य अवश्य ही समवेदना के पात्र बन गए थे। फलतः इस प्रकार के समवेदनातिरेक से यह निष्कर्ष निकालना कि जन्मभूमि के अनुराग से ही गोस्वामीजी ने ग्रामवासी स्त्री-पुरुषों का मार्मिक और अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन किया है, युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता।

अन्तः साक्ष्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने गोस्वामी जी का जन्मस्थान सोरों माना है। 'सुकवि सरोज' के प्रणेता पं० गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' ने यह सिद्ध किया है कि गोस्वामीजी का जन्मस्थान सोरों ही था। उन्होंने प्रमाण उद्धृत करते हुए स्पष्ट किया है—

अयोध्या, चित्रकूट, काशी आदि अनेक स्थानों का गोस्वामीजी ने भ्रमण किया था, किन्तु अपने जन्मस्थान (सोरों) से जब से गये फिर नहीं आये। और यह स्वाभाविक भी है। इससे स्पष्ट है कि तुलसी की जन्मभूमि सोरों ही थी, राजापुर नहीं।

रामनरेश त्रिपाठी ने भी तुलसी का जन्म-स्थान सोरों ही माना है। उन्होंने तुलसीदास की कविता में प्रयुक्त कुछ विशेष शब्दों और मुहावरों को (जो सोरों में बोले जाते हैं) उद्धृत कर तुलसीदास की जन्मभूमि सोरों ही मानने के प्रमाण उपस्थित किए हैं। तुलसी ने 'कवितावली', 'गीतावली', 'दोहावली' और 'विनय-पत्रिका' में बहुत से ऐसे शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया है जो सोरों में विशेष रूप से प्रचलित हैं।

ब्रज और उसके समीपवर्ती जिलों में भौंरा और चकडोरी खेलने की प्रथा प्रचलित है। सोरों में इसका बड़ा प्रचार है। 'गीतावली' में आये हुए 'खेलत अवध खोरि गोली भौंरा चकडोरि' से यह अनुमान सिद्ध हो जाता है कि तुलसीदास का जन्म ऐसे स्थान में हुआ था जहाँ भौंरा और चकडोरी का खेल प्रचलित था। तुलसीदास ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार के बहुत से शब्दों का प्रयोग किया है जो सोरों और उसके पश्चिमी प्रान्तों के हैं। सोरों ब्रज,

तेहि अवसर तापस एक आवा। तेज पुंज लघु बयस सुहावा॥
कवि अलखित गति वेष विरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥
सजल नयन तन पुलकि निज, इष्ट देव पहिचानि।
परेउ दण्ड जिमि धरनि तल, दसा न जाय बखानि॥

इसके पश्चात् फिर ग्रामवासियों का पश्चाताप-युक्त कथन चलता है—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन पठए बन बालक ऐसे॥ आदि

अयोध्या से यमुना पहुँचने तक तुलसीदास जी कहीं भी इस प्रकार भाव-तरंगों में रसमग्न नहीं हुए जिस प्रकार जमुना के पार करने पर हुए। इसी प्रदेश में राजापुर है और जन्मभूमि के अनुराग से ही गोस्वामी जी ने ग्रामवासी स्त्री-पुरुषों आदि का मार्मिक और अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन अपनी अलौकिक अनभूति से इसी प्रदेश से सम्बन्धित किया है। वे लिखते-लिखते तन्मय हो गये और अपने जन्मप्रान्त में प्रभु-दर्शन का अवसर प्राप्त होने पर ग्रामवासियों के बीच भावना रूप में स्वयं भी पहुँच गए और भगवान से मिलने की-सी अनुभूति का सुख प्राप्त कर विभोर हो गए। ऐसा वर्णन करके तुलसी ने अपना राजापुर-प्रेम प्रदर्शित किया है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि राजापुर में ही भक्त गोस्वामी जी ने जन्म लिया था।

परन्तु सनद प्राप्त होने से यदि यह मान लिया जाय कि गोस्वामी जी के शिष्य का वंश राजापुर में चलता रहा, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका जन्म भी राजापुर में ही हुआ था। क्या यह सम्भव नहीं कि उनका जन्म किसी अन्य स्थान में हुआ हो और जीवन की कोई लहर, जिस प्रकार वह आगे उन्हें काशी ले गई, कभी उन्हें राजापुर खींच लाई।

इसके अतिरिक्त 'तापस-प्रसंग' से यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त प्रदेश में जन्मभूमि होने के कारण ही कवि ने इष्टदेव की अभ्यर्थना वहाँ की। क्या अपनी तपोभूमि मात्र होने के नाते ही वह इस प्रकार की अभ्यर्थना अपने इष्ट-देव की नहीं कर सकते थे? और फिर तपोभूमि से जन्मभूमि होना सिद्ध नहीं होता।

राजापुर के पक्ष में एक तर्क यह भी है कि गोस्वामी जी उस समय तक ग्रामवासी स्त्री-पुरुषों में रामादि-सम्बन्धी सहानुभूति वार्तालाप नहीं कराते

राजपूताना, पंजाब, काठियावाड़ और गुजरात निवासियों का मुख्य तीर्थ स्थान है, इससे सोरों की बोली में उन प्रान्तों के अनेक शब्द स्वभावतः मिल गये हैं।

एक जनश्रुति यह भी है कि तुलसीदास गंगा पार करके अपनी ससुराल गये थे। राजापुर में गंगा नहीं है, यमुना है। एक तर्क यह भी विचारणीय है कि राजापुर से विरक्त होकर चले हुए तुलसी फिर उसी गाँव में किस प्रकार आकर रह सकते थे? सोरों के पक्ष में यह बात विशेष रूप से समर्थनकारी प्रतीत होती है कि सच्चे त्यागी की भाँति एक बार सोरों को छोड़ने के पश्चात् तुलसीदास फिर वहाँ लौटकर नहीं गये। अतएव यह निश्चय रूप में उनका जन्म-स्थान प्रतीत होता है।

किसी चरित-लेखक ने राजापुर को, किसी ने तारा को और किसी ने हस्तिनापुर को भी तुलसी का जन्मस्थान माना है। परन्तु इस शंका का समाधान तुलसी की निम्न उक्ति से स्वतः हो जाता है कि वे सूकर खेत के सोरों के पास रहते थे—

'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥

इस प्रकार के स्थानीय प्रयोगों और किवदंतियों के आधार पर गोस्वामी जी को सोरोंवासी सनाढ्य ब्राह्मण सिद्ध किया गया है।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने 'तुलसीदास' के अध्ययन में कवि की जन्मभूमि राजापुर या सोरों थी इस विषय में गवेषणापूर्ण निष्कर्ष निकाला है। उनका कथन है—

"राजापुर की जनश्रुति का अब से कुछ प्राचीनतर रूप तुलसीदास के सोरों के साक्ष्य का अंशतः समर्थन करता है; दोनों स्थानों के साक्ष्यों में अन्तर यह है एक तो सोरों की सामग्री वहाँ के बदरिया गाँव में ससुराल का उल्लेख करती है। और राजापुर की जनश्रुति यहाँ के महवा गाँव में सुसराल होने का उल्लेख करती है, और दूसरे, सोरों की सामग्री कवि की राजापुर-यात्रा का कोई उल्लेख नहीं करती और राजापुर की जनश्रुति के अनुसार कवि सोरों से आकर राजापुर इतने काल तक रहता है कि वहाँ पर एक बस्ती उसके तत्त्वावधान में बस जाती है और उसमें बहुत-सी प्रथाएँ उसके उादेशों का आधार

ग्रहण करके चल पड़ती हैं। इस दशा में थोड़ी देर के लिये सोरों की सामग्री के तथा राजापुर की उपर्युक्त जनश्रुति के साक्ष्य में जहाँ पर अन्तर है वहाँ पर यदि राजापुर की जनश्रुति को माना जाय तो भी सन्त तुलसी साहिब के उल्लेख इसका स्पष्ट विरोध करते हैं। इसलिये यह एक विकट समस्या है कि सोरों के निकटवर्ती प्रान्त में—हाथरस सोरों के निकट ही है—राजापुर जन्म-स्थान होने का प्रमाण मिले और राजापुर और उसके आसपास सोरों जन्म-स्थान होने का प्रमाण मिले। फलस्वरूप दोनों पक्षों के प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर यह कहना कठिन है कि दोनों में कौन-सा स्थान कवि का जन्म-स्थान है, और यह भी सर्वथा असम्भव नहीं कि कोई तीसरा स्थान इस पुनीत पद का अधिकारी हो। यह अवश्य निश्चय प्रतीत होता है कि गोस्वामी जी बहुत समय तक राजापुर रहे थे और यात्रा उन्होंने कदाचित् उसी सूकरक्षेत्र की की थी जो सोरों कहलाता है।"

परन्तु जितनी सामग्री अब तक उपलब्ध होती है, उसका विशद विवेचन और परीक्षण करने से तुलसीदास की जन्मभूमि का निर्धारण सोरों के पक्ष में अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। यहीं पर कविकुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अवतरित होकर लोक-साधना और लोकहित का बीजांकुर बोया था, ऐसा उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर स्पष्ट होता है।

प्रश्न ५—"तुलसी के काव्य में भावपक्ष एवं कलापक्ष का सुन्दर सामंजस्य है।"—उपयुक्त उद्धरण देते हुए इस कथन पर विचार कीजिए।

उत्तर—मनुष्य से भावात्मक सम्बन्ध रखने वाले अनुभवों की आनन्द-प्रदायिनी सुन्दर शब्दमय अभिव्यक्ति को ही काव्य कहते हैं। थोड़ी-सी सामग्री में विस्तृत भावों की अभिव्यक्ति का नाम ही काव्य है। कवि सुन्दरता का पुजारी होता है। उसके लिए तो शिथिल पत्रांक में सोती हुई सुहाग-भरी जुही की कली मलयानिल से प्रेमालाप करती है। आकाश के तारे नर्तकी की नीली साड़ी में सितारों के रूप में दिखाई देते हैं। वह प्रकृति में अलौकिक सौन्दर्यसुषमा पाकर उसके अखिल विस्तार में मानवीय सम्बन्ध जोड़कर उससे

एकाकार हो जाता है। इस तरह एकीकृत होने पर ही तल्लीनता और तादात्म्य की पराकाष्ठा में कवि-हृदय रस-विभोर हो उठता है, जिसमें से अवतरित होती है एक स्वच्छन्द भाव-धारा। यह कविता की स्वच्छन्द भाव-धारा कवि के अलौकिक मानस लोक में अवतरित होती है जहाँ न ऊँच है और न नीच, और न ही पथरीला मार्ग है। वह तो कवि के आत्मविभोर अन्तःकरण के अन्तःस्थल में नित नूतन सौन्दर्य और सुषमा के साथ अवतरित होती है और फिर अतृप्त सहृदय जन उसमें अवगाहन कर अपने को कृत-कृत्य समझते हैं। कविता की भाव-धारा लौकिक जीवन के नीति और नियम से परे एक स्वच्छन्द और सरस वस्तु है, चिरन्तन नूतनता ही शारीरिक सौन्दर्य की भाँति काव्यगत सुषमा का प्राण है और उसकी आत्मा है। 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।' इस नूतनता के बिना शारीरिक तथा साहित्यिक सौन्दर्य की उत्कृष्टता ही सम्भव नहीं। नित्य नूतनता और नवीनता ही वास्तविक सौन्दर्य-सुषमा की प्रतीक है। अंगरेजी के सुप्रसिद्ध कवि कीट्स ने तो सौन्दर्य और सत्य में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। सुन्दर वस्तु में सत्य और सत्य वस्तु में सुन्दर का समावेश होना आवश्यक है। अन्ततोगत्वा सौंदर्य ही सत्य है। यथा—Beauty is truth, truth is beauty. सौंदर्य का प्रसार तो सृष्टि के प्रत्येक प्राणी में विद्यमान रहता है। पक्षी भी घोंसले सजाते हुए पाए जाते हैं, फिर मानव तो सृष्टि का रत्न है और प्रकृति का पुजारी भी। यही कारण है कि वह समयानुसार अपनी भावना को प्रतीक रूप में प्रकट कर कला की सृष्टि करता है। इससे उसे तो आनन्द की प्राप्ति होती ही है, साथ-साथ अन्य सहृदय रसिकों को भी आनन्द का संयोग उपस्थित हो जाता है। हमें कवि-कुलगुरु गोस्वामी तुलसीदास जी की कविता में भी नित्य-नूतन सौंदर्य के दर्शन होते हैं। उनकी कविता का विषय राम है, जिसमें सत्यं, शिवं और सुन्दरं तथा शक्ति, शील और सौन्दर्य का समन्वय पाया जाता है। अतः कवि की सुललित वाणी में इन तीनों का समन्वित रूप स्वाभाविक और सुन्दर रूप में प्रकट हुआ है। भाषा और भावों का सामंजस्य दिखलाने, लोक-संग्रह और मर्यादा के उच्च आदर्श प्रस्तुत करने, नीति के विवेचन और मानवीय प्रकृति के रहस्योद्घाटन में तुलसी की कला अद्वितीय है। उनका 'रामचरितमानस' भक्ति रस से आप्लावित,

सप्त सोपान-विभूषित मानसरोवर है, जिसमें अवगाहन कर सहृदय रसिक और काव्य-मर्मज्ञ मराल अनेक अनमोल मुक्ताओं का चयन करते हैं। इस महाकाव्य में स्थान-स्थान पर पद-लालित्य, भावावेश और रचना-चातुर्य है। मतिराम की नायिका के समान 'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निकर सी निकाई' की भाँति इसमें भी सौन्दर्य का सच्चा स्वरूप मिलता है। जितनी बार पढ़ा जाय नित्य एक नूतनता का अभास होता है। वस्तुतः उनकी कविता ही उनकी भक्ति का प्रतिरूप थी। उनकी भक्ति ही मानों वाणी का आवरण धारण कर कविता के रूप में व्यक्त हुई थी। जब कवि की समस्त मनोवृत्तियाँ एकमुख होकर जाग्रत हो उठती हैं तब कवि-हृदय स्वतः ही भावुक उद्‌गारों के रूप में उन्हें प्रकट करने लगता है। गोस्वामी जी में इस तल्लीनता की पराकाष्ठा थी। वह अपने अंतःकरण की विह्वलता को रोक न सके। उनकी निःशेष मनोवृत्तियाँ रामाभिमुख होकर जाग्रत हो गईं और उन्होंने रामायण का रूप धारण कर लिया। रामायण के आरम्भ में तुलसी जहाँ यह कहते हैं कि—'स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा, भाषा निबन्धमति-मंजुलमातनोति', वहाँ दूसरी ओर उनकी दृष्टि में वही सफल काव्य है जो सुर-सरिता की भाँति सबके लिये हितकर हो, जिसकी भावधारा कवि-हृदय से निःसृत होकर सहृदय पाठकों के रसास्वादन का साधन हो। इसी लिए कवि ने कहा है—

मणि माणिक मुकुता-छवि जैसी।
अहि-गिरि-गज सिर सोहत तैसी॥
नृप किरीट तरुणी-तन पाई।
लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥
तैसेहि सुकवि कबित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

जो कविता एक हृदय से निकल कर दूसरे हृदय में तल्लीनता, उद्विग्नता, सरसता तथा रस-लोलुपता का भावोद्रेक नहीं करती और केवल कला-मात्र ही बनकर रह जाती है, वह सफल कविता नहीं कही जा सकती। इसीलिये तो उन्होंने कहा है—

"जो कवित्त नहीं बुध आदरहिं।
सो श्रम वादि बाल कवि करहिं ।।
कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई ।।"

इसी विशाल धारणा के फलस्वरूप कवि की कला में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का समावेश हो गया है। उसके जीवन के साथ-साथ उसकी कविता भी राममय हो चुकी थी। एक राम को अपना कर उन्होंने सारे जगत् को अपना लिया था। राम के प्रति जिस प्रकार उनका दृष्टिकोण विशाल था उसी प्रकार उसके साथ-साथ उनका काव्य-कौशल भी विस्तृत हो गया। अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों से उनके हृदय का समन्वय हुआ है। उनमें अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति सम्बन्धी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति होने के कारण उन्हें प्रकृति-चित्रण और चरित्र चित्रण में अनुपम सफलता प्राप्त हुई है। परन्तु उसमें रामभक्ति की अनन्यता के कारण समस्त प्रकृति उसके संरक्षण में ही संलग्न दिखाई देती है। पम्पासरोवर का वर्णन करते हुये वे कहते हैं—

"फल भारत नमि बिटप सब, रहे भूमि नियराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि, नवहिं सुसम्पत्त पाइ ।।
सुखी मीन सब एक रस, अति अगाध जल माहिं।
जथा धर्मशीलहिं के दिन, सब सुख संजुत जाहिं ।।"

तुलसीदास ने प्रकृति का परिचय परम्परागत रूप से प्राप्त नहीं किया था, वरन् उनके पास प्रकृति-सुषमा से प्रभावित होने वाला कवि-हृदय था। परम्परा-नुसार प्रकृति-वर्णन उन्होंने वहीं तक किया है जहाँ तक सुरुचि के प्रतिकूल नहीं हो पाया। सीता के वियोग में प्रलाप करते हुए रामचन्द्रजी के इस कथन में—

खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना ।।
कुन्दकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी ।।
बरुन पास मनोजधनु हंसा। गज केहरि नित सुनत प्रसंसा ।।
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माँहो ।।

इस वर्णन में उन्होंने कवि-परम्परा का अनुकरण किया है। उपमान-योजना परम्परा-प्राप्त ही प्रतीत होती है। परन्तु वे इसी से सन्तुष्ट नहीं हुए। उनके

हृदय ने स्वाभाविक रूप से प्रकृति सुन्दरी का रेशमी आँचल पकड़ा और उसके रोमांचकारी स्पर्श का रसास्वादन कर उसको अपनी सुललित वाणी द्वारा व्यक्त किया। उनके विशाल हृदय में जड़ और चेतन—सृष्टि के दोनों अङ्ग—एक ही उद्देश्य की पूर्ति करते हुए उद्भासित होते हैं। प्रकृति की सुषमा उनको सहज ही आकर्षित कर लेती है। पक्षियों का कलरव, जिसमें वे भगवान का गुणगान सुनते हैं, उन्हें आमन्त्रण-सा प्रतीत होता है—

बोलत जल कुक्कुट कल हंसा। प्रभु विलोकि जनु करत प्रसंसा॥
सुन्दर खगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बुलाई॥

प्राकृतिक दृश्यों के यथातथ्य चित्रण की जो क्षमता यत्र-तत्र गोसाईं जी में दिखाई देती है वह अन्यत्र अप्राप्य है। पम्पासरोवर पर जल पीने के लिए आये हुए मृगों के झुण्ड का यह चित्र वास्तव में वस्तु-स्थिति को ठीक सामने उपस्थित कर देता है—

जहँ तहँ पियहिं बिबिध मृग नीरा। जनु उदार गृह जाचक भीरा॥

इस प्रकार बाह्य प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ तुलसी ने मानव-प्रकृति की अन्तर्दशाओं का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण किया है। मृगया करते हुए श्री रामचन्द्र की मूर्ति का चित्रण करते हुए तुलसी ने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है :—

सोहति मधुर मनोहर मूरति हेम हरिन के पाछे।
धावनि नवनि बिलोकनि बिथकनि बसै तुलसी उर आछे॥

मृग के पीछे दौड़ते हुए, बाज छोड़ने के लिए झुकते हुए, मृग के दृष्टि बचाकर भाग जाने पर दूर तक दृष्टि डालते हुए और हार कर परिश्रम जनाते हुए राम का कैसा सजीव और जीता-जागता चलचित्र नेत्रों के सामने आ खड़ा होता है।

बाह्य-प्रकृति से भी अधिक गोस्वामी जी की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति उनके अन्तःप्रकृति-निरीक्षण में दिखाई देती है। मानव-स्वभाव के सर्वाङ्ग से उनका घनिष्ठ परिचय था। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों तथा घटनाओं के जाल में पड़कर मानव-मन की क्या दशा होती है, इससे उनका पूर्ण परिचय था।

इससे उनका चरित्र-चित्रण भी सर्वांग सफल हुआ है। 'रामचरितमानस' में प्राय: सभी प्रकार के पात्रों के चित्रण में तुलसी ने अपना कला-कौशल और सिद्ध-हस्तता दिखाई है। उन्होंने अपने पात्रों का आदर्श सदा ऊँचा ही रखा है जिससे पाठकों को उचित शिक्षा मिले और वे विपथगामी न हो सकें। ऐसा करने से उनके रामचरितमानस में अपूर्व सौन्दर्य और तेज आ गया है। उनके पात्रों का विकास बीज रूप से ही दिखलाई देता है। कोई विशेष उमंग अथवा प्रेरणा पाकर उनके चरित्र में एकदम नवीनता नहीं आ जाती। जिस पात्र का जो स्वभाव अथवा आदर्श प्रस्तुत करना उन्होंने अभीष्ट समझा था उसको कोमल वय में बीज रूप में दिखाकर उसका नैसर्गिक विकास दिखाया है। श्री रामचन्द्र जी का जो स्वार्थ-त्याग बाहुबल से जीता हुआ, न्याय से पाया हुआ और वस्तुत: हाथ में आया हुआ लंका का समृद्ध राज्य बिना हिचक विभीषण को अर्पित करने में दिखाई देता है, वह सहसा उमंग का अथवा किसी प्रेरणाप्रभाव का परिणाम नहीं है। यह तो बाल्यकाल से विकाशोन्मुख होता हुआ स्वभाव है। बाल्यकाल में चौगान खेलते समय छोटे भाइयों से जीतकर भी हार मानने वाले राम में, अन्य पुत्रों की उपेक्षा कर जेठे पुत्र को राज्याधिकार मानने वाली प्रथा को अनुपयुक्त मानने वाले युवा राम में, खुले दिल से राज्य छोड़कर तापस-जीवन व्यतीत करते हुए स्वार्थ-त्याग की यह भावना परिलक्षित होती है।

तुलसी ने रावण का राक्षस रूप प्रदर्शित करते हुए यह सिद्ध किया है कि उसके राज्य में धार्मिक उत्पीड़न, धर्महीन राज्य जिसमें ऋषि-मुनियों से भी कर वसूल किया जाता था, धार्मिक अभिरुचि का अभाव आदि ये भौतिकवाद के द्योतक नियम देश को प्रचण्डता, उद्दण्डता, और विकराल नाश की अग्नि की ओर बढ़ाये लिए जा रहे थे। वह तपस्वी भी था लेकिन इस कामना से कि भौतिक सुखों के भोगने-मात्र के लिए शारीरिक रूप से अमर हो जाए।

हनुमान को गोस्वामी जी ने आदर्श सेवक के रूप में चित्रित किया है। निराशा के घोरतम अन्धकार में जब आशा-शशि विपत्ति के घने बादलों में छिप जाता है तो पवन-पुत्र ही अपने वायु-वेग से मेघाच्छन्न वातावरण को विनष्ट करके आशा-शशि की निर्मल चाँदनी का प्रकाश विकीर्ण करते हैं और

द्रोणाचल पर्वत से संजीवनी बूटी लाकर लक्ष्मण में प्राणों का और राम में आशा का संचार करते हैं। राम के वह आदर्श सेवक हैं। जब-जब उनके ऊपर विपत्ति के बादल छा जाते हैं हनुमान जान पर खेलकर भी सारे कार्य साध देते हैं। इसी प्रकार भरत के हृदय की निस्पृहता, सरलता, निर्मलता, धर्म-प्रवणता उनके सभी क्रिया-कलापों से लक्षित होती है। राम प्रसन्नता से राज्य त्याग करते हैं, कौशल्या अनुरोध करती है और प्रजा भी प्रार्थना करती है परन्तु सिंहासनासीन होना तो दूर रहा, भरत माता के कुचक्रों से रुष्ट होकर उसके साथ अपने को भी बुरा कहते हैं। जब माता ही अच्छी नहीं तब पुत्र कैसे अच्छा हो सकता है? "मातु यदि मैं साधु सुचाली। उर अस आनन कोटि कुचाली।" वे धर्म और मर्यादा की रक्षा के हेतु राम के पास चित्रकूट जाने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ होते हैं। उमड़ते हुए हृदय और वाष्प-गद्‌गद् कण्ठ से भरत के राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट पहुँचने पर राम ने जब अपना धर्म-संकट और मर्यादा से पतित होने का भय प्रकट किया तो उसी धर्म-प्रवणता ने भरत को राज्य-भार स्वीकार करने के लिये बाध्य किया परन्तु इस राज्य-स्वीकृति से भरत ने सुख-वैभव का भोग नहीं किया। हृदय पर वज्र धारण कर राज्य का कार्य-व्यापार चौदह वर्ष तक चलाते रहे। आश्वासन के लिए राज्यासन पर रामचन्द्र की खड़ाऊँ ही आसीन कीं। यहीं पर भरत का आदर्श भ्रातृ-प्रेम और उनका भ्रातृ-सेवा का भाव लक्षित होता है। इसके विपरीत लक्ष्मण द्वारा भी भ्रातृ-स्नेह और भ्रातृ-सेवा का भाव विनम्रता और सरलता से निभाते हुए भी उन्हें उद्दण्ड प्रकृति का चित्रित किया गया है। ये दोनों विरोधी भावनायें विभिन्न अवसर पाकर सदा प्रकट होती रहती हैं। जनक के "वीर विहीन मही मैं जानी" कहते ही वे तमक कर कह उठते हैं—'रघुवंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई, तेहि समाज अस कहइ न कोई।' इस प्रकार तुलसी ने अपने पात्रों को आदर्श-स्वाभाविक रूप में प्रतिष्ठित किया है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श पुत्र आदि सभी पात्र आदर्श की वेदी पर खड़े किये गए हैं। दशरथ अपमानित पिता होकर रहना अच्छा समझते थे, परन्तु राम का वियोग उन्हें असह्य था। फलस्वरूप परिणाम भी वही हुआ, उनके राम के दर्शनों के लिए तड़पते-प्राण तरसते ही रह गये। कितना सजीव और आदर्शपूर्ण चरित्र है।

तुलसीदास जी ने जहाँ मनोवृत्तियों का सूक्ष्म चित्रण किया है वहाँ कविता-कामिनी के हृदय में रसोद्रेक भी किया है। वे केवल भावों के शुष्क मनोवैज्ञानिक विश्लेषक न थे, उन्होंने उनके हलके और गहरे रूपों को एक-दूसरे के साथ संश्लिष्टावस्था में देखा था। रामचरितमानस की विस्तृत भूमि में इन्हीं के स्वाभाविक संयोग से उनकी रसप्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा प्रवाहित करने में समर्थ हुई है। गीतावली काव्य-कला की सबसे मधुर अभिव्यक्ति है। इसमें जहाँ ब्रजभाषा का माधुर्य है वहाँ भावों की कोमलता भी अत्यधिक है। गीतावली में शृंगार रस ही प्रधान है। गीतावली का अन्तिम भाग कृष्ण काव्य से प्रभावित होने के कारण अधिक शृंगारात्मक बन गया है। वसन्त और हिंडोला आदि अवतरणों ने तो शृंगार को और भी अनुरंजित कर दिया है। शृंगार रस के प्रवाह में पाठकों को आप्लावित करने में यद्यपि गुसाईं जी ने कोई अपेक्षा नहीं रखी तथापि उनका शृंगार रस रीतिकाल के शृंगारी कवियों के शृंगार की भाँति कामुकता का नग्न नृत्य न होकर सर्वथा मर्यादित है। शृंगार रस आदि अश्लीलता की परिधि से दूर पवित्रता की उच्च भूमि में कहीं उठा है तो वह गोसाईं जी की कविता में। जहाँ सूरदास जी कहीं-कहीं अश्लीलता के पंक में फँस गए हैं, वहाँ गोसाईं जी ने अपनी कविता को इस दलदल से सर्वथा दूर मर्यादा की वेदी पर खड़ा किया है। उसमें दुर्भावना की गंध तक नहीं आने पाई—

> **"करत बतकही अनुज सन, मन सियरूप लुभान।**
> **मुख सरोज मकरंद छवि, करइ मधुप इव पान॥**
> **देखन मिस मृग विहग तरु, फिरइ बहोरि बहोरि।**
> **निरखि निरखि रघुवीर छवि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥"**

तुलसीदास ने विप्रलम्भ शृंगार का भी विदग्धतापूर्ण वर्णन किया है। उनकी दृष्टि से विरह-प्रसूत दुःख और पीड़ा भाग्यप्रेरित हैं। सीताजी के हरण के समय राम के विलाप में तुलसी का विरह-वर्णन स्पष्टतः लक्षित हो जाता है। करुण रस का उद्रेक राम के वनवासी होने पर और लक्ष्मण के शक्ति लगने पर फूट पड़ता है। राम के वनवासी होने पर शोक की गम्भीर छाया केवल मनुष्यों पर ही नहीं पड़ी, पशु भी विरह की संतप्त अग्नि में जलते-जलते

कृशगात होने लगे हैं। राम को रथ पर बिठाकर जो घोड़े चित्रकूट जाने के हेतु थल से भी अधिक जल पर वायुवेग से भागने लगे थे (राम की कृपा और प्रेम के कारण) वे अब बार-बार सुमंत्र द्वारा चाबुक मारने पर भी थल पर नहीं चलते। बार-बार पीछे की ओर मुड़कर देखते हैं। घोड़ों की व्याकुलता का कितना सजीव चित्र है—

"देखि दखिन दिसिहय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जल, मोचहिं लोचन बारि॥"

घोड़ों की जब इतनी दयनीय दशा थी तब पुरवासियों की, और विशेषकर, कुटुम्बीजनों की क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है।

वीर और वीभत्स रस का उद्गम स्थान लंकाकाण्ड है। शिव-धनुष के भंग होने पर चतुर्दिक जो आतंक छा जाता है, उसमें भयानक रस की अनुभूति होती है—

भरे भुवन घोर कठोर रव रबिबाजि तजि मारगु चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले॥
सुर असुर मुनि कर कान दीन्हें सकल बिकल बिचारहीं॥

'कवितावली' में गोस्वामी जी ने हास्य रस का सुन्दर स्फुरण किया है। वन-यात्रा के समय गंगा पार कराते हुए केवट और राम के संवाद में भक्ति रस और हास्य रस की मनोमुग्धकारी मंजुल धाराएँ प्रवाहित हुई हैं। 'भक्ति' और 'हास' ऐसे दो परस्पर विरोधी भावों का सामंजस्य कवि ने अत्यन्त सुन्दर रूप से किया है। यथा—

एहि घाट तें थोरिक दूर अहै कटि लौं जल थाह देखाइहौं जू।
परसे पग धूरि तरै तरनी घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥
तुलसी अवलम्ब न और कछू लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।
बरु मारिए मोहि बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू॥

फलतः यह प्रगट होता है कि कवि ने अपनी कृतियों में नव-रसों की आनन्ददायिनी धारायें प्रवाहित की हैं। सहृदय रसिक अपनी इच्छानुसार किसी भी धारा में डुबकी लगाकर रसास्वादन करते हैं। कहीं भी यह लक्षित नहीं होता कि गोसाईं जी ने प्रयत्नपूर्वक आलम्बन, उद्दीपन, संचारी आदि का

आयोजन कर रसपरिपाक किया है। प्रबन्ध के स्वाभाविक प्रवाह के भीतर स्वतः ही रस की तलैया बँध गयी है जिसमें मन-भर डुबकी लगाकर ही रसिक तैराक आगे बढ़ता है।

तुलसीदास जी में अनुभूति की गहराई और व्यापकता इतनी अधिक है कि उसकी अभिव्यक्ति में भाव स्वतः सुन्दर और सौष्ठव रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। हृदय के विविध भावों की जितनी गम्भीर व्यंजना तुलसी में मिलती है उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी को काव्य के रूप में उद्विग्न भावों को अभिव्यक्त करने की प्रेरणा रामभक्ति से मिली थी। यह अनुभूति उनके ग्रन्थों में सर्वत्र परिलक्षित होती है। तुलसी ने राम-भक्ति में चातक प्रेम का ही ज्वलन्त उदाहरण लेकर अपने काव्य की सुषमा को उद्दीप्त किया है। उनका राम के प्रति वही अनन्य प्रेम है जो चातक का स्वाँति नक्षत्र के मेघ के प्रति होता है। उन्होंने कहा भी है—

रामचन्द्र चन्द्र तू,
चकोर मोहि-कीजै।

वास्तव में चातक-प्रेम ही उनकी भक्ति का प्रतीक है। इस अनन्य प्रेम की कितनी सुन्दर व्यंजना कवि ने निम्न दोहों में की है :—

**सरग-चंगु गत चातकहिं, नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परवस हाड़ पर, परि है सुरभी नीर॥
बध्यो बधिक पर्‌यो गंगजल, उलटि उठाई चोंच।
धनि-धनि चातक प्रेम-पट, मरतउ लगो न खोंच॥**

मरते समय विवश होकर भी चातक यही चाहता है कि मरने पर भी उसके शरीर का सम्पर्क स्वाँति नक्षत्र के जल को छोड़कर और किसी जल से न हो। प्रेम की कितनी अनन्य तथा अलौकिक व्यंजना है। चातक का यह अनन्य अलौकिक प्रेम वास्तव में सराहनीय तथा ग्राह्य है। यही दशा सच्चे भक्त की भी होती है। वह राम को छोड़कर और किसी का आश्रय नहीं चाहता। सांसारिक ऐश्वर्य तथा विभव उसके लिये निःस्पृहणीय हो जाते हैं। 'राम' ही उसके लिये सब कुछ हैं। वे ही उसके आश्रय, विश्वास और आशा हैं। राम-भक्त राम-भक्ति रूपी सुरसरिता को छोड़कर इस सांसारिक वैभव रूपी ओस-कणों से अपनी

तृषा बुझाने की आशा नहीं रखता। भक्त की यह दीनता तथा आत्मग्लानि आदि भाव 'विनय-पत्रिका' के कोष में भरे पड़े हैं। इसी प्रकार कविवर तुलसी ने मानव-हृदय के अन्य विविध भावों की व्यंजना अपूर्व सफलता के साथ की है। उन्होंने मानव-हृदय की वाटिका के कोने-कोने में विहार किया है। प्रेम, क्रोध, शोक, उत्साह, भय, आश्चर्य आदि अनेक भावों की सुन्दर व्यंजना उनके ग्रन्थों में हुई है।

तुलसी के अनुभूति-पक्ष की व्यंजना तो उनके काव्य-ग्रन्थों में अत्यन्त सुन्दर रूप में हुई ही है, साथ-ही-साथ बाह्य पक्ष अर्थात् अलंकार, गुण, छन्द आदि की गोष्ठी भी अपूर्व सफलता के साथ समादृत है। किसी भी सफल कला का उद्देश्य जीवन की व्याख्या करते हुए उसे किसी उच्च साँचे में ढालने का प्रयत्न करना होता है। भावाभिव्यक्ति में जितनी सरलता और सरसता का आश्रय लिया जाय उतनी ही इस उद्देश्य में सिद्धि होती है। कला के इसी उद्देश्य ने गोस्वामी जी को संस्कृत का सुविख्यात विद्वान् होते हुए भी देववाणी की ममता को त्याग लोकभाषा को अपनाने के लिए बाध्य किया था। जो रामचरितमानस की रामरसायन की धारा केवल पण्डित जनों के हृदय को रसाप्लावित कर रही थी वही अब राजा से लेकर रंक तक, सभी सन्तप्त संसारी पथिकों की अग्नि को शान्त करती रहेगी। अतः उन्होंने भाषा को ही अपने ग्रन्थों के हृदय का हार बनाकर संसार के हृदय का हार बना दिया। कविवर तुलसीदास जी जिस समय साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए उस समय तक अवधी भाषा में काव्य-रचना हो चुकी थी, क्योंकि सूफी कवियों ने उसमें अपनी प्रेम-गाथाओं की रचना की थी। परन्तु यह अवधी का ग्रामीण रूप ही था, वह साहित्यिकता के सौष्ठव से कोसों दूर थी। तुलसीदास ने अवधी में रामचरितमानस की रचना करके अवधी का परिमार्जित और साहित्यिक रूप स्थापित किया और संस्कृत की कोमल-कान्त पदावली का समावेश कर अपूर्व माधुर्य गुण से उसे सुशोभित किया। ब्रजभाषा में भी अत्यन्त सुन्दर रूप में सूरसागर की रचना हो चुकी थी। सूरसागर का दृष्टिकोण तो सीमित था, परन्तु 'मानस' में सम्पूर्ण जीवन को आलिंगन किया गया था। अतः 'मानस' का महत्त्व सूरसागर से कहीं अधिक है। तुलसीदास ने ब्रज भाषा में 'गीतावली', 'कृष्ण-गीतावली',

'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' की रचना कर अपनी प्रतिभा और काव्य-शक्ति का परिचय दिया है। कवितावली की ब्रजभाषा इतनी परिष्कृत और गठी हुई है कि वैसी कृष्ण-काव्य के कवियों से भी नहीं बन पड़ी। भाषा भावों की सदा अनुगामिनी रहती है। भावों के अनुसार तुलसी की भाषा का रूप भी कर्कश और मधुर हो जाता है। मधुर भावों की व्यंजना में भाषा भी कठोर हो जाती है। यथा—कर्कश भावानुकूल भाषा—

कतहुँ विटप भूधर उपारि सरसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मद्दि गजराज करक्खत॥
चरन चोट चटकन चकोर अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥

तथा मधुर भावानुकूल भाषा—

कंकन किंकन नूपुर धुनि सुनि,
कहत लखन सन राम हृदय गुनि
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्ही,
मनसा विश्व विजय कर लीन्हीं॥

इस प्रकार तुलसीदासजी की रचनाओं में भावों का प्रकाशन इतने कौशल से किया गया है कि उसमें प्रयत्न-प्रसूत अलंकारों की आवश्यकता नहीं रहती। उनकी कविता-कामिनी का रूप तो स्वाभाविक रूप से ही मोहक था तो फिर उसमें अलंकारों के जड़ने की क्या आवश्यकता थी। सरल, स्वाभाविक और विदग्धतापूर्ण वर्णन तुलसी की शैली की विशेषता है। उनकी प्रतिभा इतनी उन्नत है कि उसमें अलंकारों का समावेश स्वाभाविक रूप से ही हो जाता है। तुलसीदास ने एक कुशल कलाकार की भाँति अलंकार रत्नों को सरलता से उठाकर काव्य में रख दिया है। उनका रखना नन्ददास के जड़ने से अधिक श्रेष्ठ है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के अनुसार—"रामचरितमानस की कोई चौपाई भले ही बिना उपमा की मिल जाय, किन्तु उसका कोई पृष्ठ कठिनता से ऐसा मिलेगा, जिसमें किसी सुन्दर उपमा का प्रयोग न हो। उपमाएँ भी अमूल्य रत्न-राशि हैं।" जहाँ अर्थालङ्कारों से भाव-व्यंजना को सहयोग प्राप्त हुआ है वहाँ शब्दालंकारों से भाषा की सौन्दर्य-वृद्धि हुई है। इनकी भाषा में

माधुर्य और प्रसाद गुण होने से भी काव्य-सुषमा में वृद्धि हुई है। छन्दों के प्रयोग में भी तुलसी ने भावों के उपयुक्त प्रकटीकरण की ओर पूर्ण ध्यान दिया है। रसानुकूल ही प्रायः उनकी छन्द-योजना हुई है। वीर, रौद्र आदि रसों की व्यंजना के लिए उनके उपयुक्त छप्पय का, शृंगार के लिए सवैयों का तथा हृदय के मधुर भावों की व्यंजना के लिए गीतों का प्रयोग तुलसी ने प्रायः किया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी काव्य-कला के दोनों पक्षों में चरम सीमा पर पहुँचे हुए हैं। उनके काव्य में भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। इससे उनकी काव्य-कला चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है। तल्लीनता, रस-परिपाक, भाषा-सौन्दर्य, प्रबन्ध-पटुता, अलंकार-योजना आदि जिस दृष्टि से भी तुलसी को देखा जाय, सभी दशाओं में हम तुलसी में काव्य-सौन्दर्य का अन्यतम उत्कर्ष पाते है। उनकी अमर कृतियाँ केवल भारत में नहीं, सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में समादृत हैं। वे हिन्दी के होकर केवल हिन्दुस्तान के ही नहीं रहे, वरन् अपनी कवित्व-शक्ति की प्रतिभा से सम्पूर्ण विश्व के हृदय-हार बन गए हैं। इसलिए उनकी कृतियों में कला को वह उत्कर्ष प्राप्त हुआ है, जिसे देखकर हरिऔधजी की वाणी में अपना स्वर मिलाते हुए विश्वम्भर की पुकार है कि—

> "कविता करके तुलसी न लसे,
> कविता लसी पा तुलसी की कला।"

प्रश्न ६—तुलसीदासजी की रचनाओं का कालक्रम निर्धारित करने में प्रमुख रूप से किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में अपने विचार यथेष्ट विस्तार के साथ प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी की कृति वाटिका में विहार करने से द्वादश-पुष्पों के सौरभ-समीरण से जन-जन का मानस आत्म-विभोर हो उठता है। इस आत्म विस्मृति की दशा के आने पर ही सहृदय जन उन मादक पुष्पों के अन्वेषण के प्रति अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हैं। इस प्रवृत्ति से प्रतिभा सम्पन्न कवि की प्रत्येक परिस्थिति से वह परिचित हो जाते हैं। आदिकाल से ही मानव में जिज्ञासा-प्रवृत्ति उत्पन्न होती रही है और फिर उसके परिणामस्वरूप अन्वेषण-प्रवृत्ति का भी विकास होता रहा है। इस अन्वेषण प्रवृत्ति के कारण

ही आज रहस्यमयी गाथाएँ भी प्रकाश में आती हैं। इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से वन्दनीय गोस्वामी तुलसीदासजी के ग्रन्थ-पुष्पों के गवेषणापूर्ण अध्ययन द्वारा तथा प्रबन्धात्मक और भावात्मक रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस समय या परिस्थिति में अमुक रचना का विकास हुआ। समय और समाज का प्रतिबिम्ब तत्कालीन रचनाओं में अनिवार्यतः प्रतिबिम्बित होता है। कवि की प्रतिभा अपने समय की परिधि में दौड़ लगाती है। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं के अन्तरंग और बहिरंग समीक्षण से कालक्रम के निर्धारण में विशेष सहयोग प्राप्त हो सकता है। ऐतिहासिक खोजों के आधार पर भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनायें पाँच बड़ी और सात छोटी हैं। 'दोहावली', 'कवित्त रामायण', 'गीतावली', 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' दीर्घाकार ग्रन्थ हैं; 'रामलला नहछू', 'पार्वती-मंगल', 'बरवै रामायण', 'वैराग्य संदीपनी', 'कृष्ण गीतावली', 'रामाज्ञा प्रश्नावली' संक्षिप्त काव्य हैं। रामाज्ञा प्रश्न (सम्वत् १६२१) 'रामचरितमानस' (सम्वत् १६३१) 'पार्वती-मंगल' (सम्वत् १६४३) लिखे गये थे। इन तीन के अतिरिक्त अन्य किसी भी रचना में कवि ने निश्चित तिथि का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु केवल इतने से ही जिज्ञासा शान्त नहीं होती। अपने लक्ष्य-प्राप्ति के हेतु अन्य युक्तियों का भी अवलम्ब लेना पड़ता है।

सर्वप्रथम इस पथ पर अग्रसर होने के लिए प्रामाणिक घटनाओं के उल्लेखों द्वारा सहयोग प्राप्त होता है। 'दोहावली' और 'कवितावली' में ऐसी ही घटनाओं का उल्लेख मिलता है। 'दोहावली' में 'रुद्रबीसी' का उल्लेख है जो कि ज्योतिष-गणना से सं० १६५६ से लेकर १६७६ तक के बीच में पड़ती है। 'दोहावली' में केवल दोहों का संग्रह मात्र है। अतएव यह सम्भव नहीं कि उसमें कुछ दोहे ऐसे भी हों जो उन दोहों के पश्चात् रचे गये हों जिनमें 'रुद्रबीसी' का उल्लेख मिलता है। 'कवितावली' में इसी प्रकार उक्त 'रुद्रबीसी' के अतिरिक्त मीन के शनि का उल्लेख है जो गणना के अनुसार सं० १६६९ और १६७१ के बीच में घटित होता है। 'कवितावली' में एक तीसरी घटना 'महामारी' का भी उल्लेख मिलता है; किन्तु महामारी से कवि का आशय नितान्त निश्चित नहीं है; यदि महामारी से कवि का आशय ताऊन से ही है जिसने सं० १६७३

से सं० १६८१ तक देश को पहली बार पदाक्रान्त किया था, तो जिन छन्दों का सम्बन्ध महामारी से है वे इस महामारी के समय के अन्तर्गत कभी न कभी रचे गए होंगे, और यदि किसी दूसरे संक्रामक रोग से कवि का आशय हो, जिसका होना सर्वथा असम्भव नहीं है, तो वे छन्द किसी निश्चयात्मक रूप में सहयोगी प्रतीत नहीं होते। इसलिये यदि प्रथम दो संकेतों पर ही आधारित रहा जाय तो इतना ही कहा जा सक्ता है कि 'कवितावली' में 'दोहावली' की अपेक्षा कदाचित् अधिक निश्चित रूप से कवि की कुछ अन्तिम रचनाएँ हैं।

दूसरी युक्ति जो इस अन्वेषण में सहयोगी प्रतीत होती है, वह है कवि के मृत्यु-पूर्व की हस्तलिखित प्रतियों की खोज। जिन रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ इस रूप में सहायक प्रतीत होती हैं, वे है—'जानकी-मंगल', 'रामलला नहछू', 'विनय-पत्रिका' तथा 'गीतावली'। 'जानकी-मगल' की एक हस्तलिखित प्रति में सं० १६३२ की तिथि दी हुई है। यह उक्त तिथि प्रतिलिपि की तिथि है, क्योंकि न केवल वह मूल पाठ में आती है वरन् मूल पाठ के लेखक की लिखावट में भी नहीं है तो उसकी रचना सं० १६३२ के पूर्व होनी चाहिये; इसी प्रकार 'रामलला नहछू' की एक प्रति सं० १६६५ की प्राप्त हुई है; जो कवि के अतिरिक्त किसी अन्य कवि द्वारा लिखित है। स्पष्ट ही इसकी रचना तिथि सं० १६६५ के पूर्व की होनी चाहिए। 'विनय-पत्रिका' की एक हस्त-लिखित प्रति सं० १६६६ की प्राप्त हुई है। इसकी लिखावट भी किसी अन्य कवि की है तथा यह भी सं० १६६६ के पूर्व की होनी चाहिए।

अन्त में जिस युक्ति का आश्रय लेना पड़ता है, वह है कृतियों का विषय-निर्वाह तथा उनकी शैली का अध्ययन। विषय-निर्वाह और शैली का अध्ययन भी कवि की कुछ अन्य रचनाओं के समय-निर्धारण में सहायता देता है। 'जानकी-मंगल' का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि उसका कथानक-विस्तार कुछ प्रमुख स्थलों पर 'रामचरितमानस' (सं० १६३१) से भिन्न है और इन्हीं स्थलों पर 'रामाज्ञा-प्रश्न' से उसका सादृश्य है। अतः स्पष्ट है कि 'जानकी-मंगल' और 'रामाज्ञा-प्रश्न' में से 'रामाज्ञा-प्रश्न' की अपेक्षा 'जानकी-मंगल' ही विषयानुसार 'रामचरितमानस' के अधिक समीप जान पड़ता है,

इसलिए इसे समयानुसार रामचरितमानस के अधिक समीप होना चाहिए। 'रामलला-नहछू' कवि की सभी उपर्युक्त रचनाओं में से अपूर्ण रचना है, और इसमें ऐसी मर्यादाहीन कामुक प्रवृत्ति का वर्णन हुआ है कि कवि की अन्य रचनाओं का अध्ययन करने के अनन्तर जिन संस्कारों का उद्दीपन हृदय में होता है वे सभी दलित हो जाते हैं। अतः यह कवि की रचना नहीं हो सकती। यदि इसको तुलसी की कृति माना भी जाय तो काल-क्रम से इसको सर्वप्रथम स्थान मिलता है। 'विनय-पत्रिका' का एक पद इस बात को लक्षित करता है कि कवि अपने जीवनान्त के अत्यन्त निकट है। इससे यह स्पष्ट होता है कि इसे कवि की उत्तरकालीन रचनाओं में समझना चाहिए। 'गीतावली' के विषय-निर्वाह से ऐसा प्रतीत होता है कि अंशतः वह 'रामाज्ञा-प्रश्न' से साम्य रखती है और 'मानस' से भिन्न है, अंशतः 'मानस' से मिलती है और 'रामाज्ञा-प्रश्न' से भिन्न है, और अंशतः वह 'मानस' की अपेक्षा कथा-विस्तार में सुधि प्रवृत्ति उपस्थित करने का प्रयत्न करती है। इसीलिये उसका संकलन-काल 'मानस' के पश्चात् मानना चाहिये। 'विनय-पत्रिका' और 'गीतावली' की जो प्रतियाँ कवि के जीवन काल की उपलब्ध होती हैं, उनसे ऐसा परस्पर सापेक्ष्य पाठ प्रस्तुत होता है जो बाद वाली प्रतियों के पाठ से सर्वथा भिन्न है। इससे सिद्ध होता है कि दोनों का संकलन 'मानस' के पश्चात् किसी समय कवि की वृद्धावस्था में हुआ होगा।

'वैराग्य-संदीपनी', 'कृष्ण गीतावली' तथा 'बरवै' रचनाएँ भी शैली और विषय-निर्वाह की दृष्टि से तिथि-निर्धारण करने में सहायक सिद्ध होती हैं। 'वैराग्य संदीपनी' भी 'रामलला-नहछू' की भाँति प्रबन्ध-निर्वाह और शैली की दृष्टि से अपरिपक्व है। छन्दों का प्रयोग भी अपरिपक्व रूप में हुआ है। अतः इस रचना को भी तुलसीकृत मानने में संकोच होता है। यदि इसको तुलसी की कृति माना भी जाय तो यह कवि की प्रारम्भिक काल की रचना हो सकती है। 'कृष्ण गीतावली' के साथ 'गीतावली' का शैली-साहश्य दृष्टि-गोचर होता है। परन्तु विषय-निर्वाह की दृष्टि से वह 'गीतावली' से परिष्कृत और परिमार्जित प्रतीत होता है। इससे यह निर्धारित किया जा सकता है कि 'गीतावली' के कुछ समय पश्चात् ही इसकी रचना हुई होगी। 'बरवै' के कुछ पद कवि की

जीवनान्त की निकटता की ओर संकेत करते हैं। अतएव यह रचना 'विनय-पत्रिका' की भाँति कवि के जीवन के अन्तिम काल की प्रतीत होती है। इसका 'कवितावली' और 'दोहावली' के साथ भी विशेष सादृश्य है। फलतः यह रचना 'विनय-पत्रिका' के कुछ काल पश्चात् की और सम्भवतः 'दोहावली' तथा 'कवितावली' के आसपास संकलित हुई ज्ञात होती है। इस विवेचन-प्रणाली से कवि की कृतियों का रचना-क्रम निम्न रूप से तर्कसंगत प्रतीत होता है—

(१) रामलला नहछू, (२) वैराग्य संदीपनी, (३) रामाज्ञा-प्रश्न (४) जानकी-मंगल, (५) रामचरितमानस (सं० १६६१), (६) सतसई (सं० १६४१), (७) पार्वती-मंगल, (सं० १६४३), (८) गीतावली, (९) विनय-पत्रिका, (१०) कृष्ण-गीतावली, (११) बरवै, (१२) दोहावली, (१३) कविता-वली (बाहुक सहित)।

'रामलला नहछू' की रचना-तिथि का कोई निर्देश कवि ने नहीं किया है और न ही ग्रन्थ में ऐसी कोई घटना वर्णित है जिससे ग्रन्थ का समय निर्धारित किया जा सके। इसकी कुछ प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें से कोई भी प्रति ऐसी नहीं है जो कवि के जीवन-काल से सम्बन्धित हो। श्री माताप्रसाद गुप्त को एक प्रति प्राप्त हुई है जो सं० १६६५ की है। यह कवि की निर्वाण-तिथि से पन्द्रह वर्ष के पूर्व की प्रतीत होती है। यद्यपि इस प्रति का पाठ मुद्रित पाठ से अधिकांश रूप में भिन्न है, फिर भी दोनों में यथेष्ट साम्य है और कृति का नाम भी उक्त प्रति में 'रामजू को नहछू' दिया हुआ है अतः यह स्वतः सिद्ध होता है कि इसका रचना काल सं० १६६५ के पूर्व ही किसी समय का है। यह तो निश्चित है कि इसकी रचना कवि के प्रारम्भिक जीवन के समय की है। कारण इसमें ऐतिहासिक भ्रम और प्रबन्ध दोष विशेष रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कवि की प्रवृत्ति ठेठ शृङ्गार की परकीया रति में भी रमने से नहीं चूकी है। दशरथ जैसा सत्यनिष्ठ और धर्म भीरु राजा भी एक साधारण अहीरिन के उमड़ते यौवन पर मुग्ध हो जाता है—

"अहिरिन हाथ दहेंड़ि सगुन लै आवइ हो।
उनरत जोवनु देखि नृपति मन भावइ हो॥"

अतः कवि की यह कृति निस्सन्देह रूप से प्रारम्भिक काल की है। मध्य-कालीन रचनाओं में तो इसको सम्मिलित नहीं किया जा सकता और अन्तिम रचनाओं में इसकी गणना करना तो कल्पनातीत-सा प्रतीत होता है। इसमें कवि की बाल-चेष्टा-सी प्रतीत होती है और यह निश्चय ही 'मानस' से अनुमानतः बीस वर्ष पूर्व की रचना है।

'वैराग्य संदीपनी' में भी कवि ने रचना-तिथि का निर्देश नहीं किया है और न ही उसमें कोई ऐसी घटना वर्णित है जिससे उसका समय निर्धारित किया जा सके। इस रचना की प्रतिलिपियाँ बहुत कम प्राप्त हुई हैं और जो प्राप्त हुई भी हैं वे कवि के निर्वाण के पश्चात् की हैं। अतएव काल-निर्धारण करने में इन प्रतिलिपियों से सहयोग न मिलने के कारण विषय-निर्वाह और शैली के अध्ययन का आश्रय लेना पड़ता है।

इस रचना का मूल उद्देश्य है वैराग्य का प्रतिपादन और उसके द्वारा शान्ति-लाभ का निर्देश। किन्तु विषय-निर्वाह भी अत्यन्त अस्त-व्यस्त-सा हुआ है। शैली में उसी प्रकार की अपरिपक्वता पाई जाती है जिस प्रकार की नहछू में है। अतः यह भी तुलसी के जीवन के प्रारम्भ की रचना प्रतीत होती है। नहछू और संदीपनी को कालक्रम की दृष्टि से प्रथम स्थान पर रखना चाहिए। यह कुछ वर्षों का अन्तर देकर स्पष्ट किया जा सकता है। 'नहछू' की तिथि 'रामाज्ञा प्रश्न' की तिथि (सं० १६२१) से दस वर्ष पूर्व की है और विषय-निर्वाह और शैली की दृष्टि से 'वैराग्य-संदीपनी' और 'नहछू' में विशेष अन्तर नहीं है, इसलिये यदि इसे 'नहछू' से तीन वर्ष बाद और 'रामाज्ञा-प्रश्न' से सात वर्ष पूर्व की रचना माना जाय तो असंगत प्रतीत नहीं होगा। इस प्रकार 'वैराग्य-संदीपनी' का रचना-काल अनुमानतः सं० १६४१ माना जा सकता है। डा० रामकुमार वर्मा भी किसी तिथि का निर्देश न करते हुए कहते हैं कि इतना मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि 'वैराग्य-संदीपनी' तुलसीदास की प्रारम्भिक रचना होनी चाहिए, क्योंकि काव्य की दृष्टि से वह विशेष प्रौढ़ रचना नहीं है। यह रचना 'नहछू' से पूर्व की मानी गई है।

रामाज्ञा-प्रश्न में कवि स्वतः उसकी रचना-तिथि इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

"सगुन सत्य ससि नयन गुन, अवधि अधिक नय बान।
होइ सुफल सुभ जासु जस, प्रीति प्रतीति प्रमान ॥"

कवि-प्रयुक्त सांकेतिक शब्दावली में चन्द्रमा १, नेत्र २, गुण ३, नीति ४, और बाण ५ के लिए प्रयुक्त होते हैं, और नीति (४), और बाण (५), में १ का अन्तर है। कवि-प्रथा के अनुसार इस प्रकार दी हुई तिथियाँ उल्टे क्रम से पढ़ी जाती हैं, इसलिए उपर्युक्त दोहे में हमें कृति के लिए १६२१ की तिथि प्राप्त होती है। कुछ समय पूर्व इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई थी जिसका समय १६५५ माना गया था और जो कवि की हस्तलिखित कही जाती है। किन्तु उपर्युक्त दोहे के प्रमाणस्वरूप संदेह का समाधान हो जाता है।

विषय-निर्वाह की दृष्टि से 'रामाज्ञा-प्रश्न' (सं० १६२१) और 'मानस' (सं० १६३१) में कुछ स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। दोनों में परस्पर जो कथा-भेद है वह महत्त्वपूर्ण है। इसी कथा-भेद के आधार पर कवि की रचना तिथि का उक्त दोहे में स्पष्टीकरण हो जाता है।

'जानकी-मंगल' की तिथि का निर्देश कवि ने स्वतः नहीं किया है और न ही उसमें किसी ऐसी घटना का समावेश हुआ है जिसकी सहायता से काल-निर्धारण किया जा सके। इस कृति की एक अत्यन्त प्राचीन प्रतिलिपि प्राप्त होती है जिस पर तिथि का निर्देश १६२२ किया गया है। परन्तु यह तिथि मूल प्रति के लेखक की प्रतीत नहीं होती। अतः विषय-निर्वाह की सहायता से रचना के काल-क्रम के निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। प्रस्तुत कृति की कथा 'रामाज्ञा प्रश्न' के समान है और 'मानस' की कथा से भिन्न है। फिर दूसरी ओर 'मानस' के समीप और 'रामाज्ञा-प्रश्न' से भिन्न है। दोनों कृतियों में 'जानकी-मंगल' का अंशतः साम्य-वैषम्य दिखाई देता है। 'जानकी-मंगल' में 'रामचरितमानस' की ओर प्रस्थान दृष्टिगोचर होता है। अतः 'मानस' और रामाज्ञा प्रश्न से 'जानकी-मंगल' का अन्तर स्पष्ट करने के लिए यदि प्रस्तुत कृति का रचना काल अनुमानतः १६२७ माना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस दृष्टि से 'रामाज्ञा प्रश्न' से छः वर्ष पश्चात् और 'मानस' से चार वर्ष पूर्व इस कृति का रचना काल माना जा सकता है।

डा० श्यामसुन्दरदास ने 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' दोनों का रचना काल एक ही मानते हुए सं० १६४३ सिद्ध किया है। यह इसलिये किया गया है कि 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' दोनों की शैली और भाषा एक ही प्रकार की है और दोनों बिल्कुल एक ही साँचे में ढली प्रतीत होती हैं। श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी भी इसी विचार के पोषक हैं। डा० रामकुमार वर्मा भी दोनों के सादृश्य के कारण 'जानकी-मंगल' को भी सं० १६४३ की रचना मानते हैं। परन्तु अन्तःसाक्ष्य की दृष्टि से इसका विरोध किया गया है।

रामचरितमानस—कवि ने बालकाण्ड के आरम्भ में ही मानस की रचना-तिथि सं० १६३१ लिखी है—

'संवत् सोरह सौ इकतीसा, कथौं कथा हरिपद धरि सीसा।' अतः इस तिथि में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। वेणीमाधवदास ने भी इस ग्रन्थ की रचना-तिथि इसी प्रकार लिखी है—

> "राम-जन्म तिथि बार सब, जस त्रेता महँ भाष।
> तस इकसीता महँ जुरे, जोग लग्न ग्रस रास॥"

अतः अन्तःसाक्ष्य और बाह्य साक्ष्य दोनों के द्वारा 'मानस' का रचना-काल सं० १६३१ ही ठहरता है। ग्रन्थ समाप्ति की कोई भी निश्चित तिथि उपलब्ध नहीं हुई है।

सतसई—इसके एक दोहे में इस कृति की तिथि का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

> अहि रसना थन धेनु रस, गनपति द्विज गुरुवार।
> माधव सित सिय जनम तिथि, सतसइया अवतार॥

संख्याओं की सांकेतिक शब्दावली में सर्प-जिह्वा २, गाय के थन ४, रस ६ और गणपति के दाँत १, के लिये प्रयुक्त होते हैं। जब इन अंकों को उल्टे क्रम से पढ़ा जाय, तो ग्रन्थ की तिथि के लिये संवत् १६४२ प्राप्त होता है, और सीता की विवाह-तिथि वैशाख शुक्ल ६ है, इसलिए पूरी तिथि "संवत् १६४२ वैशाख शुक्ल ६ गुरुवार" प्राप्त होती है।

पार्वती-मंगल—इसकी तिथि का निर्देश कवि ने रचना में ही इस प्रकार किया है—

"जय सम्वत् फागुन सुदि पाँचइ गुरु दिनु ।
अस्विनी बिरचेऊँ मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु ।।"

'जय' बार्हस्पत्य वर्ष-प्रणाली का एक वर्ष है। उक्त वर्ष-प्रणाली की गणना दो प्रकार से की जाती है। दक्षिणी रीति के अनुसार और उत्तरी रीति के अनुसार। कवि ने अपना प्रयोजन उत्तरी रीति के अनुसार ही सिद्ध किया है। उत्तरी रीति के अनुसार सुधाकर द्विवेदी ने जय सम्वत् १६४३ माना है। अतः 'पार्वती मंगल' की रचना-तिथि सं० १६४३ ही निश्चित रूप से मानी जा सकती है।

गीतावली—में स्वतः कवि ने उसकी रचना-तिथि का उल्लेख नहीं किया है और न ही उसमें किसी ऐसी घटना का उल्लेख है, जिससे इसकी रचना-तिथि निर्धारित की जा सके। मूल-गोसाईं-चरित के अनुसार 'गीतावली' तुलसीदास की प्रथम रचना है। किन्तु 'गीतावली' की शैली और कथावस्तु का दिग्दर्शन करते हुए यह ज्ञात होता है कि इसकी रचना 'मानस' के पश्चात् हुई है। 'गीतावली' की कथा उत्तरकांड मे अधिकतर 'वाल्मीकि रामायण' से साम्य रखता है। कौशल्या आदि का करुण चरित्र भी अधिक विदग्धतापूर्ण है तथा राम का बाल-वर्णन तुलसीदास के ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ है। अतः सम्भवतः इसकी रचना 'मानस' के आदर्शों से स्वतन्त्र होकर बाद में हुई हो, यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना-तिथि निश्चित रूप से निर्धारित नहीं की जा सकती। 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' जय-संवत् की रचनाएँ हैं। 'जानकी-मंगल' 'वाल्मीकि रामायण' के आधार पर और 'पार्वती-मंगल' 'कुमार सम्भव' के आधार पर है अतः इसी परिस्थिति में कदाचित् 'गीतावली' की रचना हुई हो, जो 'वाल्मीकि' की कथा से अधिक साम्य रखती है। विचारानुसार गीतावली की रचना लगभग सं० १६४३ में हुई है।

विनय-पत्रिका—'गीतावली' की भाँति 'विनय-पत्रिका' भी एक संग्रह-ग्रन्थ है। कवि ने स्वतः इस ग्रंथ का निर्माणकाल नहीं दिया है। वस्तुतः कलियुग के सताये जाने पर तुलसीदास ने अपने कष्ट के निवारणार्थ इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ से यह तो अवश्य ज्ञात होता है कि कवि ने अपनी

दारुण व्यथा प्रकट करने के हेतु इस ग्रन्थ की रचना की थी। परन्तु रचना-काल का निर्णय अन्त:साक्ष्य से नहीं होता। रचना तो इतनी प्रौढ़ है कि वह हनुमान बाहुक के आसपास लिखी, ज्ञात होती है।

यह रचना एक सम्यक् ग्रन्थ के रूप में प्रतीत होती है क्योंकि इसमें मंगला-चरण और क्रम से अन्य देवताओं की वन्दना है। इसके पश्चात् राम की सेवा में विनय-पत्रिका पहुँचाकर उसकी स्वीकृति ली गई है। बाबू श्यामसुन्दरदास को विनय-पत्रिका की एक प्राचीन-प्रति प्राप्त हुई थी जो सम्वत् १६६६ की है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह तिथि विनय-पत्रिका की रचना की है अथवा प्रतिलिपि की। श्यामसुन्दरदास जी ने इस प्रति के सम्बन्ध में कहा है कि—

"इसमें केवल १७६ पद हैं जबकि अन्य प्रतियों में २८० पद मिलते हैं। वस्तुत: इसका निर्णय करना कठिन है कि शेष १०४ पदों में से कितने वस्तुत: तुलसीदास-कृत हैं और कितने प्रक्षिप्त हैं। फिर भी १०४ पदों में से जितने पद तुलसीकृत हैं वे सब सम्वत् १६६६ और सम्वत् १६८० के बीच में बने होंगे।" अत: यदि यह प्रति प्रमाणित है तो संवत् १६६६ ही विनय-पत्रिका का रचना-काल ज्ञात होता है।

कृष्ण-गीतावली—भी एक संग्रह-ग्रन्थ है। इसकी तिथि कवि ने स्वत: नहीं दी है और न कृति में किसी ऐसी घटना का उल्लेख है जिसका सम्बन्ध ज्योतिष की गणना द्वारा अथवा ऐतिहासिक साक्ष्यों द्वारा किसी तिथि के साथ स्थापित किया जा सके। इसकी जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें से कोई ऐसी नहीं है जो कवि के जीवनकाल से सम्बन्धित हो। फलत: विषय-निर्वाह और शैली के अध्ययन द्वारा ही इस कृति की तिथि का निर्धारण किया जा सकता है।

'कृष्ण-गीतावली' विषय-निर्वाह की दृष्टि से 'गीतावली' से सर्वथा भिन्न है, और इस वैभिन्य में उत्कृष्टता 'कृष्ण-गीतावली' के पक्ष में है। 'गीतावली' में अनेक प्रसंगों का अनावश्यक रूप से विस्तार किया गया है, उदाहरणार्थ—"राम-वन-पथिक प्रसंग।" इसी प्रकार कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जो नाममात्र

के लिए भी वर्णित नहीं हैं, जैसे सुग्रीव-मैत्री, रावण-वध तथा तदनन्तर सीता-मिलन के प्रसंग। किंतु 'कृष्ण-गीतावली' में एक भी ऐसा प्रसंग नहीं है जिसका अनावश्यक विस्तार किया गया हो अथवा किसी प्रसंग को छोड़ा गया हो। साठ गीतों में कवि ने पूर्ण-कृष्ण-कथा अत्यंत सुचारु रूप से कही है। शैली की दृष्टि से भी 'कृष्ण-गीतावली' में 'गीतावली' की अपेक्षा अधिक एकरूपता मिलती है। इस प्रकार 'कृष्ण-गीतावली' में 'गीतावली' की अपेक्षा कलापक्ष अधिक कलात्मक रूप में पाया जाता है। फलस्वरूप यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'कृष्ण-गीतावली' की रचना 'गीतावली' की पदावली रामायण के पश्चात् हुई है। अनुमानतः 'कृष्ण-गीतावली' का समय 'पदावली-रामायण' से पाँच वर्ष पश्चात् रखा जाय तो इसका समय संवत् १६५८ के लगभग प्रतीत होता है।

बरवै—भी एक संग्रह-ग्रन्थ है। कवि ने स्वतः 'बरवै' की रचना-तिथि नहीं दी है और न ऐसी घटना-तिथि का उल्लेख किया है जिससे इसका काल-निर्धारण किया जा सके। 'बरवै' की प्राचीन प्रतियों में भी ऐसी कोई नहीं है जो कवि के जीवन-काल से सम्बन्धित हो। अतः विषय-निर्वाह के सहयोग से ही इस मार्ग का पथिक बनने की आवश्यकता है। 'बरवै' में कुछ ऐसे छन्द प्राप्त होते हैं जिनमें निकट आती हुई मृत्यु की धुँधली, प्रतिच्छाया से कवि प्रभावित प्रतीत होता है—

> **मरत कहत सब सब कहँ सुमिरहु राम।**
> **तुलसी अब नहिं जपत समुझि परनाम॥**
> **तुलसी रामनाम सम मित्र न आन।**
> **जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान॥**

मूल 'गोसाईं-चरित' के आधार पर डा० श्यामसुन्दरदास ने लिखा है कि 'बरवै' की रचना गोस्वामी जी ने रहीम के बरवै देखकर संवत् १६६९ में की थी। रहीम ने संवत् १६६९ में कई बरवै कवि के पास भेजे होंगे, यह तथ्य सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। डा० रामनरेश त्रिपाठी ने 'बरवै' के छन्दों की रचना का काल सम्वत् १६१० से १६४० तक माना है, किन्तु उनका कहना है कि संग्रह स्वतः कवि का किया हुआ नहीं है। डा० रामकुमार वर्मा

ने भी इसका तिथि निर्देश मूल-गोसाईं-चरित के अनुसार सम्वत् १६६९ ही माना है।

दोहावली—का रचना-काल कवि ने नहीं दिया है और न ही उसकी कोई ऐसी प्रति उपलब्ध होती है जो कवि की जीवन-सम्बन्धी हो, किन्तु उसमें कुछ इस प्रकार की घटनाओं के उल्लेख आते हैं जिनकी सहायता से उक्त उल्लेख युक्त छन्दों का रचनाकाल जाना जा सकता है। इस प्रकार का सर्वप्रमुख उल्लेख रुद्रबीसी विषयक है, जो 'दोहावली' के एक दोहे में स्पष्ट रूप से दिया हुआ है। किन्तु यह रुद्रबीसी कवि के जीवन-काल में दो बार आती है। पहले संवत् १५९६ से १६१६ और फिर सम्वत् १६५६ से १६७६ तक। दोहावली मे कुछ दोहे ऐसे हैं जिनमें वृद्धावस्था और मृत्यु की एक धुँधली छाया स्पष्टतः दिखाई देती है—

> 'नीच मीच लै जाइ जो, राम रजायसु पाइ।
> तो तुलसी तेरो भलो, न तु अनभलो अघाइ॥"

अतः स्पष्ट है कि रुद्रबीसी सम्बन्धी दोहे १५९६ से १६१६ के बीच के नहीं हो सकते, वरन् वह १६५६ से १६७६ तक के प्रतीत होते हैं। तुलसीदास की बाहु-पीड़ा उनके अन्तिम दिनों में मानी गई है। अतः इन दोहों की रचना सम्वत् १६८० के लगभग मानी जा सकती है। सम्भवतः इसका संग्रह स्वयं तुलसीदास द्वारा न होकर उनके किसी भक्त द्वारा हुआ हो।

कवितावली और बाहुक—'बरवै' और 'दोहावली' की भाँति 'कवितावली' और 'बाहुक' भी सग्रह-ग्रन्थ हैं। 'कवितावली' और 'बाहुक' का रचना-काल कवि ने स्वतः नहीं दिया है, और न कवि के जीवन-काल की कोई प्रति ही इन ग्रन्थों की प्राप्त हुई है। हाँ, 'कवितावली' में कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख अवश्य है जिसका समय ज्योतिष की गणना और ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है। इस प्रकार के उल्लेख रुद्रबीसी, मीन के शनि तथा महामारी सम्बन्धी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी उल्लेख आते हैं जिनसे आगे आती हुई मृत्यु की धुँधली प्रतिच्छाया का भान होता है। यदि इन छन्दों की रचना कवि ने वृद्धावस्था में की होगी तो रुद्रबीसी और मीन के शनि और महामारी के सम्बन्ध में कदाचित उनकी वही तिथियाँ मान्य हैं, जो कवि की वृद्धावस्था

में पड़ती हों। और इस प्रकार मीन के शनि के लिये सम्वत् १६६९-७१ तथा रुद्रबीसी के लिये सम्वत् १६५६-१६७६ और महामारी के लिए सं० १६७३ से ८० की तिथियाँ मानना ही अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। फलस्वरूप 'कवितावली' में कवि की अन्तिम समय की रचनाएँ संग्रहीत हैं। मूल 'गोसाईं-चरित' से उद्धरण देते हुए डा० रामकुमार वर्मा का कहना है कि यदि 'बाहुक' में वर्णित बाहु-पीड़ा से कवि की मृत्यु मानें तो यह उनकी अन्तिम रचना है और इसका रचना-काल सं० १६८० है और यदि उपर्युक्त घटना सत्य प्रतीत न भी हो तो यह रचना सं० १६६९ के लगभग की मानी जा सकती है। अतः मूल 'गोसाईं-चरित' के अतिरिक्त 'बाहुक' के सम्बन्ध में सम्वत् १६६९ की तिथि के अतिरिक्त और कोई आधार नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है कि काल-क्रम और अवस्था-क्रम के अनुसार कवि की कृतियाँ स्वतः निर्मित चार समूहों में विभक्त की जा सकती हैं। 'रामाज्ञा-प्रश्न', 'रामचरितमानस', 'सतसई' तथा 'पार्वती-मंगल के अतिरिक्त सभी ग्रन्थों की तिथियाँ प्रायः अनुमान-सिद्ध हैं।

अ—प्रारम्भिक अवस्था	(सं० १६११-२५)
(१) रामलला-नहछू	सं० १६११
(२) वैराग्य-संदीपनी	सं० १६१४
(३) रामाज्ञा-प्रश्न	सं० १६२१
आ—मध्यकालीन	(सं० १६२६-१६४५)
(१) जानकी-मंगल	सं० १६२७
(२) रामचरितमानस	सं० १६३१
(३) सतसई	सं० १६४१
(४) पार्वती-मंगल	सं० १६४३
इ—उत्तरकालीन	(सं० १६४६-१६६०)
(१) गीतावली	सं० १६५३
(२) विनय-पत्रिका	सं० १६५३
(३) कृष्णगीतावली	सं० १६५८

ई—अन्तिम और अपूर्ण (सं० १६६१-१६८०)

(१) बरवै, (२) दोहावली, (३) कवितावली (और बाहुक)

प्रश्न ७—रामचरितमानस का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? उपयुक्त उद्धरणों की सहायता से इसका युक्तियुक्त विवेचन कीजिए।

उत्तर—जिस प्रकार गुणशील-सम्पन्न सन्तति से कुल का नाम उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार कवि की अमर कृति से उसका नाम अमर हो जाता है। कवि-कुल-कमल-दिवाकर गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कृतिवाटिका में अनेक ग्रन्थ-पुष्पों का उत्पादन करके भक्त-भ्रमरों और साहित्य-प्रेमियों की रसास्वादन की पिपासा को तृप्त किया और विश्व-साहित्य में अपनी अमरवाणी द्वारा स्निग्ध शीतल शशि का स्थान प्राप्त किया। परन्तु इस अमर कवि की सम्पूर्ण कृतिवाटिका में, सौष्ठव, माधुर्य और मकरन्द की मादक प्रभविष्णुता की दृष्टि से 'रामचरितमानस' सर्वोत्कृष्ट पुष्पराज माना गया है। यह ग्रन्थ राम की अमर गाथा से अलंकृत है। इसमें राम के उस उज्ज्वल यशोगान को संगीत की झंकृत लहरियों में पिरोया गया है जिसको पाकर मानव-मन का समस्त कलुष धुल जाता है। कवि ने रामचरितमानस की कथा को महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखा है जिसमें जीवन का साँगोपांग रूप में वर्णन किया गया है। इसके साथ राम का मर्यादापूर्ण जीवन और लोक-शिक्षा का आदर्श तो कथा को बहुत ही मनोरम और भावपूर्ण बना देता है। तुलसीदास ने अपने ग्रन्थ में राम की कथा के साथ ही सब दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों का अत्यन्त स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। वाल्मीकि रामायण में राम महापुरुष हैं और अध्यात्म रामायण में वे सम्पूर्णतः ईश्वर हैं। तुलसी ने अधिकांश रूप में 'अध्यात्म-रामायण' का स्वरूप ही स्वीकार किया है। यद्यपि उसमें अपनी मौलिकता को भी स्थान दिया है। वैसे तो श्रीराम-कथा का आदि स्रोत 'वाल्मीकि रामायण' है और गोसाईं जी ने भी प्रधान आश्रय इसी ग्रन्थ का लिया है और इसके साथ हनुमन्नाटककार कवीश्वर के हनुमन्नाटक का भी। इनके अतिरिक्त योगवाशिष्ठ, अध्यात्मरामायण, महारामायण, भुशुण्डि-रामायण, याज्ञवल्क्य रामायण, श्रीमद्भागवत, भारद्वाज रामायण, प्रसन्न राघव, रघुवंश आदि अनेक ग्रन्थों की छाया 'रामचरितमानस' में मिलती है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामी जी ने रामचरितमानस के लिए इन ग्रन्थों का अध्ययन किया था। राम के अनन्य भक्त कारण यह स्वाभाविक ही था कि तत्सम्बन्धी साहित्य को पढ़कर सबके विवेकोचित त्याग और सारग्रहणमय अध्ययन से राम का जो मंजुल लोकरक्षक चरित्र उन्होंने निर्धारित किया, उसी को उन्होंने रामचरितमानस के रूप में जगत् के सामने रखा। इसी परित्याग और ग्रहण मे उनकी मौलिकता है जिसका रूप उनकी प्रबन्ध-पटुता के योग में अत्यन्त पूर्णता के साथ खिल उठता है। उन्होंने तो रामायण के प्रथम सोपान मे मंगलाचरण के पश्चात् ही स्पष्टतः लिखा है कि—

> नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं यद्,
> रामायणे निवेदितं क्वचिदन्यरोपि,
> स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
> भाषा-निबन्ध-मति-मंजुलमातनोति ॥

इस प्रकार अपने अन्तःकरण के सुख के लिए तुलसी ने इस ग्रन्थ की रचना की है। वह नाना पुराण-वेद-आगम सम्मत है। परन्तु साथ ही उसमें कुछ सामग्री अन्य स्रोतों से लो गई भी प्रतीत होती है। "व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वं"। व्यास पुराण-महाभारत आदि मे जो कुछ कह गए हैं उसके बाहर कोई क्या कहेगा। अतः तुलसी ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे श्रुति-सम्मत ही हैं। इनके साथ ही इसमें कवि की अनुभूति, साधना और कल्पना का भी पुट है। यद्यपि मानस में कहीं-कहीं वाल्मीकि रामायण की कथा और उसके वर्णन के क्रम में भेद है तथापि उसके मूल आख्यान में कोई अन्तर नहीं है। कथावस्तु में कोई विशेष मौलिक अन्तर न होते हुए भी उसके प्रतिपादन के विषय मे अन्तर है। वाल्मीकि रामायण में वैदिक युग के आदर्श पुरुष राम का चरित्र है। वाल्मीकि ने महान् मानव-गुणों का श्रवण कर चुकने के पश्चात् नारद मुनि से प्रश्न किया था कि इस समय इन सब गुणों से सम्पन्न कौनसी महान् आत्मा है ? इस पर त्रिकालदर्शी नारद ने इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न राम को ही सवंगुण-सम्पन्न सिद्ध किया और उनका चरित्र वर्णन करने का आग्रह किया। इसी से वाल्मीकि रामायण में ईश्वरता की

अपेक्षा मानवता के दर्शन होते हैं। कवि परिस्थिति-प्रसूत होता है और उसके अनुसार ही साहित्य-सृजन करता है। वाल्मीकि ने राम को विष्णु का अवतार नहीं माना है उनके समय में ऐसी परिस्थिति ही नहीं थी कि वे राम का ईश्वरत्व प्रदर्शित करते। परन्तु तुलसीदास के समय में परिस्थिति ने कवि को, राम को ईश्वर का रूप देने के लिए प्रेरित किया। निर्गुण-वादियों ने सामान्य जनता के चारों ओर इस भ्रम का ताना-बाना बुन दिया था कि दाशरथि राम ईश्वर नहीं। ईश्वर तो निराकार ही होता है। इसी से तुलसी ने परात्पर ब्रह्म राम की नर-लीलाओं का वर्णन किया और मानस में उनकी ही भक्ति का प्रतिपादन किया। राम-भक्ति की प्रतिष्ठा करने की प्रेरणा तुलसी को अध्यात्म रामायण से प्राप्त हुई थी। राम-भक्ति का लोक में प्रतिष्ठापित करना ही मानस का लक्ष्य था। अतएव जहाँ नर-श्रेष्ठ राम की कथा कहना वाल्मीकि का उद्देश्य था वहाँ तुलसी का लक्ष्य हुआ राम-भक्ति का प्रतिपादन। इसीलिए तुलसी ने मानस में स्थल-स्थल पर राम का ईश्वर-रूप ही प्रतिपादित किया है, कथा-प्रवाह में बाधा डालकर भी राम के इसी रूप का समर्थन किया है।

रामचरितमानस में कुछ ऐसे वर्णन मिलते हैं जो उक्त दोनों रामायणों में उपलब्ध नहीं होते। पुष्पवाटिका में राम और जानकी का साक्षात्कार सम्बन्धी प्रसंग हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव आदि से लिया गया है। इसके साथ ही कवि ने कुछ कल्पित हृदयग्राही चित्र भी चित्रित किये हैं। जनकपुर में राम-लक्ष्मण नगर-दर्शन के लिए गये थे तब उनकी अनुपम शोभा को देखकर नारियों में परस्पर वार्तालाप हुआ था। इसी प्रकार जब वन-मार्ग में ग्रामीण नारियों ने उन्हें देखा था, उस समय के उनके उद्‌गार भी विस्तृत रूप में वर्णित किए गये हैं। ये हृदयग्राही और मार्मिक प्रसंग कवि-कल्पना-प्रसूत ही हैं। मानस के प्रथम सोपान के आरम्भ की विस्तृत वन्दना, मानस और कवि के सांगरूपक भी कवि की सृष्टि हैं। इसी प्रकार अनेक अन्य प्रकरण और प्रसंग ऐसे मिलते हैं जिनका वर्णन किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं मिलता। तुलसीदास ने सनातन सत्यों को पुनः प्रतिष्ठित करने के हेतु ही मानस की रचना की थी। उसमें व्यक्त किये गए सिद्धान्त और विचार नवीन नहीं हैं वरन् प्राचीन आदर्श की पृष्ठिभूमि पर ही उनको परिष्कृत और परिमार्जित रूप में खड़ा किया है। अतः मानस की

मूल कथा और आनुषंगिक कथा किसी अंश तक पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर आधारित है।

गोस्वामी जी ने कथानक के अतिरिक्त अनेक वर्णनों और उक्तियों को भी प्राचीन ग्रन्थों से तद्वत् रूप में अथवा कुछ परिवर्तित रूप में ग्रहण किया है। अहिल्योद्धार और कैकेयी-वरदान का प्रसंग वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण तथा मानस में कुछ न कुछ साम्य अवश्य रखता है। वाल्मीकि रामायण के अनुसार राम-लक्ष्मण ने देखा कि अहिल्या शिला रूप में तपस्या कर रही है। उसमें प्रभा का इतना प्रकाश है कि कोई दैविक शक्ति तक उसके समीप नहीं जा सकती। वह गौतम के शाप-वचन से लोगों के लिए अदृश्य थी। उनके वाक्यानुसार जब तक राम के दर्शन न होंगे, तब तक त्रिलोक का कोई व्यक्ति भी उसे नहीं देख सकेगा। राम-लक्ष्मण दोनों ने मुनि-स्त्री जानकर अहिल्या के चरण छुए। अहिल्या गौतम के वचनों का स्मरण कर उन दोनों के चरणों पर गिरी। वाल्मीकि रामायण में गौतम ने अहिल्या को जो शाप दिया था उससे भी अहिल्या के शरीर का यही रूप है—

"वातभक्ष्या निराहारा तप्यंति भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन्वसिष्यसि॥"

अर्थात्, तू पवन का भक्षण कर, निराहार रह कर भस्मशायिनी बन, सभी प्राणियों से अदृश्य होकर आश्रम में निवास करेगी।

अध्यात्म रामायण के अनुसार राम ने अपने चरण से स्पर्श करके उस तपस्विनी को देखा और अहिल्या को यह कह प्रणाम किया कि मेरा नाम राम है। रामचरितमानस के अनुसार इस प्रसंग का रूप निम्न प्रकार से है—

"गौतमनारी श्राप बस, उपल-देह धरि धीर।
चरण-कमल रज चाहती, कृपा करहु रघुवीर॥
परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोर रही॥

अतः इन तीनों अवतरणों से यह स्पष्ट होता है कि वाल्मीकि रामायण में अहिल्या अदृश्य है और राम-लक्ष्मण उसके चरण छूते हैं। अध्यात्म रामायण में अहिल्या शिला पर खड़ी होकर तपस्या करती है और राम उसे केवल प्रणाम

करते है। अहिल्या राम के चरणों का स्पर्श पाकर पतिलोक जाती है। 'मानस' में अहिल्या पाषाण-रूप होकर पड़ी रहती है और राम के पवित्र चरणों का स्पर्श पाकर 'आनन्द भरी' पति-लोक में चली जाती है। इस प्रकार तुलसीदास ने कथाभाग तो वाल्मीकि रामायण के अनुसार रखा है, परन्तु दृष्टिकोण अध्यात्म रामायण के अनुसार। तुलसीदास की अहिल्या वाल्मीकि रामायण की अहिल्या के अनुसार ही पाषाण रूप तो है पर 'अध्यात्म रामायण' की अहिल्या की भाँति राम के चरणों का स्पर्श नहीं करती। मानस में राम पूर्ण-ब्रह्म हैं, अतः वे अहिल्या को प्रणाम भी नहीं करते, प्रत्युत गम्भीरता से उसे अपने 'पावन पद' का स्पर्श करा देते हैं। यह तुलसीदास का अपने आराध्य के प्रति भक्तिपूर्ण दृष्टिकोण है। इतने पर भी 'मानस' भावना की दृष्टि ने वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा अध्यात्म रामायण के अधिक समीप है।

इसके अतिरिक्त 'मानस' में और भी अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो पूर्ववर्ती ग्रन्थों पर आधारित है। मानस में शिव ने पार्वती से भगवान का यह रूप वर्णित किया है—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करइ कर्म विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा।।

यह श्वेताश्वेतर उपनिषद् के इस अवतरण का भाषान्तर है—

"अपाणिपादो जनवदो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्कर्णः
यो वेत्ति सर्वं नहि तस्य वेत्ता, तमाहुराद्यं पुरुषं पुराणम्।।"

श्रीमद्भगवद् गीता में श्रीकृष्ण ने भगवदवतार का प्रयोजन बतलाया है कि—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानम् सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।।"

यही प्रसंग शिवजी पार्वती से 'हरि अवतार' होने के हेतु बतलाते हुए इस प्रकार कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी । बाढ़हि असुर अधम अभिमानी ॥
करहि अनीति जाइ नहि बरनी । सीदहि विप्र धेनु सुर धरनी ॥
तब तब प्रभु धरि मनुज शरीरा । हरहि कृपानिधि सज्जन पीरा ॥

लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम ने जो प्रलाप किया था उसके वर्णन में भी गोस्वामीजी ने वाल्मीकि से भाव लिये हैं । मानस में राम ने सहोदर को पत्नी आदि से अधिक महत्त्व देते हुए कहा था—

सुत बित नारि भवन परिवारा । होहि जाहि जग बारहि बारा ॥
अस बिचार जिय जागहु ताता । मिलै न जगत सहोदर भ्राता ॥

वाल्मीकि रामायण मे यह प्रसंग राम द्वारा इस रूप में स्पष्ट किया गया है—

शक्या सीता समा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता ।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिका ॥

और—

"देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवा : ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥"

इस प्रकार अनेक अवतरणों में गोस्वामीजी और वाल्मीकि का सादृश्य मिलता है । गोस्वामीजी की इस कृति में कुछ प्राचीन कवियों के भाव-साम्य के कुछ उदाहरण उपलब्ध होते हैं । तुलसी की सर्वप्रचलित उक्ति—'गिरा अनयन, नयन बिनु बानी', नन्ददास की रासपंचाध्यायी में 'नैनन के नहि बैन बैन के नैन नाहि जब', और देवी भागवत में यही भाव 'या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति' के रूप में मिलता है ।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी ने प्राचीन ग्रन्थों की अनेक उक्तियों के भाव ही नहीं, शब्दों तक का व्यवहार किया है । परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामीजी भावाभिव्यक्ति के सुन्दरतम साधन से अनभिज्ञ थे और इसी कारण उन्होंने प्राचीन उक्तियों का प्रयोग किया है । तुलसी का ज्ञान-भण्डार इतना व्यापक था कि जो कुछ उन्होंने पढ़ा उसे अपना लिया और उनकी रचना में अनायास ही उन उक्तियों

का प्रयोग होने लगा। परन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि तुलसी ने इच्छानुसार इस प्रकार किया है। कारण गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि "जो योग सम्बन्धी बातें मैं तुम्हें बतला रहा हूँ वे नवीन नहीं हैं। वही मैंने कल्प के आदि में विवस्वान से कहीं थीं। विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को वही बातें वर्णित की थीं। आज मैं फिर वही परम्परागत ज्ञान तुम्हें दूँगा।" इसी से गीता में उपनिषदों के सिद्धान्त और उनके विचार ही नहीं, शब्द और वाक्य तक मिलते हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में परम्परा प्राप्त राम-कथा तो मिलती ही है, उसमें जो भाव, विचार और सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं, वे भी सनातन और प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर हैं। श्रुति-सम्मत हरिभक्ति-पथ का प्रदर्शन और असंदिग्ध निरूपण ही तो मानसकार का लक्ष्य था। अतएव कवि ने चिरन्तन वाग्धारा में अमर विचारधारा को सन्निविष्ट कर उसे अभिव्यक्त करना ही श्रेयस्कर समझा था। ऐसा उन्होंने प्रचलित विचारों की सर्वमान्यता को अक्षुण्य रखने के लिए, उसको व्यक्त करने के लिए किया है। इसी कारण मानस में प्रतिपादित मत गोस्वामीजी का व्यक्तिगत मत प्रतीत नहीं होता। वह श्रुति-सम्मत और भारतीय विचार-परम्परानुकूल प्रतिपादित मत है। अतः यह स्पष्ट है कि तुलसीदासजी ने चिरपरिचित विचारों को उसी शब्दावली द्वारा प्रकट किया है जिससे उनका चिर-परिचित सम्बन्ध था। यही उनका अंतिम लक्ष्य था जिसके कारण उनकी कृति में पूर्वापर कवियों की शब्दावली और उक्तियों का प्रयोग मिलता है।

प्रश्न ८—'मानस' के सम्वादों की विशेषताएँ समझाते हुए लिखिए।

उत्तर—प्रबन्ध काव्य में संवादात्मकता का होना काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है। इस नाटकीय पद्धति से पात्रों के चरित्र-चित्रण का विकास स्वतः ही कुशलता से हो जाता है। जिस काव्य में भी यह संवादात्मकता का गुण रोचकता और कलात्मकता के साथ प्रदर्शित किया जाता है उस में मनोरंजकता, स्वाभाविकता और रसात्मकता आ जाती है। इस प्रकार दो पात्रों के वार्तालाप में पात्रों का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष तथा पात्रों का स्वरूप और भाव एवं विचार आदि सभी कुछ पाठकों या श्रोताओं के समक्ष चित्र रूप में चित्रित हो जाता है। इस कसौटी पर कसने से रामचरितमानस के संवाद

बड़े ही सजीव और सुचारु बन पड़े हैं। इस क्षेत्र में कवि की कला पूर्णतः निखर उठी है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण दृष्टि के अधिकारी और मनोविज्ञान के विशेषज्ञ होने के कारण तुलसीदास पात्रों के द्वारा उनके चरित्र का विकास सुचारु रूप से करने में सफल हुये हैं।

'रामचरितमानस' में दो प्रकार के संवाद मिलते हैं—शृंखलाबद्ध और उन्मुक्त। मूलकथा के वक्ता और श्रोताओं के संवाद तो शृंखलाबद्ध हैं और कथा के भीतर पात्र-बद्ध संवाद उन्मुक्त। शृंखलाबद्ध-संवाद पौराणिक पद्धति पर रचे गये हैं। पुराणों में वक्ता और श्रोताओं की शृंखलाएँ शृंखलाबद्ध होती चली हैं। इसी पद्धति पर प्रस्तावना में चार वक्ता और श्रोता दिखाई देते हैं। तुलसी का 'मानस' धर्म-ग्रन्थ भी है और काव्य-ग्रन्थ भी। अतः उसमें ईश्वरावतार के प्रतिपादन सम्बन्धी उक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। तुलसी ने वाल्मीकि का अनुसरण करते हुए राम को मानव रूप में चित्रित नहीं किया है वरन् पुराणों की भाँति उनका ईश्वरावतार का रूप प्रदर्शित किया है। मानस में इसी कारण से चार वक्ता-श्रोता मिलते हैं—तुलसी और पाठक या संतजन, याज्ञवल्क्य और भारद्वाज, शिव तथा पार्वती, काकभुशुण्डि और गरुड़। मानस रूपक से तुलसी ने इन्हें ही मानस के चार घाट कहा है—

"सुठि सुन्दर संवाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥"

भारद्वाज-पार्वती और गरुड़ तीनों को राम के ईश्वरत्व पर सन्देह होता है, इसी सन्देह का निराकरण करने के हेतु वक्ताओं की सृष्टि की गई है। श्रोताओं का सन्देह तो एक ही आधार-शिला पर आधारित है परन्तु श्रोताओं के सन्देह-निवारणार्थ प्रतिपादन में सूक्ष्म भेद लक्षित होता है। काकभुशुण्डि का प्रतिपादन उपासनापरक, शिव का ज्ञानपरक और याज्ञवल्क्य का कर्मकाण्डपरक है। स्वयं तुलसीदास की स्वतन्त्र उक्ति शीलपरक मानी गई है। उपक्रम और उपसंहार मे तो संवादों का स्पष्टतः उल्लेख किया गया है परन्तु मूलकथा में सम्बोधन शब्दों द्वारा कार्य किया गया है। कवि ने प्रश्न-उत्तर सम्बन्धी तर्कों की उपेक्षा करके रस-धारा और प्रबन्ध-धारा में बाधा नहीं पड़ने दी है। इसलिए उन्होंने

श्रोताओं के सम्बोधन मात्र से ही अपनी उद्देश्य पूर्ति की है और वक्ता के प्रसंगानुकूल उत्तर से ही प्रश्न का काम भी निकाल लिया गया है। इसी कारण चारों संवाद कथा की धारा में मिलकर उसी प्रकार एक हो गये हैं जिस प्रकार प्रधान नदी की धारा में अन्य नदियाँ। परन्तु प्रत्येक सम्बोधन पद के आने पर कवि ने उसकी पद्धति का भी पूर्ण ध्यान रखा है। याज्ञवल्क्य के द्वारा जहाँ 'भरद्वाज' सम्बोधन है वहाँ कर्मकाण्ड की प्रधानता लक्षित होती है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी कवि सचेत होकर सावधानी से कार्य-क्षेत्र में अग्रसर होता है। जहाँ ज्ञान-काण्ड का प्रसंग आता है वहीं उमा, गिरिजा आदि सम्बोधन हैं। जैसे—

"उमा राम गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह विमूढ़, जे हरि विमुख न धर्म रति॥"

'कर्मकाण्ड' प्रसंग में 'भरद्वाज' का सम्बोधन याज्ञवल्क्य द्वारा किया गया है। जैसे—

"भरद्वाज सुनु जाहिं जब, होइ विधाता बाम।
धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम॥"

और जहाँ उपासनाकाण्ड के अनुकूल कोई उक्ति आती है वहाँ खगेश, उरगारि आदि सम्बोधन-पद हैं—

"सुनु खगेस हरि भगत बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥"

इस प्रकार शृंखलाबद्ध संवादों में कवि ने यथाशक्ति सौंदर्य-सुषमा और धारावाहिकता ला दी है।

पात्रबद्ध उन्मुक्त संवाद दो श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं—सभा-संवाद और गोष्ठी-संवाद। सभा-संवाद भरी सभा के बीच हुए हैं जो स्वाभाविक रूप से लम्बे और अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, भरत-सभा-सम्वाद, हनुमान-रावण-संवाद, अंगद-रावण-सम्वाद आदि इसी कोटि के सम्वाद हैं। गोष्ठी-संवाद दो या दो से अधिक व्यक्तियों, मित्रों या सम्बन्धियों के बीच व्यक्तिगत रूप में हुए हैं—जैसे जनकपुर की सखियों के सम्वाद, मंथरा-कैकयी-सम्वाद, राम-सीता-सम्वाद, केवट-राम-सम्वाद, रावण-मन्दोदरी-सम्वाद आदि।

सभी सम्वादों में अनेकरूपता है, कोई भी सम्वाद एक-दूसरे से एकदम नहीं मिल जाता। सभी सम्वाद एक-दूसरे से भिन्न दिखाई पड़ते हैं या सम्वादों के विचार एक-दूसरे के पूरक रूप में हैं। सभा-सम्वादों में लक्ष्मण-परशुराम-संवाद उग्र है तो भरत-सभा एवं जनक-सभा-सम्वाद शान्त है। हनुमान-रावण-सम्वाद गम्भीर है तो अङ्गद-रावण-सम्वाद उद्धत है। तुलसीदास के सम्वादों की विशेषता यह है कि उनके पात्रों के उज्ज्वल चरित्र सम्वाद द्वारा ही व्यंजित होते हैं। उनके चरित की गूढ़ विशेषताएँ ही उनका लक्ष्य होती हैं। लक्ष्मण-परशुराम-संवाद में लक्ष्मण और परशुराम दोनों का चरित्र अलग-अलग लक्षित हो जाता है। लक्ष्मण की चपलता, स्वाभिमान तथा वक्रोक्ति तथा परशुराम की कठोरता 'गर्भन के अर्भक दलन परशु मोर अति घोर' में गर्वोक्ति और अपने स्वाभिमान आदि का सम्यक् चित्रण हुआ है। 'इहाँ कुम्हड़ बतिया नहिं कोऊ' लक्ष्मण की इस उक्ति में क्षत्रियोचित वीरता टपकती है। लक्ष्मण से सम्बन्धित सम्वादों को यदि अलग कर लिया जाय तो स्पष्टतः लक्षित होगा कि तुलसीदास ने उनमें दो प्रकार की विशेषताओं का अन्वेषण किया है। लक्ष्मण राम के विरोधी अथवा किसी में राम-विरोधी भावना की सम्भावना पाते हैं तो क्रोध का लाल रंग उनके शरीर पर छा जाता है। क्रोध की मदान्धता में न कोई पूज्य है और न किसी का स्नेह ही उस क्रोध को हटाने वाला है। जनक-राज के "वीर विहीन मही मैं जानी" कहने पर वे इसलिये क्रुद्ध हो गये कि ऐसा कहकर रामचन्द्रजी का अपमान किया गया है। उन्होंने क्रोधान्ध होकर एक तो विदेहराज का नाम लेकर उनको संकेत किया, दूसरे उनके नाम के साथ किसी विशेषण तक का प्रयोग नहीं किया—"जनक कही अस अनुचित बानी, विद्यमान रघुकुल मनि जानी।" धनुर्भङ्ग होने पर परशुरामजी धनुर्भंजक को खोजते हुए आए और उसे सभा से निकाल बाहर करने की घोषणा की। लक्ष्मण जी उनसे भी उलझ बैठे और अपने रघुकुलवंशी नाम के अपमान से जल उठे। रामचन्द्र जी को चौदह वर्ष का वनवास मिलने पर वे राम का पक्ष लेते हुए कैकयी को न दबा सकने के कारण स्वयं पिता दशरथ से भी अपशब्द कहने लगे। इसका स्पष्ट उल्लेख तुलसी ने नहीं किया है, पर "लखन कही कछु अनुचित बानी" के द्वारा केवल संकेत कर दिया है।

दूसरी विशेषता का समावेश जो तुलसी ने सम्वादों द्वारा लक्ष्मण के चरित्र में कराया है वह है उनकी मरने-मारने की प्रवृत्ति। युद्ध में जहाँ कहीं भी शिथिलता अथवा नम्रता का प्रदर्शन किया वहीं बिगड़ खड़े होते हैं। इस सम्बन्ध में वे अपने आराध्य-चरण रामचन्द्र जी को भी फटकारने से नहीं चूकते। लक्ष्मण सन्नद्ध वीर थे, इसका परिचय इसी उक्ति से हो जाता है—

"बरु तीर मारहु लखन पै जब लगि न पाय पखारिहौं।"

इसी उक्ति में लक्ष्मण का उग्र और क्रोधी रूप सामने आता है वस्तुतः लक्ष्मण कर्मवादी थे, भाग्यवादी नहीं। राम के सिन्धु से विनय करते समय वे रुष्ट होकर कहने लगे—

"नाथ दैव कर कवन भरोसा। सोषिअ सिंधु करिअ मन रोसा॥
कादर मन कर एक अधारा। दैव-दैव आलसी पुकारा॥"

अतः प्रायः उग्र प्रसंगों में ही लक्ष्मण की वाणी सजीव हो उठती है। भरत-सभा और जनक-सभा जैसे शान्त प्रसङ्गों में लक्ष्मण का कण्ठ ही मानों अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार मानस के सम्वाद-शील-व्यंजना की इस विशेषता से अनभिज्ञ जन ही लक्ष्मण-परशुराम-सम्वाद में विशेष रसास्वादन नहीं कर पाते।

भरत-सभा और जनक-सभा के सम्वाद शान्त रस में ओत-प्रोत हैं। इन सभा-सम्वादों मे भरत जी ने अपनी ऐसी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है कि प्रख्यात राजनीतिज्ञ भी दांतों तले अँगुली दबाते हैं। जहाँ विख्यात राजनीतिज्ञों की मति कुण्ठित हो जाती है वहाँ भरत की मंजु-वाणी अपनी तेजस्विता का दिग्दर्शन कराती है। इन सम्वादों पर पूर्ण दरबारी पद्धति का अवलम्बन लिया गया है। दरबार लगने के पूर्व नियमानुसार गोष्ठियाँ होती हैं। समझौता कराने वाले पक्ष-विपक्ष से मिलकर उनके मत का निरीक्षण करते हैं, और फिर लोक सभा में मूल विषय पर विचार होता है। सभी अपने को उत्तरादायित्व से दूर करते हैं। रघुवंश के गुरु वशिष्ठ तो उत्तरदायित्व से भागते हैं, भरत के नम्रतापूर्वक फटकारने पर वे उनकी गोष्ठी में कहते हैं—

"सब के उर अन्तर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन जननी भरत हित, होइ सो कहिअ उपाउ॥"

"आरत कहहिं बिचार न काऊ। सूझ जुआरिहि आपन दाऊ।"

जब राम से उपाय प्रस्तुत करने हेतु कहा जाता है, तब वे भी यही कहते हैं—

"सुनि मुनि बचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ।"

इसी प्रकार जनक भी राम से कहते हैं—

"तात राम जस आयसु देहू। सो सबु करै मोर मत ऐहू।"

उत्तर में राम कहते हैं—

'राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥"

उसी प्रकार अनेक राजनीतिक गम्भीरताओं और रहस्यों के तर्क-वितर्कपूर्ण विवादों से यह संवाद परिपूर्ण है। 'मानस' के सम्वादों में सबसे प्रधान और महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर सम्वाद ये ही हैं।

रावण-दरबार के सम्वादों में हनुमान-रावण-सम्वाद और अङ्गद-रावण-सम्वाद प्रमुख हैं। हनुमान और अङ्गद के वचनों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि हनुमान की वचनावली शिष्ट और अंगद की उद्धत और शिष्टाचार-विरुद्ध है। इसी विभेद से हनुमान और अंगद के वचनों पर प्रकाश पड़ता है। जब विभीषण लंकापुरी से राम की शरण में आता है तभी राम उसे लंकेश कहकर पुकारते हैं—

"कहु लंकेश सहित परिवारा। कुशल कुठाहर बास तुम्हारा।"

अन्त में उसका राजतिलक भी हो जाता है—

"अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुरन वष्टि नभ भई अपारा।"

गोष्ठी-सम्वादों के भी मुख्यतया दो भेद किये गये हैं—पुरुषों के गोष्ठी-सम्वाद और स्त्रियों के गोष्ठी-सम्वाद। वैसे तो दोनों गोष्ठी-सम्वादों में तुलसी ने अपनी सहृदयता का परिचय दिया है परन्तु फिर भी स्त्रियों के गोष्ठी-सम्वाद अत्यन्त हृदयग्राही हैं। जनकपुर की सखियों के सम्वाद, कैकयी-मन्थरा-सम्वाद, ग्राम-बधूटियों के सम्वादों में हृदय की वृत्तियों की जैसी मार्मिक व्यंजना हुई है, वह तो सराहनीय है ही, साथ ही उसमें स्त्रियों की चित्त-वृत्तियों की जैसी सटीक अभिव्यंजना हुई है, उसे देखते हुए यह स्वीकार रना

पड़ता है कि पुरुष होते हुए भी स्त्री-प्रकृति का गोस्वामीजी को जैसा ज्ञान था, वह उनके महाकवित्व और गहन मनोवैज्ञानिकता का प्रमाण है। हृदयग्राही चित्रों और सौंदर्यपूर्ण दृश्यों को देखकर स्त्री-हृदय जितना अभिभूत हो उठता है, सम्भवतः उतना पुरुष-हृदय नहीं होता। जनकपुर में कुतूहल-वृत्ति विशेषतः स्त्रियों में दिखाई गई है और चित्रकूट के मार्ग में भी तुलसी ने ग्राम-वधूटियों की ही अवतारणा की है। उनके संवादों में भी तदनुकूल वेदना और सहानुभूति तथा मार्मिकता के दर्शन होते हैं। स्त्री-संवादों में स्त्री-स्वभाव का भी स्वतः दिग्दर्शन हो जाता है। मंथरा के सम्वाद में जैसी मत्सरता एवं कुटिलता दिखाई देती है, ग्राम-वधूटियों के सम्वाद में उतनी ही उदारता और सरलता है। एक घरफोरी है तो दूसरी विश्व-संग्राहिका।

इस प्रकार इन समस्त सम्वादों के चित्रण से ज्ञात होता है कि सम्वादों की अनेकरूपता, भाषा-शैली की विभिन्नता, उनका संगठन आदि की दृष्टि से 'मानस' एक सफल प्रबन्ध-काव्य है। हिन्दी-साहित्य में केशव के सम्वाद अत्यन्त उच्च कोटि के माने जाते हैं, पर विवेचन करने से उनके सम्वाद प्रबन्ध-काव्य के उतने अनुरूप नहीं जँचते। 'मानस' में जैसे सम्वादों की सृष्टि हुई है वैसे कम से कम हिन्दी प्रबन्ध-काव्य में दुर्लभ हैं। सम्वादों की अधिकता और उनके सुन्दर निर्वाह की दृष्टि से यदि तुलसी को 'सम्वादों के संविधान का सम्राट' कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

प्रश्न ९—विनय-पत्रिका के क्रम, उद्देश्य, भक्ति-भावना एवं चमत्कार पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—काव्यकला के आभ्यन्तर और बाह्य दो पक्ष होते हैं, जिनका सम्बन्ध अनुभूति, भाव, विचार तथा भाषा, छन्द, अलंकार आदि से होता है। दोनों पक्षों के सामंजस्य से ही काव्य-कला में चमत्कार और सौन्दर्य का उद्रेक होता है। जहाँ भावों की तीव्रता और गम्भीरता होती है वहाँ अभिव्यक्ति में स्वभावतः सौन्दय आ जाता है और अनुभूति तथा अभिव्यक्ति के सामंजस्य-विधान में प्रयत्न-विधान की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिस प्रकार एकत्रित प्रभूत जलराशि जिस समय उमड़कर बहने लगती है उस समय अत्यन्त आकर्षक प्रवाहपूर्ण धारा का रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार गहरी तथा तीव्र

अनुभूति जिस समय उद्गार के रूप में प्रकट होती है उस समय अत्यन्त आकर्षक तथा सुन्दर बाह्य रूप धारण कर लेती है। महाकवि तुलसीदास की कला में काव्य के दोनों पक्षों का पूर्ण सामंजस्य मिलता है। तुलसी की अनुभूति में पूर्ण गम्भीरता और व्यापकता है। हृदय के विविध भावों की जितनी गंभीर व्यंजना तुलसी में मिलती है अन्यत्र दुर्लभ है। तुलसी की अनुभूति को जहाँ से प्रेरणा प्राप्त होती है वह भक्ति की ही अनुभूति है। इसी से प्रेरित होकर उन्होंने रामरसायन की धारा प्रवाहित की और इसी धारा से उनके सभी ग्रन्थ ओत-प्रोत हैं। भक्ति-रस का पूर्ण परिपाक जिस प्रकार विनय-पत्रिका में हुआ है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। विनय-पत्रिका भक्ति-काण्ड का एक परमोत्कृष्ट ग्रन्थ है, अनुराग-महोदधि का एक दिव्य रत्न है। भक्तों के सरस हृदय का तो यह जीवन-सर्वस्व है। भक्ति-पथ की साँगोपांग विश्लेषणात्मक समालोचना इसमें दिखाई देती है। भक्ति का मूल तत्त्व है महत्त्व की अनुभूति। इस अनुभूति के साथ दैन्य और लघुत्व की भावना का उदय होता है। तुलसी के हृदय से इन दोनों अनुभावों के ऐसे निर्मल शब्द स्रोत निकले हैं, जिनमें अवगाहन करने से हृदय का समस्त कलुष धुल जाता है और अत्यन्त पवित्र प्रफुल्लता का प्रस्फुरण होता है। उनकी भक्ति मे शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों का सुन्दर सामंजस्य हुआ है, जिसमें मानस की सम्पूर्ण रागात्मिका प्रकृति के परिष्कार का व्यापक क्षेत्र है। गोस्वामीजी की राम-भक्ति वह परमार्थ है जिससे जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता आदि सब-कुछ प्राप्त हो सकता है। आलम्बन की महत्त्व भावना से प्रेरित दैन्य के अतिरिक्त भक्ति के जितने अंग है उनका पूर्ण सामंजस्य विनय-पत्रिका में उपलब्ध होता है। चरम महत्त्व के इस मनुष्य-ग्राह्य रूप के सम्मुख भय-विह्वल भक्त-हृदय के बीच जो भाव-तरंगें उठती है उन्हीं की माला यह विनय-पत्रिका है। भक्त में दैन्य, आत्म-समर्पण, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि अनुताप, आत्म-निवेदन आदि की गम्भीरता उस महत्त्व की अनुभूति की मात्रा के अनुसार है।

विनय-पत्रिका में प्रधानतः तुलसीदास की मनोवृत्ति का ही निरूपण है। न घटना की प्रबन्धात्मकता है और न कोई कथा-सूत्र ही। ज्ञान, वैराग्य,

भक्ति सम्बन्धी विभिन्न विचारों का स्पष्ट प्रतिपादन है। राम-भक्ति ही इस ग्रन्थ का आदर्श है। पत्रिका में कुछ पद कथा के क्रमानुसार आ गये हैं। तुलसी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के समक्ष रखी जाने वाली पत्रिका का श्रीगणेश 'श्रीगणेशाय नमः' से किया है। सबके पहले गणपति की वन्दना की है "गाइये गनपति जग-वन्दन, संकर सुवन भवानी नन्दन।" तब राम के वंश के आदि पुरुष सूर्य का स्तवन किया है। फिर पार्वती-वल्लभ जगद्गुरु शिव का गुणगान किया है। यहीं से कल्याण का प्रशस्त पथ दृष्टिगोचर होता है। कलि को डराने-धमकाने के लिए भीषण मूर्ति भैरव का भी स्मरण किया गया है। फिर पार्वती, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट का वर्णन बड़ा ही विशद् और हृदयग्राही है। 'अब चित चेत चित्रकूटहिं चलु' में कवि की उत्कण्ठा प्रतिक्षण बढ़ती दिखाई देती है। इस प्रकार सभी मुख्य पात्रों की स्तुति करके उनसे राम-भक्ति की ही याचना की गई है। और फिर उपयुक्त अवसर पाकर महारानी सीता से महाराज से अपनी चर्चा चलाने की विनती की है—

'कबहुँक अंब अवसर पाय।
मेरिऔ सुधि द्यायबी कछु करुन कथा चलाइ।'

गोस्वामीजी ने उनसे भगवान के सामने अपना नाम बड़े चातुर्य से उपस्थित करने को कहा है—"नाम लै भरे उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ।" यह अस्पष्ट वाणी सुनकर राम को स्वभावतया जानने की उत्सुकता होगी और वे—

"बूझिहैं 'सो है कौन ?' कहिबि नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिओ बनि जाइ॥"

इस प्रकार सभी को अपने अनुकूल करके गोस्वामीजी ने रामचरित का संक्षेप में वर्णन किया है; फिर वन्दना, कृष्ण-स्तुति, दशावतार-विनय आदि की है। तदनन्तर तुलसी ने अपने स्वामी से अपना दैन्य निवेदन आरम्भ किया है। फिर किसी पद में जीव का असामर्थ्य, किसी में आत्मग्लानि और किसी में अत्याचार-पीड़ित मानव-समाज का प्रतिनिधित्व किया है। इस प्रकार २७६ पद तक पत्रिका लिखी तो गई परन्तु त्रिलोकेश्वर राम के दरबार में यह पत्रिका प्रस्तुत कौन करे। फिर हनुमान, लक्ष्मण, भरत आदि से प्रार्थना की, परन्तु

सेवक होने के नाते इतना बड़ा उत्तरदायित्व कौन लेता ? अन्त में राम के अपरिमित वात्सल्य-स्नेह के पात्र लक्ष्मण ने पत्रिका पेश की और तुलसी उपयुक्त अवसर पाकर पत्रिका के रूप में सभा में उपस्थित हो गये और—

"विहँस राम कह्यो—सत्य है, सुधि मैं हू लही है।"

इस पर—

"मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ-हाथ सही है।"

इस प्रकार विनय-पत्रिका में काव्योचित व्यवस्था और योजना का सम्यक् रीति से निर्वाह हुआ है। वास्तव में तुलसी ने यह पत्रिका कलि-काल की करालता से अत्यन्त दुखित होकर त्रिलोकेश्वर श्री रामचन्द्र जी के पास भेजी थी। भगवत्-कृपा से ही सांसारिक क्लेशों का दमन किया जा सकता है। भगवत्-कृपा की प्राप्ति के लिए तुलसी ने अनेक साधन बताए हैं। राम की भक्तिमणि को प्राप्त करने के लिए भक्त को केवल नाम स्मरण करना पड़ता है, यही सर्वप्रधान साधन है—

"सब साधन-फल कूप सरित सर, सागर सलिल निरासा।
राम-नाम-रति स्वांति-सुधा-सुभ-सीकर प्रेम-पियासा॥

इसीलिए तो भक्त-श्रेष्ठ तुलसी ने कहा है—

"राम रटु, राम रटु, राम जप जीहा।
राम नाम नव नेह-मेह को मन, हठि होहि पपीहा।"

'राम नाम' स्मरण करने से तो भवताप शान्त हो ही जाते हैं, परन्तु 'राम' शब्द को विपरीत रूप में रटने से भी मृत्यु-लोक गोपद बन जाता है। यदि आदि कवि वाल्मीकि 'राम-राम' रटने की अपेक्षा 'मरा-मरा' रटकर स्वर्गलोक में पहुँच सकते थे तो 'राम-राम' के स्मरण मात्र से तो जीव भगवत्-मिलन कर सकता है। भक्त जब राम का नाम-स्मरण करते-करते प्रभु के महत्त्व का अनुभव करने लगता है तो उसे स्वतः ही अपने लघुत्व का आभास होने लगता है। जिस प्रकार प्रभु का महत्त्व वर्णन करने में अलौकिक आनन्दानुभूति होती है उसी प्रकार अपना लघुत्व वर्णन करने में भी। प्रभु की अनन्त शक्ति के प्रकाश में अनन्त शील और सौंदर्य के दिव्यालोक में उसे अपनी असामर्थ्य, अपनी दीन दशा, यहाँ तक कि हृदयान्तर्गत विकारों का स्पष्ट

आभास होने लगता है और वह अपने को समस्त ब्रह्माण्ड में सर्वाधिक दीन-हीन पाता है। इस दृश्य के क्षोभ से भक्त की आत्मा पुकार उठती है—

'तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुञ्ज हारी॥
× × ×
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात मात सखा गुरु तू, सब बिधि हितू मेरो॥

इसीलिए तो अन्य सब आशाओं को छोड़कर तुलसी राम की शरण में जाते हैं और उनके प्रति अपना दासत्व-भाव स्वीकार करते हैं। भगवान के प्रति आत्मसमर्पण करने पर अब वही तो आश्रयदाता हैं। इसलिए तुलसी अपने हटी मन को समझाते है कि वह मृग-तृष्णा का पीछा छोड़कर भगवान की भक्ति रूपी गंगा में अवगाहन करे। परन्तु वह तो इतना हठी है कि काबू में आता ही नहीं। कितना ही समझाने पर इस मन की दशा ऐसी हो गई है कि राम-भक्ति रूपी पवित्र गंगा की धारा को छोड़कर कामना रूपी ओस-बिन्दुओं की याचना करता है। परन्तु जीव का स्वभाव ही ऐसा होता है। पतित-पावन प्रभु सारी कलुष कालिमा को क्षणमात्र में ही धो डालेगे, क्योंकि उन्होंने जटायु, अजामिल, इत्यादि पापियों को भी मुक्त कर दिया था। इसीलिए तो भक्त याचना करता है—

"काहे ते हरि मोहि बिसारो ?
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ संवारो ?"

इतना कहते-कहते कवि का गला रुँध जाता है, नेत्रों से प्रेमाश्रु स्रवित होने लगते है और राम के प्रेम के रंग में रँगा हुआ उसका प्रेमोन्मत्त हृदय स्वामी के शील-स्वभाव की ओर चला जाता है, पश्चात्ताप, लज्जा, विश्वास और मंगलाशा में डुबकियाँ लगाने लगता है—

"सुनि सीतापति सील सुभाऊ।
मोद न मन, तन पुलकि नैन जल, सो नर खेहरि खाऊ॥
× × ×
समुझि-समुझि मुनिग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाऊ।
तुलसिदास अनयास राम पद पइ हैं प्रेम-पसाऊ॥

इस अनुरोध से प्रभु-कृपा की याचना करते-करते अन्त में भक्त अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त कर लेता है। परन्तु इस कृपा के प्राप्त होने पर भी भक्त तुलसीदास मोक्ष की इच्छा नहीं करते, भक्ति ही चाहते हैं। दृढ़ भक्ति का वरदान और भक्ति-भावना का उत्तरोत्तर विकास, सारी विनय-पत्रिका का संचालन इसी मूल भावना से हुआ है। तुलसी प्रत्येक देवी-देवता, राम के अनुचर, भाइयों, सीता आदि सबसे राम-भक्ति की याचना करते हैं। राम-कृपा की याचना करते-करते तुलसी ने बीच-बीच में माया, जीव, ब्रह्म पर भी तर्क-वितर्क पूर्ण आलोचना करते हुए अपने आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों को स्पष्ट किया है। माया आदि पर तर्क-वितर्क करते हुए कभी तुलसीदास विशिष्टाद्वैतवादी, कभी अद्वैतवादी और कभी द्वैतवादी प्रतीत होते हैं। विभिन्न आलोचक उन्हें अपने-अपने मतानुसार किसी विशेष मत का अनुयायी बताते हैं। परन्तु वास्तव में ये रामानुजाचार्य जी की शिष्य-परम्परा में श्री रामानन्दजी के सिद्धान्तानुयायी थे। परन्तु उन्होंने अपनी समकालीन जनता को अनेक जंजालों से छुड़ाकर उनके लिए राम-रसायन तैयार किया जिसको पीकर जनता के हृदय की अग्नि शान्त हुई। उन्होंने अपनी ओर से किसी नये सिद्धान्त का प्रचलन न करके सभी सिद्धान्तों का समन्वित रूप तैयार किया। उन्होंने जो कुछ कहा सब-कुछ श्रुति सम्मत कहा। अशुभ के त्याग और शुभ के संग्रह में ही इनकी मौलिकता है। शुभ के इस समन्वित रूप से ही जनता संतुष्ट हो गई। तुलसी की वाणी में इतनी प्रभविष्णुता है कि आज निरक्षर निरपेक्ष को भी तुलसी के कुछ दोहे और चौपाइयाँ कण्ठस्थ होंगी। प्रत्येक आबाल-वृद्ध-नर-नारी उनके पुनीत नाम का स्मरण कर उनकी कृति-वाटिका में थोड़ा-बहुत विहार कर जीवन को सरस और आदर्शपूर्ण बनाने का यत्किंचित् प्रयास कर ही लेता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्त कवि तुलसीदास का अनुभूति-पक्ष कितना प्रबल, व्यापक और गम्भीर है। विनय-पत्रिका तो उनके सिद्धान्तों की सार-स्वरूपा है। जौहरी इस प्रेम-रत्न मंजूषा के भीतर सुरक्षित कितने ही विलक्षण रत्नों को पाकर अपने जीवन को सफलीभूत करते हैं। अनुभूति पक्ष के साथ-साथ अभिव्यक्ति-पक्ष भी सरस, प्रांजल और

मधुर बन पड़ा है। ध्वनि, रस, अलंकार, भावव्यंजना, आदि, सभी उनकी विद्वत्ता के द्योतक हैं। उसके सभी पदों में मधुर संगीत गूँज रहा है, जिसने निरक्षर निरपेक्ष व्यक्तियों को भी प्रेमोन्मत्त कर दिया है। विनय-पत्रिका का संगीत प्रत्येक सहृदय रसिक की हृत्-तन्त्री को झंकृत कर एक अपूर्व आनन्द की सृष्टि करता है। इस प्रकार उसमें साहित्यिक छटा का पूर्ण विकास दिखाई देता है। इसके साथ-साथ उनके काव्य में उक्ति वैचित्र्य और अर्थ-गौरव का सजीव वर्णन मिलता है। केवल चटकीले शब्दों की झिलमिलाहट और अलंकारों का कृत्रिम सौन्दर्य तो अनेक कवियों की रचनाओं को प्रकाशित करता है परन्तु अन्तःप्रकृति-चित्रण, व्यंजना-माधुर्य और प्रसाद आदि गुणों का समावेश प्रकृति-सिद्ध महात्माओं की वाणी में ही पाया जाता है। तुलसी का उक्तिवैचित्र्य और अर्थगौरव वस्तुतः स्तुत्य है।

गोस्वामीजी जब भव-व्याल के बन्धन में ग्रस्त होने लगे तब उनके भय का तो ठिकाना ही न रहा। जोर-जोर से अपनी रक्षार्थ स्वामी को पुकारने लगे। परन्तु स्वामी को रक्षा के हेतु पुकारने का ढंग भी कितना विलक्षण है—

"तुलसीदास भव-व्याल ग्रसित तब सरन उरग रिपु गामी।" 'उरग रिपु' से तात्पर्य गरुड़ से है जिसका अर्थ है सर्प का शत्रु। अतः भगवान को गरुड़गामी कहकर ही भक्त उनकी शरण में आता है। यहाँ अर्थ गाम्भीर्य और विलक्षणता के कारण ही भगवान को 'उरगरिपुगामी' कहकर सम्बोधित किया गया है। भक्त अपने रक्षार्थ गरुड़गामी को पुकारता है। परन्तु यदि भगवान न भी आ सकें तो अपने वाहन को ही भेज दें ताकि भगवान को विशेष कष्ट न उठाना पड़े। वाहन (गरुड़) आकर ही भवव्याल को ग्रस लेगा तो शरणागत की रक्षा स्वतः ही हो जायगी। कितना सुन्दर अर्थ-गाम्भीर्य और उक्ति-वैचित्र्य लक्षित होता है। इसी प्रकार "हौं सनाथ ह्वै हौं सही, तुमहुँ अनाथपति जो लघुतहि भितैहौं" में सुन्दर अर्थ-गाम्भीर्य मिलता है। भक्त प्रभु को केवल अपनी लघुता से डराने का प्रयास करके सनाथ बनना चाहता है। यदि प्रभु उसकी लघुता से नहीं डरेंगे तो उन्हें भी अनाथपति की पदवी ग्रहण करनी पड़ेगी। इस प्रकार गोस्वामी जी हृदय की सच्ची अनुभूति को अभिव्यक्त करते हुए प्रभु से उन्हें सनाथ करने की याचना करते हैं।

विनय-पत्रिका में अलंकारों, भावों और रसों का अभाव नहीं है। इस काव्य में शान्त रस का प्रभावशाली और मार्मिक विवेचन हुआ है। सूरदास के विनय के पदों में भी इतनी गम्भीर अनुभूति नहीं मिलती जितनी तुलसी के पदों में है। तुलसी के स्थायीभाव की प्रौढ़ता सूर में नहीं है क्योंकि तुलसी की उपासना दास्य भाव की थी। तुलसी की विनय-पत्रिका में शान्त रस का जितना परिपाक हुआ है, उतना मानस को छोड़कर हिन्दी साहित्य के अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं हो सका है। इसमें स्थायी भाव निर्वेद है और विभावादि में आलंबन हरि की कृपा है, क्योंकि—"तुलसीदास हरि कृपा मिटे भ्रम, जिय भरोस मन माँहीं।" उद्दीपन विभाव देवता, चित्रकूट, काशी, गंगा, यमुना आदि नदियाँ हैं—

'तुलसी जो राम पद चाहिए प्रेम।
सेइय गिर करि निरुपाधि नेम॥"

तत्पश्चात् अनुभाव, रोमांच, कम्प आदि हैं—

"सुनि सीतापति सील सुभाऊ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल
सो नर खेहर खाऊ।"

अनुभावों के साथ-साथ ग्लानि, गर्व, हर्ष, दीनता, आदि संचारियों का भी उद्बोधन होता है। उदाहरणार्थ—

१. दीनता—

"तुलसीदास निज भवनद्वार प्रभु दीजै रहन पर्यौ।"

२. हर्ष—

"पावन किये रावन-रिपु तुलसिहु से अपतै॥"

३. गर्व—

"तुलसिदास अनयास राम-पद पाय है प्रेम पसाउ।"

इस प्रकार विनय-पत्रिका में विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से शान्त रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

तुलसी के काव्य में अलंकारों की रमणीयता भी दर्शनीय है। व्याज-स्तुति, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से कवि ने कविता-कामिनी के

मोहक रूप को और भी सुसज्जित कर दिया है। प्रकृति-सुन्दरी कविता-कामिनी को, जो स्वाभाविक रूप से ही सौन्दर्यशालिनी है, कृत्रिम अलंकारों की आवश्यकता ही क्या ? फिर भी जिन अलंकारों का प्रयोग कवि ने किया है वे स्वाभाविक हैं, सप्रयोजन सिद्ध नहीं। व्याज-स्तुति की सुषमा का दिग्दर्शन करना हो तो "बावरो रावरो नाह भवानी", और यदि रूपक का आनन्द लूटना हो तो "देखो देखो बन बन्यो आज उमाकान्त', 'सब सोच विमोचन चित्रकूट' आदि पदों का अनुशीलन स्पृहणीय है।

भाषा पर तो गोस्वामीजी का पूर्ण अधिकार था। भाषा उनके इंगितों और भावों पर चलती थी। उन्होंने जन-साधारण और विज्ञ-समाज के ही उपयुक्त भाषा का प्रयोग किया है। व्यर्थ के शब्द ठूँसकर भाषा को शुष्क और कठोर बनाने का प्रयास नहीं किया। मुहावरों का मेल, स्वाभाविक अनुप्रासों की छटा, वाक्य-विन्यास-पटुता, उक्ति-सौन्दर्य, ओज, प्रसादगुण और सुगठित शैली—ये सभी विशेषतायें उनकी भाषा में स्वभावतः आ जाती हैं। उनकी भाषा में अवधी, बुन्देलखण्डी, संस्कृत और व्रजभाषा का सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। विनय-पत्रिका की भाषा में एक सजीवता और प्रवाह है। आदि के कुछ पदों में भले ही भाषा कुछ क्लिष्ट जान पड़े परन्तु वह केशव आदि कवियों की भाँति क्लिष्टता और कठोरता के सूत्र में बँधी है। ओज के बाहुल्य के साथ-साथ प्रसादगुण की प्रधानता भी दर्शनीय है—

गल कंबल वरुना विभूति जनु लसति सरिता-सी।
लोल दिनेस त्रिलोचन, करन घंट घण्टा-सी॥

भाषा का कितना सुन्दर प्रवाह है, माधुर्य और प्रसाद की सुगन्ध तो शब्द-प्रतिशब्द में मिलती है। वास्तव में उनका प्रत्येक शब्द प्रभावोत्पादक, सजीव, और सुन्दर है। उनकी शैली मधुर, विलक्षण और हृदय-ग्राहिणी है। भाषा में स्वर संगीत की लहरियों से झंकृत होते हुए निकलते हैं। उनकी भाषा ने संगीत-स्रोत के प्रवाह में यथेष्ट योग दिया है। विनय-पत्रिका में संगीत-सौन्दर्य की रमणीयता दर्शनीय है। सम्पूर्ण रचना गेय पदों में की गई है। उसमें विचारों की एकरूपता संक्षिप्त होकर व्यक्तित्व को साथ ले संगीत के सहारे प्रकट होती है। कवि ने संगीत का आश्रय लेने के कारण राग-रागनियों का

भी प्रयोग किया है। कवि स्वयं ही गायक थे अतः भावानुकूल प्रत्येक रागिनी का प्रयोग कर वे सुन्दर संगीतमयी रचना करने में कृतकार्य हो सके। उनकी रचना पिंगल के अनुरूप नहीं वरन् स्वर-ताल के अनुरूप हुई है। इस प्रकार २१ रागों में उन्होंने विनय-पत्रिका में आत्म-निवेदन किया है।

प्रश्न १०—सिद्ध कीजिये कि विनय-पत्रिका भक्तों के हृदय का सर्वस्व है और भक्ति की पूर्ण पद्धति इसके भीतर दिखाई देती है।

उत्तर—विनय-पत्रिका में तुलसी की भक्ति-भावना का व्यापक रूप में उन्मेष हुआ है। उन्होंने उसमें अपना हृदय खोलकर रख दिया है तथा भक्ति की पूर्ण पद्धति का अनुसरण करते हुए राम से अपने उद्धार की प्रार्थना की है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ भक्तों के हृदय का सर्वस्व बन गया है। प्रारम्भ से अन्त तक हम उसमें तुलसी के भक्त हृदय की अद्भुत तन्मयता का दर्शन करते हैं।

तुलसी की भक्ति-पद्धति का प्रथम सोपान राम के प्रति अनुराग और जगत् के प्रति विराग-भाव का जागरण है। भक्त जब संसार से अपने मन को मोड़-कर उसे राम के चरणों में लगाता है, तभी वह भक्ति के प्रथम सोपान पर चढ़ता है। किन्तु ऐसा कर सकना जीव के लिए सरल नहीं है। इसीलिए भक्त तुलसी ने विनय-पत्रिका के प्रारम्भ में 'राम-चरण-रति' प्राप्त करने की विभिन्न देवी-देवताओं से याचना की है। भक्त के हृदय की राम के प्रति यह रागात्मकता ही उसे भक्ति के विशाल क्षेत्र मे प्रवेश करने का अधिकार दिलाने वाली है। अतः तुलसी कहते हैं—

> मांँगत तुलसिदास कर जोरे।
> बसहिं रामसिय मानस मोरे।

तथा—

> वेद-पुरान प्रगट जस जागै।
> तुलसी राम-भगति बर माँगै।

आगे शिवजी से भी उन्होंने ऐसी ही याचना की है—

> देहु काम-रिपु, राम-चरन-रति,
> तुलसिदास कहँ कृपानिधान॥

जब भक्त को 'राम-चरण-रति' मिल जाती है, तब वह स्वतः भक्ति के आगे के सोपानों पर चढ़ने लगता है। उस समय उसे सांसारिक सुखों की कामना नहीं रहती। तभी उसे संसार के प्रति विमल वैराग्य प्राप्त होता है। यह वैराग्य ही राम-भक्ति के क्षेत्र का आगे का सोपान है। किन्तु यह वैराग्य प्राप्त करने के लिए तुलसी को अपने मन को बार-बार प्रबोधन देना पड़ता है—

मन, इतनोई या तन को परम फलु।
सब अंग सुभग बिन्दुमाधव-छबि,
तजि सभाव, अवलोक एक पलु॥

तथा—

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु,
करम, बचन अरु ही ते॥

× × ×

अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़,
त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी।
कहुँ, विषय-भोग बहु घी ते॥

वे आगे कहते हैं—

मन मेरे, मानहिं सिख मेरी।
जो निज भक्ति चहै हरि केरी॥
उर आनहि प्रभु-कृत हित जेते।
सेवहि तजे अपनपौ चेते॥
दुख-सुख अरु अपमान-बड़ाई।
सब सम लेखहि विपति बिहाई॥
सुनु सठ काल-ग्रसित यह देही।
जनि तेहि लागि बिदूषहि केही॥
तुलसिदास बिनु असि मति आये।
मिलहिं न राम कपट-लौ लाये॥

इसीलिए तुलसी यह भी कहते हैं कि मन यदि समझा नहीं, उसमें वैराग्य-भाव नहीं आया, तो वह 'राम-चरन-रति' के अभाव में भक्ति के क्षेत्र में विहार नहीं कर सकता। पहले कहा जा चुका है कि भक्ति के दुर्ग पर आरोहण करने के लिए वैराग्य भाव एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। तुलसी वैराग्य के अभाव में भक्ति का भी अभाव मानते हैं—

मैं जानी हरिपद-रति नाहीं।
सपनेहुँ नहिं विराग मन माहीं।
जो रघुबीर-चरन अनुरागे।
तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे॥

'वैराग्य' के पश्चात् तुलसी की 'भक्ति-पद्धति' में 'सन्तोष' का सोपान आता है। जिसके मनोरथ सन्तोष की सीमा का स्पर्श नहीं करते वह भक्ति की पूर्णता को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है ? विनय-पत्रिका में भी तुलसी ने इसीलिए यह कामना व्यक्त की है कि—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा ते सन्त सुभाव गहौंगो।
जथालाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।

जब जीव इस पथ पर अग्रसर हो जाता है, तभी उसे अविचल हरि-भक्ति की प्राप्ति होती है—

तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि,
अबिचल हरि-भक्ति लहौंगो॥

भक्त के लिए विनम्र होना भी अत्यन्त आवश्यक है। जब तक 'अहं' भाव शेष रहता है, तब तक भक्ति नहीं की जा सकती। 'विनय-पत्रिका' में तुलसी की विनम्रता अत्यन्त विशद् रूप में चित्रित हुई है। उनका दैन्य चरम सीमा को पहुँच गया है। भक्त के हृदय की पूर्णता हमें तुलसी के दैन्य को चित्रित करने वाले पदों में अत्यन्त सरस रूप में दृष्टिगोचर होती है। यथा—

मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई।
हौं तो साईं-द्रोही, पै सेवक-हित साईं॥

राम सो बड़ो है कौन, मोसो कौन छोटो ।
राम सो खरो है कौन, मोसो कौन खोटो ।।
लोक कहै राम को गुलाम हौं कहावौं ।
एतो बड़ो अपराध भो, न मन बावों ।।
पाथ-माथे चढ़े तृन तुलसी ज्यों नीचे ।
बोरत न बारि ताहि जानि आपु सींचे ।।

इन पंक्तियों में सचमुच भक्त का सच्चा हृदय बोल रहा है । ये पंक्तियाँ विनय-पत्रिका को भक्तों के हृदय का सर्वस्व घोषित करती हैं । एक अन्य उदाहरण देखिये जिसमें भक्त हृदय की पूर्ण झाँकी मिलती है—

कहाँ जाउँ, कासों कहौं, को सुनै दीन की ।
त्रिभुवन तुही गति सब अंगहीन की ।।
जग जगदीस घर घरनि घनेरे हैं ।
निराधार के अधार गुनगन तेरे हैं ।।
गजराज-काज खगराज तजि धायो को ।
मोसे दोष-कोष पोसे, तोसे माय जायो को ।।
मोसे क्रूर कायर कुपूत कौड़ी आध के ।
किये बहु मोल ते करैया गीध स्राध के ।।
तुलसी की तेरे ही बनाये, बनि, बनैगी ।
प्रभु की बिलम्ब-अम्ब दोष-दुख जनैगी ।।

भक्ति को प्रेमरूपा तथा गोपा नामक दो भेदों में विभाजित किया गया है । गोपा भक्ति को सात्विकी, राजसी तथा तामसी नाम के तीन उपभेदों में विभाजित किया गया है । सात्विकी भक्ति में उपासना प्रधान होती है, राजसी भक्ति मूर्तिपूजा-परक होती है तथा तामसी-भक्ति हिंसा पर आधारित होती है । तुलसी की विनय-पत्रिका में प्रेमरूपा भक्ति की प्रधानता है, साथ ही सात्विकी गोपा भक्ति को भी स्थान मिला है । वे कहते हैं—

संसय जप तप नेम धरम ब्रतबहु भेषज समुदाई ।
तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेमहीन नहिं जाई ।

किन्तु प्रेमरूपा भक्ति भक्त की तीन कोटियों पर आधारित रहती है ।

भक्त का प्रेम 'गौण', 'मुख्य' और 'अनन्य' तीन प्रकार का होता है। तुलसी का प्रेम 'अनन्य प्रेम' है। अतः उनकी भक्ति भी 'अनन्य भक्ति' है। वे स्वयं को चातक और राम को मेघ मानकर अपनी भक्ति की तन्मयता प्रदर्शित करते हैं। उन्होंने इस तन्मयता के कारण मोक्ष की भी उपेक्षा की है। वे अपनी भक्ति का कोई प्रतिफल नहीं चाहते—

चहौं न सुगति, सुमति संपति,
कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग नाथ-पद,
बढ़ौ अनुदिन अधिकाई।

तुलसी ने अपनी निष्काम भक्ति 'दास्य' और 'आत्मनिवेदन' भावों के साथ व्यक्त की है। भक्त के निर्मल हृदय की झाँकी हमें उनकी इस प्रकार की उक्तियों में मिलती है। यथा—

(१) नातो नेह नाथ सो करि सब नातो नेत बहैं हौं।
यह छर भर ताहि तुलसी जग जाको दास कहैं हौं॥
(२) यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरे।
तुलसिदास यह बिपति बाँगुरो तुमहि सों बनै निबेरे॥

तुलसी ने नवधा भक्ति की पद्धति का भी अनुसरण विनय-पत्रिका में किया है और इस प्रकार भक्त-हृदय की अद्भुत झाँकी प्रस्तुत की है। भगवान के नाम, रूप और गुणादि का स्मरण करते हुए वे लिखते हैं—

नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौं दिन राति।

भगवान के चरणों की सेवा का उदाहरण हमें इन पंक्तियों में मिलता है—

श्री हरि-गुरु-पद-कमल भजतु मन तजि अभिमान।
जेहि सेवत पाइय हरि सुख-निधान भगवान॥

भगवान् की वंदना का उदाहरण—

बन्दौं रघुपति करुना निधान।
जाते छूटै भव भेद-ग्यान॥

दास्य भाव का उल्लेख—

माथ नाइ, नाथ सौं, कहौं हाथ जोरि खर्यौ हौं।

तथा आत्म-समर्पण का भाव इन पंक्तियों में व्यक्त है—

जाउँ कहाँ, ठौर है कहाँ देव ! दुखित दीन को।

इस प्रकार नवधा भक्ति की पद्धति का अनुसरण करते हुए तुलसी भक्ति की उच्चतम अवस्था को पहुँच गए हैं। वे स्वयं को सब प्रकार से पापी और दोषी ठहराते हैं तथा आराध्य की पवित्रता तथा श्रेष्ठता का बार-बार बखान करते हैं। वे कहते हैं—

कैसे देउँ नाथहिं खोरि।
काम-लोलुप भ्रमत मन हरि, भगति परिहरि तोरि॥

तथा—

है प्रभु मेरोई सब दोसु।
सीलसिंधु, कृपालु नाथ अनाथ, आरत-पोसु॥

उन्होंने यहाँ तक कह दिया है कि—

प्रभु की बड़ाई बड़ी आपनी छोटाई छोटी।
प्रभु की पुनीतता आपनी पाप-पीनता॥

वे अपने मुख से किसी अन्य का नाम उच्चरित नहीं करना चाहते। वे राम के सिवाय अन्य किसी के भी नहीं हैं। अतः कहते हैं—

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं।
जानकी जीवन ! जनम जग ज्यायो
तिहारेहि कौर को हौं॥

उन्हें राम के अतिरिक्त अन्य किसी का भी भरोसा नहीं है—

भरोसो नाहिं दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो॥

भक्त की राम के प्रति यह अटूट आसक्ति विनय-पत्रिका की भक्ति की श्रेष्ठता को व्यंजित करती है—

राम रावरो नाम मेरे मातु पितु है।
सुजन सनेही गुरु साहिब सखा सुहृद।
राम नाम प्रेम मन अविचल बितु है।

सारांश यह कि विनय-पत्रिका में भक्ति की पूर्ण पद्धति दिखाई देती है। तुलसी ने अपनी अनन्यता का चित्रण करके उसे भक्तों के हृदय का सर्वस्व बना दिया है।

प्रश्न ११—गीत परम्परा का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हुए विनय-पत्रिका का उसमें स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर—संगीतात्मक छन्द को गीत कहा जाता है। काव्य संगीत का समावेश हृदय के भावों की मधुरतम अभिव्यक्ति के साथ होता है। अतः अनुभूति की कोमलता के साथ, भाषा की सुकुमारता भी उसका अनिवार्य अंग बन जाती है। यही कारण है कि काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप 'गीत' माना जाता है। पाठक के हृदय को भावावेश में लाने की सर्वाधिक शक्ति गीत में होती है। उसमें हृदय अनुभूति के माधुर्य की परिधि पर घूमकर केन्द्राभिमुखी हो जाता है। अतः गीत का आकार भी लघु होता है। शब्द-चयन, भावाभिव्यक्ति एवं छन्द-योजना के क्षेत्रों में गीत की कुछ मर्यादाएँ होती हैं। इन मर्यादाओं में बँधकर जब कवि की वाणी मुखर होती है, तभी गीत का जन्म होता है।

भारतीय साहित्य में गीत की परम्परा बहुत प्राचीन है। आर्यों के आदि साहित्य 'वेदों' से ही 'गीत' का उद्भव माना जाता है। सामवेद गान-विद्या का ही वेद है। ऋग्वेद आदि की ऋचाएं भी गेयता के गुण से युक्त हैं। संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकि के पश्चात् गीतों की एक दीर्घ परम्परा मिलती है। प्राकृत आदि भाषाओं ने जब साहित्य को लोक-जीवन के निकट प्रस्तुत किया तब लोकगीतों की परम्परा उद्भूत हुई, जो अब तक चली आ रही है। नाटकों की परम्परा संस्कृत में बहुत पुरानी है। उनमें भी गीतों को स्थान मिला है। कालिदास आदि श्रेष्ठ कवियों के काव्य एवं नाटक गीत-तत्त्व से युक्त मिलते हैं। 'गीत गोविन्द' संस्कृत की गीत-काव्य सम्बन्धी अत्यधिक लोकप्रिय पुस्तक है, जिसने हिन्दी में विद्यापति—जैसे गीतकारों को जन्म दिया। हिन्दी का भक्ति-काल गीत-तत्त्व को अपनाने में सबसे आगे रहा। हम इस काल के सभी प्रमुख कवियों की रचनाओं में गीत-तत्त्व का विकास देखते हैं। सूर और मीरा इस काल के सबसे अधिक मधुर गायक माने जाते हैं। तुलसी भी अपने युग की

इस गीतोन्मुखी प्रवृत्ति की उपेक्षा नहीं कर सके। उनकी गीतावली, कृष्ण-गीतावली तथा विनय-पत्रिका आदि रचनाएं इस बात का अटल प्रमाण हैं।

तुलसी के परवर्ती कवियों ने भी गीत-परम्परा का क्रम नहीं तोड़ा। रीति-काल में देव, पद्माकर, सेनापति आदि कवियों के कवित्त-सवैये स्फुट रूप में उसी प्रवृत्ति का फल हैं, यद्यपि ये कवि अपने युग की कतिपय अन्य प्रवृत्तियों के कारण गेय पदों की रचना करने के लिए उत्साहित नहीं हुए। आधुनिक युग में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ही उस परम्परा का पोषण पुनः प्रारम्भ हुआ और छायावादी युग में आकर वह खूब फूली-फली। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार आदि छायावादी कवियों के अतिरिक्त, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान आदि ने अनेक अत्यन्त सुन्दर गीत लिखे। आज-कल भी हमें वह परम्परा आगे बढ़ती दिखाई देती है, अनेक कवि सुन्दर तथा सरस गीतों की रचना करने में व्यस्त हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि वीरगाथाकाल से आज तक अटूट रूप में चली आती हुई इस गीत-परम्परा में विनय-पत्रिका का क्या स्थान है?

विनय-पत्रिका तुलसीदास की एक श्रेष्ठ भावपूर्ण मुक्तक-काव्य-कृति है। इस काव्य में उन्होंने 'पद' की शैली का प्रयोग किया है। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में इस शैली का प्रयोग कई कवियों ने किया है। अष्टछाप के सभी कवियों की रचनाएं पद-शैली में ही मिलती हैं। मीरा का बृहत् मधुर-काव्य भी पदों में ही लिखा गया है। कबीर ने भी पदों में ही अपने भाव व्यक्त किए हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, तुलसी ने पदों की शैली में गीतावली, कृष्ण-गीतावली एवं विनय-पत्रिका नामक तीन बड़े ग्रन्थों की रचना की है। गीतावली और कृष्ण-गीतावली में भी सरस पदों को स्थान मिला है, किन्तु विनय-पत्रिका के पद उनकी सरसता से भिन्न कोटि की सरसता रखते हैं। उनमें गीतावली या कृष्ण-गीतावली की तरह राम या कृष्ण के चरित्रों को प्रधानता नहीं दी गई। मीरा ने अपने पदों में अपनी विरह-व्यथा की विस्तार से व्यंजना की है। विनय-पत्रिका में उस प्रकार की विरह-व्यंजना को भी कोई स्थान नहीं मिला है। कबीर के समान घट के भीतर की बात भी तुलसी ने विनय-पत्रिका के पदों में नहीं बताई। उसमें उनका भक्त-हृदय मुखर हुआ है। सूर ने अपने

विशाल ग्रन्थ 'सूरसागर' की रचना भी पदों में की है, किन्तु वे भी उसमें कृष्ण-चरित्र के अवगाहन में लगे रहे हैं। पर विनय-सम्बन्धी पदों का भी उसमें अभाव नहीं और उन्हीं पदों से तुलसी की विनय-पत्रिका की तुलना की जा सकती है। तुलसी के पूर्व या पश्चात् उनके समान क्रमबद्ध सुनियोजित रूप में विनय-पत्रिका की-सी रचना पद-शैली में किसी अन्य कवि ने नहीं की। सूर के विनय सम्बन्धी पदों का विनय-पत्रिका के पदों की तुलना में कहीं अधिक महत्त्व है।

अतः यह निश्चित हो जाने पर कि पद-शैली में लिखित विनय-साहित्य में तुलसी की विनय-पत्रिका ही एकमात्र चमकता हुआ अद्भुत नक्षत्र है, हमें उसके गीत-तत्त्व की परख करके उसके गीत-परम्परान्तर्गत विचारणीय मूर्धन्य स्थान का स्वरूप स्पष्ट कर देना चाहिए।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, छन्द में संगीत का समावेश होने पर ही गीतकाव्य का जन्म होता है। अतः देखना यह है कि तुलसी ने विनय-पत्रिका में जिस छन्द का प्रयोग किया है, उसमें संगीत का समावेश किस सीमा तक हुआ है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए हम विनय-पत्रिका के पदों की परख यह देखकर कर सकते हैं कि उसमें ऐसे पद कितने हैं जिन्हें वाद्य-यन्त्रों के साथ गाया जा सके। वाद्य-यन्त्रों पर कोई छन्द गाया जा सकता है या नहीं इसका निर्धारण इस बात से हो जाता है कि यदि वह छन्द राग-रागिनी के आधार पर लिखा गया है तो वह गाया जा सकता है, अन्यथा नहीं गाया जा सकता। अब देखना यह है कि विनय-पत्रिका के कितने पदों में राग-रागनियों का प्रयोग हुआ है।

हम देखते हैं कि तुलसी ने लगभग सभी पदों की रचना किसी-न-किसी राग-रागिनी में की है। कुछ उदाहरण इस सम्बन्ध में पर्याप्त होंगे। निम्नाङ्कित पद में असावरी राग मिलता है—

इहै परम फलु परम बड़ाई।
नखसिख रुचिर बिन्दुमाधव-छबि निरखहि नयन अघाई॥
बिसद, किसोर, पीन, सुन्दर, बपु, स्याम सुरुचि अधिकाई।
नीलकंज, बारिद तमाल मनि इन्ह तनु ते दुति पाई॥
मृदुल चरन सुभ चिन्ह, पदज नख अति अद्भुत उपमाई।

× × × आदि

नम्नांकित पद भैरवी राग में गाया जा सकता है—

मन पछितैहै अवसर बीते ।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते ।।
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते ।
हम हम करि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठ रीते ।।
× × × आदि

अब केदारा का भी एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ ।।
दीन सब अंगहीन छीन मलीन अघी अघाइ ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ।।
बूझि हैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ।।
जानकी जगजननि जन की किये बचन सहाइ ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ-गुनगन गाइ ।।

इसी प्रकार विनय-पत्रिका के अन्य पदों को भी विभिन्न रागों में विभाजित किया जा सकता है । हमें समस्त विनयपत्रिका के पदों में कल्याण, कान्हरा, गौरी, धनाश्री, मलार, रामकली, टोढ़ी, मारू, बिलावल आदि अनेक राग मिलते हैं । इस प्रकार समस्त विनयपत्रिका संगीत की तुला पर तुल जाती है । हम उसके सभी पदों को वाद्ययन्त्रों पर सरलता से गा सकते हैं ।

एक बात और ध्यान देने की यह है कि तुलसी ने बड़ी सफलता से विभिन्न रागों में अपने भावों को व्यक्त किया है । रागानुकूल भाव-व्यंजना ही इस बात का प्रमाण है कि तुलसी विनयपत्रिका को एक सफल व श्रेष्ठ गीत-काव्य का रूप देने में सफल सिद्ध हुए हैं । उदाहरणार्थ उन्होंने अपने करुण भाव को मलार, असावरी, केदारा, सोरठ, जयतिश्री आदि रागों में व्यक्त किया है, उपदेश भावना की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने प्राय: भैरवी, धनाश्री तथा भैरव आदि रागों को अपनाया है । शरण कामना की अभिव्यक्ति ललित, सारंग आदि रागों में की है तथा दण्डक, टोढ़ी, रामकली आदि रागों में उन्होंने वर्णनों को स्थान दिया है । यह सब होते हुए भी कहीं भी विनयपत्रिका में रागरागिनी का

मार भाव को आक्रांत करता दिखाई नहीं देता। सर्वत्र सरल, सरस तथा सुकुमार शब्दावली में सरस एवं कोमल भावों की व्यंजना हुई है तथा जहाँ कर्कश वर्णों की आवश्यकता हुई है वहाँ तुलसी ने उसकी भी उपेक्षा नहीं की है। हम विनयपत्रिका के पदों को गाते-गाते केवल संगीत में ही तन्मय नहीं होते अपितु कवि के भाव में सबसे अधिक निमग्न होते हैं। कवि के हृदय में भाव जिस क्रम से उद्‌बुद्ध होकर पदों में अभिव्यक्त हुए हैं, उसी क्रम से हम भी उनमें अवगाहन करने लगते हैं। यही कारण है कि भाव की तीव्रता प्रथम पंक्ति के पश्चात् उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और अन्त में उसमें क्रमशः उतार आता है। विनयपत्रिका का कोई भी पद इस दृष्टि से परखा जा सकता है।

अतः यह निष्कर्ष सहज ही प्राप्त किया जा सकता है कि गीति-काव्य परम्परा में गीति-तत्त्व की दृष्टि से तुलसी की विनयपत्रिका का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। हम उसमें भाव एवं संगीत का अद्‌भुत सामंजस्य पाते हैं। तुलसी के पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी भी अन्य कवि ने, केवल सूर इसके अपवाद हैं, स्वानुभूति की व्यंजना के लिए पद-शैली में ऐसा सामंजस्य उपस्थित नहीं किया है।

प्रश्न १२—'विनयपत्रिका' में तुलसी की जो भक्ति-भावना व्यक्त हुई है, उसकी 'भ्रमरगीत' के रचयिता सूर की भक्ति-भावना से संक्षेप में तुलना कीजिए।

उत्तर—तुलसी और सूर दोनों ही भक्त कवि थे। दोनों ने क्रमशः राम और कृष्ण को आराध्य मानकर काव्य-रचना की। दोनों भगवान के निर्गुण रूप में भी विश्वास करते थे, किन्तु भक्ति के लिए वे सगुण रूप को ही स्वीकार करते थे। राम और कृष्ण को दोनों कवियों ने उसी ईश्वर का लीलावतार माना था। उनकी दृष्टि में जो ब्रह्म अव्यक्त, अनादि, अजन्मा और निर्गुण है, वही जब लीला करना चाहता है, तब धराधाम पर अवतीर्ण होता है। ब्रह्म की सबसे बड़ी लीला तो समस्त जड़-चेतनमय सृष्टि है, जो उसी के विराट रूप की अभिव्यक्ति है। इसी सृष्टि में जब पाप बढ़ जाते हैं तब वह ब्रह्म अवतार लेकर पापात्माओं का संहार करता है। सूर और तुलसी दोनों कवि ऐसे ही लीलावतारी ब्रह्म के उपासक हैं, क्योंकि वह साकार होने के कारण भक्ति द्वारा प्राप्य

है, साथ ही उसका एक लोक-मंगलकारी रूप भी है। अतः दोनों कवियों का उपास्य 'ब्रह्म' का ऐसा रूप है, जिसकी प्राप्ति मे दोनों ने स्वार्थ एवं परार्थ की पूर्ति का दर्शन किया है।

तुलसी ने विनयपत्रिका की रचना करके अपने आराध्य भगवान राम को कलियुग के विरुद्ध अपनी शिकायत सुनाई है। तुलसी स्वयं तो कलि की यातनाओं से पीड़ित हैं ही, साथ ही वे लोक-जीवन की पीड़ा का भी अनुभव कर रहे हैं। अतः सभी देवताओं को प्रसन्न करते हुए वे राम के दरबार में अपना प्रार्थना-पत्र ले पहुँचते हैं। वहाँ पहुँचकर वे विभिन्न प्रकार से आत्म-हीनता, आत्म-ग्लानि, आत्म-व्यथा आदि का वर्णन करते हैं, अपने पथ-भ्रष्ट होने का कारण भी बतलाते हैं और फिर अपनी अनन्य-भक्ति का परिचय देते हुए अपने आराध्य से अनन्य-भक्ति की याचना करके अपने उद्धार की आशा करते हैं। वे अनेक देवताओं की स्तुति करते हुए राम की शरण में पहुँचते हैं किन्तु वे देवता उनके उपास्य नहीं हैं, उपास्य तो एकमात्र राम हैं। उन्होंने प्रत्येक देवता से राम की भक्ति की ही याचना की है। इस प्रकार तुलसी की भक्ति-भावना का एक निश्चित रूप मिलता है। उनकी भक्ति में चातक की अनन्यता का आदर्श निहित है। वे स्वयं कहते हैं—

राम रटु, राम रटु, राम जपु जीहा।
रामनाम-नवनेह मेह को, मन हठि होहि पपीहा॥
सब साधन-फल कूप-सरित-सर-सागर-सलिल निरासा।
रामनाम-रति स्वाति-सुधा सुभ-सीकर प्रेमपियासा॥
गरजि तरजि पाषान बरषि पबि, प्रीति परखि जिय जानै।
अधिक-अधिक अनुराग उमंग उर, पर परिमिति पहिचानै॥
रामनाम-गति रामनाम मति, रामनाम-अनुरागी।
ह्वै गये हैं, जे होहिंगे, त्रिभुवन तेइ गनियत बड़भागी॥
एक अंग मग अगम गवन कर, बिलमु न छिन छिन छाहैं।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि, निरुपधि नेम निबाहैं॥

सूर ने 'भ्रमरगीत' की रचना एक विवाद को लेकर की है। वह विवाद है निराकार और साकार की उपासना का। वे निर्गुण-निराकार में विश्वास करते हुए भी उसे भक्ति द्वारा प्राप्य नहीं मानते। जो ब्रह्म अव्यक्त और

अनादि है, वही उनकी दृष्टि में अवतार लेता है। बल्लभाचार्य के मतानुसार वह ब्रह्म शंकराचार्य का 'आध्यात्मिक ब्रह्म' नहीं, अपितु उससे भी एक श्रेणी उच्च आधिदैविक ब्रह्म है, जो 'सच्चिदानन्द' कहलाता है। वह लीला की इच्छा से अपनी शक्ति के द्वारा 'सत्' रूप जगत्, एवं 'सत् चित्' रूप जीव की उत्पत्ति करता है। वह स्वयं सत्, चित् एवं आनन्दमय होने के कारण गोलोक में मुक्तात्माओं के साथ लीला-विहार करता है। धराधाम पर गोकुल उसका गोलोक, गोपियाँ, मुक्त जीवात्माएँ तथा श्रीकृष्ण उसी ब्रह्म के लीलावतार हैं। अतः गोकुल में की गई श्रीकृष्ण की जो लीलाएँ हैं, वे उसी ब्रह्म की लीलाएँ हैं। इस प्रकार वह आधिदैविक ब्रह्म-ज्ञान और योग के द्वारा प्राप्य नहीं है, अपितु प्रेम और भक्ति द्वारा प्राप्य है। यही विवाद का वह अन्त है, जो भ्रमरगीत का प्रतिपाद्य विषय है। इस प्रकार सूर ने 'भ्रमरगीत' में केवल भक्ति भावना की ही अभिव्यक्ति नहीं की है, भक्ति के महत्त्व एवं मार्ग का भी प्रतिपादन किया है। उनके भ्रमरगीत का यह सिद्धान्त-पक्ष इतना स्पष्ट है कि भावना-पक्ष से अधिक प्रबल हो गया है। तुलसी की विनयपत्रिका में सूर के समान किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन का आग्रह दिखाई नहीं देता, वे भक्ति के जिस मार्ग पर चल रहे हैं, उस पर उनकी अपनी अटल आस्था है और वही परोक्षतः उनका सिद्धान्त-पक्ष है। इस प्रकार की स्पष्ट उक्तियाँ हमें 'भ्रमरगीत-सार' में तो अनेक मिलती हैं किन्तु विनयपत्रिका में एक भी नहीं—

हमरे कौन जोग व्रत साधै ?
मृगत्वच, भस्म, अधारि, जटा को को इतनौ अवराधै।
जाकी कहूँ थाह नहिं पैए अगम अपार अगाधै।
गिरिधर लाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै ?
आसन पवन विभूति मृगछाला ध्याननि को अवराधै ?
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै ?

सूरदास की भक्ति-भावना में जहाँ ज्ञान का स्पष्टतः विरोध मिलता है, वहाँ तुलसी ने ज्ञान को अपनी भक्ति-भावना में प्रमुख स्थान दिया है। वे कहते हैं कि जब तक जीव को अपनी तथा जगत की स्थिति का ज्ञान नहीं होता तब तक वह भक्ति-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। इसीलिए वे बार-बार

जीव को ज्ञान का आश्रय लेने को कहते हैं—

जागु जागु जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी ।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी ॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति संताप रे ।
बूड़्यो मृग बारि, खायो जेबरी को साँप रे ॥

तथा—

जग नभवाटिका रही है फल फूलि रे ।
धुवाँ के से धौरहर देखि तू न भूलि रे ॥

किन्तु यह ज्ञानावस्था भी तुलसी के मतानुसार जीव को तभी प्राप्त होती है, जब उस पर ईश्वर की कृपा होती है । इसीलिए उन्होंने कहा है—

हे हरि, कस न हरहु भ्रम भारी ।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥

वस्तुतः सूर और तुलसी की भक्ति-भावना का यह आधारित अन्तर उनके दार्शनिक विश्वासों की भिन्नता के कारण है । तुलसी ने शंकराचार्य के मायावाद पर किसी सीमा तक विश्वास किया है, किन्तु सूर उसके एकदम विरोधी हैं । तुलसी ने जहाँ विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के निचोड़ पर अपनी भक्ति-भावना का रूप निर्धारित किया है, वहाँ सूर में बल्लभाचार्य के पुष्टि सिद्धान्त की मान्यता प्रधान है । इसीलिए सूर के लिए गोकुल ही गोलोक है, परन्तु तुलसी के लिए गोकुल तो क्या समस्त जगत् ही मिथ्या है । अतः जिस प्रकार सूर ने गोपी भाव की भक्ति को स्वीकार किया है तथा सख्य भाव की विनयावली प्रस्तुत की है, वैसी भक्ति भावना तुलसी में नहीं मिलती । सूर में यदि प्रेम की प्रधानता है, तो तुलसी में सेवा की प्रधानता है । सूर यदि भक्ति के क्षेत्र में आत्म-विस्मृति को प्रधानता देते हैं तो तुलसी आत्म-बोध को । सूर में इसीलिए तुलसी-जैसी अनन्यता नहीं है और क्यों हो—सूर का भक्त तो भगवदनुग्रह होते ही गोलोक बिहारी के साथ आनन्द-लीला करने का सीधा अधिकारी हो जाता है । वहाँ न तो किसी प्रकार के शील की आवश्यकता है और न मर्यादा की । यदि शील और मर्यादा ही शेष रहे तो फिर लीला-विहार किस प्रकार सम्भव हो सकता है—'खेलत में को काको गुसैंयाँ ?' तभी तो सूर की

गोपियाँ भक्ति करती हुई भी अपने आराध्य कृष्ण को सभी प्रकार की बुरी-भली बातें सुनाने का साहस कर लेती हैं, मनमाने उपालम्भ दे लेती हैं—

काहे को गोपीनाथ कहावत।
जो पै मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत।
सपने की पहिचानि जानि कै हमहि कलंक लगावत।
जौ पै श्याम कूबरी रीझै सो किन नाम धरावत।
ज्यों गजराज काज के औसर औरै दसन दिखावत।
कहन सुनन को हमहैं ऊधो सूर अन्त बिरमावत।

तुलसी की भक्ति भावना में इस प्रकार के उपालम्भों के लिए कोई स्थान नहीं है। वे अपने स्वामी को जो-कुछ भी सुनाना चाहते हैं, वह बड़ी विनम्रता तथा निष्कपटता के साथ सुनाते हैं। वे अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं—

जाउँ कहाँ, ठौर है कहाँ देव ! दुखित दीन को ?
को कृपालु स्वामी सारिखो राखै सरनागत
सब अँग बल-बिहीन को।
गनिहिं गुनिहिं साहिब लहै सेवा समीचीन को।
अधम अगुन, आलसिन को पालिबो।
फबि आयो रघुनायक नवीन को॥
मुख कै कहा कहौं ? बिदित है जी की प्रभु प्रवीन को।
तिहूँ काल, तिहूँ लोक मे एक टेक रावरी।
तुलसी से मन मलीन को॥

सूर में दास्य-भाव की मर्यादा का अभाव होने के कारण ही उनमें दैन्य, विनय, मर्यादा एवं शील का अभाव है, जिसका तुलसी की भक्ति-भावना में प्राधान्य है। इसीलिए जहाँ सूर की भक्ति-भावना प्रेम-भावना की परिधि में कहीं-कहीं विशुद्ध लौकिकता का भी स्पर्श कर उठी है, वहाँ तुलसी की भक्ति-भावना ज्ञान की परिधि में विशुद्ध आध्यात्मिकता के धरातल पर प्रतिष्ठित दिखाई देती है। यदि ध्यान से देखा जाय तो तुलसी की भक्तिभावना की यह विशेषता ही विनयपत्रिका को भक्तों का कण्ठहार बनाने का मुख्य कारण है.

जबकि सूर की भक्ति-भावना की पूर्वोक्त विशेषता 'भ्रमरगीत' को रसिकों का कण्ठहार बनाने का आग्रह अपने अन्दर अधिक मात्रा में अन्तर्निहित किए हुए है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ता है कि सूर की भक्ति में भावों की कोमलता एवं दिव्य प्रेम से गद्गद् हृदय की सरसता अधिक है। तुलसी की विनय-पत्रिका में निःसन्देह ऐसे पदों का नितान्त अभाव है—

नाहिन रह्यौ मन में ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिए उर और ?
चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
हृदयते वह श्याम मूरति छन न इत उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधो, लोक लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिन्धु समाय॥
स्यामगात सरोज आनन ललित अति मृदु हास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

तुलसी की भक्ति-भावना का रूप निखारने वाली उनकी पश्चाताप, दैन्य आदि की अन्य अनेक ऐसी भावनाएँ हैं, जिनको विस्तार से विनयपत्रिका में स्थान मिला है। यथा—

कबहूँ मन बिस्राम न मान्यो।
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो॥
जदपि विषय संग सह्यो दुह दुसह विषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़, ममताबस, जानत हूँ नहिं जान्यौ।
जन्म अनेक किए नाना विधि कर्म-कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक-नीर - बिनु बेद पुरान बखान्यो॥
निज हित नाथ पिता गुरु हरि सों हरषि हृदय नहीं आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाय सर खनतहि जन्म सिरान्यो॥

सूर को भ्रमरगीत में इस प्रकार के पश्चाताप, दैन्य आदि की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। कारण भी स्पष्ट है, सूर की भक्ति में मन के निग्रह की वैसी आवश्यकता नहीं, जैसी आवश्यकता तुलसी की भक्तिभावना में रही है। सूर की गोपियाँ तो सदा अपने मन के संकेत पर नाचती रहती हैं। परन्तु ध्यान

रखने की बात यह है कि वह 'मन' ससारोन्मुखी न होकर 'ईश्वरोन्मुखी'' हो चुका है। अनुराग तो वहाँ है परन्तु वह अनुराग जगत् के प्रति नहीं, अपितु सच्चिदानन्दावतारी भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति है। सूर की गोपियाँ उसी कृष्ण का निर्निमेष भाव से पथ देखती रहती हैं—

ऊधो ! अँखिया अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहु पलक न लागी।
बिन पावस पावस ऋतु आई देखत हौं विदमान।
अबधौं कहा कियो चाहत हो ? छाँड़हु नीरस ज्ञान।
सुनु प्रिय सखा स्यामसुन्दर के जानत सकल सुभाव।
जैसे मिलें सुर प्रभु हम कौं सो कछु करहु उपाव।

वस्तुतः सूर की भक्ति-भावना में यह मिलन-कामना ही प्रधान है। जीव गोलोक-बिहारी के लीलानन्द से वंचित हो गया है। उसी की प्राप्ति के लिए छटपटा रहा है। अतः विरह की छटपटाहट सूर की भक्ति-भावना में प्रधान है। तुलसी ने ज्ञान से अपने राम को प्राप्त कर लिया है—पहचान लिया है, परन्तु केवल प्राप्त कर लेना पर्याप्त नहीं है। मोक्ष पाने के लिए तो उनकी कृपा चाहिए, जिसकी उन्होने बार-बार माँग की है—

जैसो हौं तैसे हौं राम ! रावरो जन जनि परिहरिये।
कृपासिन्धु कोसलधनी सरनागत - पालक,
ढरनि आपनी ढरिये ॥
हौं तो बिगरायल और को, बिगरो न बिगरिये।
तुम सुधारि आये सदा सबकी सबही बिधि
अब मेरीयो सुधरिये
जग हँसिहै मेरे संग्रहे, कत इहि डर डरिये।
कपि केवट कीन्हें सखा जेहि सील सरल चित
तेहि सुभाउ अनुसरिये ॥
अपराधी, तउ आपनो तुलसी न बिसरिये।
टूटियो बाँह गरे परै, फूटेहु बिलोचन
पीर होत हित करिये ॥

सारांश यह कि सूर और तुलसी की भक्ति-भावना में सिद्धान्त तथा भाव दोनों दृष्टियों से पर्याप्त अन्तर है। वस्तुतः तुलसी की भक्ति-भावना में एक सन्त का हृदय बोल रहा है। सूर की भक्ति-भावना में गृहस्थ का स्वर प्रधान है। तुलसी में शील, मर्यादा और ज्ञान की प्रधानता है, तो सूर में सौंदर्य और प्रेम का आधिक्य है। सरलता और कोमलता की दृष्टि से भ्रमरगीत सार में व्यक्त भक्ति-भावना यदि रसिकों की वाणी है तो दैन्य, आतुरता एवं अनन्यता की दृष्टि से तुलसी की भक्ति-भावना भक्तों का सात्त्विक स्वर है। दोनों का अपने-अपने क्षेत्र में समान महत्त्व है।

प्रश्न १३—काव्य-कला की दृष्टि से संक्षेप में विनय-पत्रिका की आलोचना कीजिए।

उत्तर—कवि की भाव-सृष्टि का नाम काव्य है। जिस प्रकार संसार का विधाता अत्यन्त कला-पूर्ण अंगुलियों से अपनी सृष्टि को सजाता है, उसी प्रकार कवि भी अपनी पूर्ण कला का उपयोग अपने काव्य को सजीव बनाने में करता है। वह अपने अनुभवों को भावों का रूप देता है, भावों की अभिव्यक्ति के लिए विषय चुनता है और भाषा का सहारा लेता है, भाषा की सुन्दरता के लिए अपनी कला-कुशलता को शैली-विशेष का रूप देता है, उसके लिए अलंकारों की योजना करता है तथा विषय को रोचक बनाकर अपने भावों को सर्वग्राह्य बनाता है। वह अपनी काव्य-सृष्टि के अन्तर्बाह्य रूप को सजाने के लिए ऐसे-ऐसे स्थानों से सामग्री का चयन करता है, जहाँ 'रवि' की भी पहुँच संभव नहीं। जब वह अपनी पूर्ण कला की अभिव्यक्ति करके अपने भावों को आस्वाद्य बना देता है, तब वह स्वयं उस काव्य-सृष्टि का रसास्वादन करता है और पाठकों और श्रोताओं को भी उस रस का आस्वादन कराता है। जिस कवि की प्रतिभा जितनी महान् होती है वह उतनी ही महान् कला का आधार अपनी कृति को प्रदान करता है। महाकवि तुलसीदास हिन्दी के एक अद्भुत प्रतिभासम्पन्न कवि थे। नाना पुराण निगमागम तक उनकी पहुँच थी तथा पूर्ववर्ती अनेक श्रेष्ठ काव्यों का उन्होंने श्रवण या पारायण किया था। फलतः उनकी प्रतिभा को वह शक्ति प्राप्त हो गई थी, जिसके द्वारा उन्होंने 'रामचरित-मानस' जैसे श्रेष्ठ प्रबन्ध-काव्य एवं 'विनयपत्रिका'—जैसे अद्भुत मुक्तक काव्य

की रचना की। हम मानस में उनकी प्रबन्ध-कला-कुशलता का जैसा निखरा हुआ रूप पाते हैं, वैसा ही उत्कृष्ट कला-सौन्दर्य हमें उनकी मुक्तक रचना 'विनय-पत्रिका' में मिलता है।

भाव—विनयपत्रिका में भक्ति-भावना की विभिन्न रूपों में अभिव्यंजना हुई है। निर्वेद उसका प्रधान भाव है, जो विभिन्न संचारी भावों से परिपुष्ट होता हुआ स्थायी भाव की अवस्था को पहुँचता है। प्रारम्भ से अन्त तक तुलसी ने अपने विनय, दैन्य, आत्म-ग्लानि, अवस्था, शरण-कामना, पश्चाताप आदि भावों को विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है। उनकी भाव-व्यंजना में सर्वत्र उनके हृदय की निश्चलता का दर्शन होता है। उनके हृदय में कलियुग के सताए जाने के कारण जो व्यथा है, उसको उन्होंने निष्कपट-भाव से व्यक्त किया है तथा विभिन्न देवताओं की श्रद्धापूर्वक स्तुति करके उनसे राम-भक्ति की याचना की है। वस्तुतः विनयपत्रिका में सर्वत्र भावों का अत्यन्त भव्य पक्ष चित्रित हुआ है। किसी भी पद को उठाकर पढ़ जाइए, ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि अपने हृदय की समस्त पीड़ा-ब्रीड़ा को बिना किसी दुराव-छिपाव के व्यक्त कर देना चाहता है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

ऐसो को उदार जगमाहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥
जो संपति दस सीस अरपि करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥
तुलसीदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥

विषय—तुलसी ने अपनी भक्ति-भावना को अभिव्यक्त करने के लिए प्रमुख देवताओं, गंगा, यमुना, काशी, चित्रकूट, भरत, शत्रुघ्न, तथा सीता एवं राम की स्तुति को विनय-पत्रिका की विषय-वस्तु में सम्मिलित किया है। उसमें हमें प्रारम्भ से अन्त तक भावों के विकास का एक क्रम मिलता है। राम की अवतार कथा भी संक्षेप में कहीं-कहीं स्थान पा गई है। परन्तु यह सब होते हुए

भी विनयपत्रिका एक मुक्तक काव्य है। एक पत्रिका के समस्त विधान का अनुसरण करके भी तुलसी ने उसमें अपने हृदय के भावों को मुक्तक रूप में ही व्यक्त किया है, किसी कथा का सहारा नहीं लिया। वे कलियुग से पीड़ित होकर राम के दरबार में अपनी विनयपत्रिका प्रेषित करते हैं और उसी में उन्होंने अपने उन सब भावों को लिख दिया है, जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है। इस प्रकार तुलसी के पास अभिव्यक्त करने के लिए जो भाव हैं, उनका उन्होंने एक सुन्दर विषय का रूप दिया है जो विनय की पत्रिका का आकार ग्रहण कर पाठकों का कण्ठहार बन गया है।

नायक—काव्य में कवि अपनी कथा की योजना जिस उद्देश्य से करता है, उसका भोक्ता कोई नायक भी उसे प्रस्तुत करना पड़ता है। वस्तुतः प्रबन्ध-काव्य में जो नायक होता है वह कथावस्तु को लेकर चलता है और वही उसके फल का भोक्ता भी होता है। परन्तु मुक्तक काव्य मे, जिसमें भावों की प्रधानता होती है, भावों को लेकर चलने वाला कवि स्वय होता है और वही उसका भोक्ता भी होता है। विनयपत्रिका मे भी हमे ऐसे नायक का अभाव नहीं मिलता। तुलसी स्वय अपनी भाव-धारा के भगीरथ हैं और वे ही उस भक्ति-फल के भोक्ता भी हैं। उन्हें हम काव्य के प्रारम्भ में सिद्धि-दाता गणेश से राम-भक्ति की याचना करते देखते हैं—

> गाइये गनपति जगबन्दन। संकर-सुवन-भवानी - नन्दन ॥
> सिद्धि-सदन, गजबदन विनायक। कृपा-सिन्धु, सुन्दर सब लायक ॥
> मोदक-प्रिय मुद - मंगलदाता। विद्या-वारिधि, बुद्धि विधाता ॥
> माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे ॥

और मध्य मे अनेक पदों में राम के पास पहुँच इस प्रकार विनय सुनाता पाते हैं—

> हौं सब विधि राम, रावरो चाहत भयो चेरो।
> ठौर-ठौर साहिबी होत है ख्याल काल कलि केरो ॥
> काल - कर्म-इन्द्रिय-विषय गाहकगन घेरो।
> हौं न कबूलत, बाँधि कै मोल करत करेरो ॥

बन्दि-छोरि तेरो नाम है बिरुदैत बड़ेरो।
मैं कह्यो तब छल-प्रीति कै माँगै उरि डेरो॥
नाम ओटि अब लगि बच्यो मलजुग जग जेरो।
अब गरीब जन पोषिये पायबो न हेरो॥
जेहि कौतुक बक स्वान को प्रभु न्याव निबेरो।
तेहि कौतुक कहिये कृपालु "तुलसी है मेरो॥"

तथा अन्त में हम उन्हें अपनी भक्ति का फल भोगते भी देखते हैं। राम ने उनकी पत्रिका पढ़कर उन्हें अपना लिया है। देखिए—

बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है।'
मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की
परी रघुनाथ हाथ सही है॥

मुक्तक-काव्यों मे नायक का निर्वाह बहुत कम मिलता है। तुलसी ने विनय-पत्रिका में इस क्षेत्र में भी अपनी पूर्ण कला-कुशलता का परिचय दिया है।

अन्तर्बाह्य प्रकृति

विनयपत्रिका में तुलसी ने मानव-स्वभाव के विभिन्न रूपों का आत्म-ग्लानि आदि के माध्यम द्वारा विस्तार से दिग्दर्शन कराया है। मनुष्य बाल्या-वस्था और यौवन खा-पीकर और खेलकर खो देता है किन्तु जब उसे चेत होता है तब वह विभिन्न प्रकार से पश्चाताप करता है, आत्मग्लानि में गलता है तथा ईश्वरोन्मुख होकर मोक्ष-कामना करता है। तुलसी भी अपनी प्रकृति का इसी प्रकार निदर्शन करके मानव-प्रकृति को स्पष्ट करते दिखाई देते हैं। वे कहते हैं—

खेलत खात लरिकपन गो चलि
जोवन जुबतिन लियो जीत।

फिर कहते हैं—

ज्ञान-भवन मनु दियहु नाथ,
सोउ पाय न मैं प्रभु जाना।

अन्त में जब उन्हें बोध होता है, तब वे यह विनय सुनाते हैं—

तुलसिदास कासों कहै ? तुम ही सब
मेरे प्रभु गुरु मात पितै

आर पश्चाताप करते कह उठते हैं—

राग-द्वेष-ईर्ष्या-बस रुचो न साधु-समीति।
कहे न सुने न गुन रघुवर के भई न राम-पद प्रीति।

× × ×

डासत ही गई बीति निसा सब
कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।

विनय-पत्रिका में बाह्य प्रकृति को प्रत्यक्षतः बहुत कम स्थान मिला है। चित्रकूट के वर्णन की निम्नांकित पंक्तियाँ आलम्बन रूप में प्रकृति के चित्रण का उदाहरण मानी जा सकती हैं—

सुचि अवनि सुहावनि आलबाल।
कानन विचित्र, बारी बिसाल॥
मन्दाकिनि-मालिनी सदा सींच।
बर बारि, विषम नर नारि नीच॥

भाषा—विनयपत्रिका की भाषा अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण ब्रजभाषा है, जिसमें संस्कृत की तत्सम पदावली का आधिक्य है। हमें क्लिष्ट एवं सरल दोनों प्रकार की भाषा के उदाहरण विनयपत्रिका में मिलते हैं। यथा—

क्लिष्ट भाषा का उदाहरण—

अजित, निरुपाधि, गोतीतमव्यक्त, विभुमेकमनवद्यमजमद्वितीयं।
प्राकृतं प्रगट परमातमा परमहित, प्रेरकानन्त बन्दे तुरीयं॥
भूधरं सुन्दरं श्रीवरं, मदन-मद-मथनं सौन्दर्य - सीमातिरम्यं।
दुष्प्राप्य, दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर्क्य, दुष्पार, संसारहर सुलभ मृदु भावगम्यं॥

सरल भाषा का उदाहरण—

काहे को फिरत मूढ़ मन धायो।
तजि हरिचरन-सरोज सुधा-रस, रविकर-जल लय लायो॥
त्रिजग देव नर असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो।
गृह बनिता सुत बंधु भये बहु, मातु, पिता जिन्ह जायो॥

शैली—

'विनय पत्रिका' में तुलसी ने सर्वत्र 'पद' की शैली का प्रयोग किया है। प्रत्येक पद राग-रागनियों पर खरा उतरता है। अतः उसमें उन्होंने गीति-तत्त्वों का भी अद्भुत समन्वय किया है। हम सभी पदों को संगीत के वाद्य-यंत्रों पर गा सकते हैं और भावों का पूर्ण आनन्द ले सकते हैं। यह इस कृति की शैली की एक प्रशंसनीय विशेषता है जिससे उसमें पर्याप्त-रोचकता आ गई है।

अलंकार-योजना—

'विनय पत्रिका' में तुलसी ने बहुत स्वाभाविक रूप में अलंकार-योजना की है। भाषा और भाव दोनों को उन्होंने अलङ्कारों का प्रयोग करके सौन्दर्य प्रदान किया है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, दृष्टान्त, भ्रान्तिमान, तुल्योगिता, अतिशयोक्ति आदि का प्रयोग हुआ है। शब्दालंकारों में अनुप्रास का बाहुल्य है। कुछ अलंकारों के उदाहरण देखिए—

सांगरूपक अलंकार—

बाँस पुरान साज सब अटपट सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचंद मंद मोल बिनु डोला रे।
विषम कहार माद मदमाते चलहि न पांव बहोरा रे।
मंद बिलंद अभेरा दलकन पाइय दुख झकझोरा रे।

इन पंक्तियों में भाव, भाषा और अलंकार-योजना का अदभुत समन्वय है। सांगरूपक के साथ-साथ अनुप्रास की छटा भी दृष्टव्य है।

उत्प्रेक्षा अलंकार—

मृदुल चरन सुभ चिन्ह, पदज नख अति अद्भुत उपमाई।
अरुन नील पाथोज-प्रसव जनु, मनिजुत दल-समुदाई॥
जातरूप मनि - जटित मनोहर, नूपुर जन - सुखदाई।
जनु हर-उर हरि बिबिध रूप धरि, रहे बर भवन बनाई॥
कटितट रटति चारु किंकिन-रव, अनुपम बरनि न जाई।
हेम जलज-कल-कलिन-मध्य जनु, मधुकर मुखर सुहाई।

\+ \+ \+

गज-मनिमाल बीच भ्राजत कहि जाति न पदक-निकाई।
जनु उडुगन-मण्डल बारिदपर, नवग्रह रची अथाई।

जैसा कि उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है, विनयपत्रिका की अलंकार-योजना में सर्वत्र भाव, भाषा एवं अलंकारों का अद्भुत साम्य मिलता है।

रस—

रस के सभी उपकरणों का प्रयोग करके तुलसी ने निर्वेद स्थायी भाव को रस दशा को पहुँचाया है। यद्यपि हास्य, वीर आदि अन्य रसों की भी यत्र-तत्र अभिव्यक्ति मिल जाती है, तथापि शान्त रस प्रधान है। प्रारम्भ से अन्त तक विनयपत्रिका में शान्त रस के अनुकूल विभिन्न भावों की योजना की गई है। एक उदाहरण देखिए—

> कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
> श्री रघुनाथ-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ॥
> जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछू न चहौंगो।
> परहित-निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
> परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
> बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन, नहिं दोष कहौंगो ॥
> परिहरि देह-जनित चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
> तुलसीदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि भक्ति लहौंगो ॥

उद्देश्य—

काव्य के सभी उपकरणों का सहारा लेकर विनयपत्रिका को तुलसी ने एक सजीव कृति बना दिया है। कोई भी कला तब तक पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकती जब तक वह किसी उद्देश्य की पूर्णता को प्राप्त न करे 'कला को कला के लिए' मानने में भी कला का कोई उद्देश्य होता ही है। अतः प्रश्न केवल यह रह जाता है कि उसकी अभिव्यक्ति में कलाकार को कहाँ तक सफलता प्राप्त हुई है। तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में आत्मोद्धार के साथ-साथ लोकहित को भी अपनी कला का उद्देश्य बनाया है और इस कार्य में वे पूर्णतः सफल हुए हैं। जागतिक जीवों को हरि-भक्ति के सुन्दर सर्वोच्च सोपान पर आरोहण करा कर अमर आनन्द का लाभ कराना विनयपत्रिका का लोक-हित सम्बन्धी पक्ष है और अपने आराध्य राम के प्रति अनन्य भक्ति का परिचय देते

हुए आत्म-निवेदन करना आत्मोद्धार सम्बन्धी पक्ष है। तुलसीदास को अपने इन दोनों उद्देश्यों की अभिव्यक्ति में पूर्ण सफलता मिली है।

निष्कर्ष यह है कि विनय-पत्रिका काव्य-कला की कसौटी पर एक उत्कृष्ट कृति सिद्ध होती है। उसमें हमें तुलसी का कला-सम्बन्धी एक पूर्ण दृष्टिकोण अभिव्यक्त मिलता है। भाव, भाषा, छन्द, अलंकार-योजना, अन्तर्बाह्य प्रकृति, रस, उद्देश्य आदि विभिन्न दृष्टियों से हम उसमें कवि की अद्भुत सफलता का दर्शन करते हैं। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में 'विनयपत्रिका' का अत्यंत उच्च स्थान है एवं काव्य-रसिक तथा भक्त दोनों उसे समान अभिरुचि से पढ़ते हैं।

प्रश्न १४—'गीतावली' की काव्य-सम्बन्धी विशेषताओं को उपयुक्त उद्धरण देते हुये तथा-निर्देश करते हुए स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—महाकवि तुलसी राम भक्तों में मूर्द्धन्य हुए हैं। साहित्य में प्रचलित तत्कालीन सभी पद्धतियों में राम और भक्ति-सम्बन्धी रचनाओं का प्रणयन कर राम-भक्ति के प्रसार का पावन प्रयत्न ही उनके जीवन का परम लक्ष्य है। रामचरित-मानस तो उनका श्रेष्ठतम ग्रन्थ है ही, गीतावली एवं विनय-पत्रिका भी काव्य की दृष्टि से किसी प्रकार कम नहीं कही जा सकतीं। गीतावली की रचना, जैसा कि नाम से स्पष्ट है, गीति-पद्धति पर हुई है। कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा गीति पद्धति का व्यापक प्रचार किया जा चुका था। विद्यापति और सूर की पदावली पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। कोमल रसों की अभिव्यक्ति के लिए गीति छन्द की उपयुक्तता भी सर्वविदित थी। इसी से महाकवि तुलसी ने गीति छन्द में राम-कथा की रचना की। गीति रचना होने के कारण इसमें कोमल भावों को ही प्रश्रय मिला और ब्रजभाषा के मधुर कोष में शृंगार और वात्सल्य रस की मधुर धाराएँ प्रवाहित हुईं। इसके अतिरिक्त करुण, हास्य और शान्त का रसोद्रेक भी कहीं-कहीं हुआ है।

वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्र में तुलसी पर सूर का कुछ प्रभाव लक्षित होता है। गीतावली में कुछ पद ऐसे हैं जिनका पूर्ण साम्य सूरसागर के तत्सम्बन्धी पदों से होता है। कुछ पद ऐसे हैं जो सूरदास की प्रतिलिपि-मात्र हैं,

केवल राम-श्याम, तुलसी-सूर आदि शब्दों का भेद है। गीतावली का निम्न पद—

"जागिए कृपानिधान जान राय रामचन्द्र।
जननि कहै बार-बार भोर भयौ प्यारे॥"

सूरदास के इस पद से मिलता है—

"जागिए गुपाललाल, अनंदनिधि नन्दबाल,
यशुमति कहै बार-बार भोर भयौ प्यारे॥"

इससे स्पष्ट लक्षित होता है कि सूर का प्रभाव तुलसी पर अवश्य पड़ा था। शब्दों और पदों के अतिरिक्त निम्नलिखित प्रकरणों से भी इस कथन की पुष्टि होती है।

तुलसी ने कृष्ण के समान ही राम का बाल-वर्णन किया है। राम में बाल-वर्णन का प्रसंग तुलसीदास ने गीतावली को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में संक्षिप्त रूप से किया है। मानस में—

धूसर धूरि भरे तनु आये, भूपति बिहँसि गोद बैठाये।

और 'कवितावली' में—

कबहूँ ससि मांगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं।

आदि कुछ पंक्तियों में राम का बाल-वर्णन है। गीतावली में तुलसी ने ४४ पदों में बाल-वर्णन किया है। वह वर्णन सूरदास के वर्णन के अधिकांश रूप में साम्य रखता है।

यशोदा की भाँति कौशल्या ने भी पुत्र-वियोग की करुण भावनाभिव्यक्ति की है। माता की करुणामयी वात्सल्य-भावना भी कृष्ण-काव्य से प्रेरित ज्ञात होती है। कृष्ण के वियोग में यशोदा की जो दशा होती है वही राम के वियोग में कौशल्या की है। सूरसागर का यह पद—

मधुकर इतनी कहियो जाय।
अति कृस गात भईं ये तुम बिन परम दुखारी गाय॥
जल समूह बरसत दोउ आँखिन हूँकति लीन्हें नाउँ।
जहाँ-जहाँ गो-दोहन करते सूँघति सोई ठाउँ॥

परति पछारि खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी हैं, बारि मध्य ते मीन ॥

गीतावली के निम्नलिखित पद में कितना साम्य रखता है—

राघौ एक बार फिर आओ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने बहुरो.......
जे पय प्याइ पोखि कर पंकज बार-बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं मेरे राम लाड़िले, ते अब निपट बिसारे ॥
भरत सौगुनी सार करत हैं अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे, मनहुँ कमल हिम मारे ॥
सुनहु पथिक जो राम मिलहिं बन, कहिओ मातु संदेसो।
तुलसी मोहिं और सबहिन ते इनको बड़ो अँदेसो ॥

कृष्ण के वियोग में जो दशा गायों की थी, वही राम के वियोग में घोड़ों की है। दोनों माताओं के उद्गारों में कितना साम्य है।

तुलसी कला के क्षेत्र में जीवन की साँगोपांग व्याख्या करते हुए सदा मर्यादा की परिधि में ही रहते हैं। यहाँ तक कि शृङ्गार के वर्णन में उन्होंने अपनी लेखनी को मर्यादा के पाश में ही बाँधना स्वीकार किया है। इसी कारण मानस तथा राम-कथा सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में तुलसी ने शृंगारपूर्ण घटनाओं का वर्णन नहीं किया है परन्तु गीतावली में यह वर्णन कृष्ण-काव्य की प्रेरणा से आ ही गया है। इसी प्रेरणा से उत्तरकांड में हिंडोला वर्णन, वसन्त, होली, चाँचर वर्णन आदि घटनाओं का समावेश हुआ है। परन्तु इन घटनाओं का वर्णन केवल दो बार ही हो पाया है। एक बार तो चित्रकूट के प्रकृति-वर्णन में—

चित्रकूट पर राउर जानि अधिक अनुरागु।
सखा सहित जनु रतिपति आयउ खेलन फागु ॥

और दूसरी बार उत्तरकाण्ड में आया है—

"खेलत बसंत राजाधिराज। देखत नभ-कौतुक सुर समाज।
सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ। झोलिन्ह अबीर पिचकारि हाथ ॥

'मानस' के मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ललना-गण के साथ "निपट गई लाज भाजि" के अवसर पर सम्मिलित नहीं हो सकते। परन्तु गीतावली में इस

घटना का विस्तृत वर्णन है। अतः यह स्पष्ट है कि गीतावली पर कृष्ण-काव्य अर्थात सूरसागर का प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा है। परन्तु कृष्ण-काव्य से इतना प्रभावित होते हुए भी राम और कृष्ण के बाल-वर्णन में अवश्य ही कुछ भिन्नता पाई जाती है।

तुलसी के राम मर्यादा और व्यक्तित्व के इतने उच्च धरातल पर खड़े हैं कि सम्भवतः तुलसी को इतनी साधारण परिस्थितियों का चित्रण करने में महत्ता न दिखाई दी हो। उनके राम तो परब्रह्म हैं। अतः आराध्य का इतना उच्च आदर्श बाल-वर्णन के समान साधारण कथानक में शायद केन्द्रीभूत न हो सका हो। अपने आराध्य के प्रति तुलसी की दास्यभावना थी। अतः सेव्य-सेवक भाव से भक्ति करने में उन्हें तो राम की महत्ता को स्वीकार करना था। बाल-वर्णन करते समय उन्हें भय था कि कहीं आराध्य की उच्च मर्यादा का अतिक्रमण न हो जाय। इसी कारण गीतावली में भी उनकी अलौकिकता का प्रदर्शन होते हुए वात्सल्य के स्थान में भय और आश्चर्य आदि का प्राबल्य हो जाता है। स्थान-स्थान पर तुलसी ने यही दिखलाया है कि राम के अलौकिक सौन्दर्य को देखने के लिए देवतागण भी उत्सुक हैं। इसी रूप-पिपासा को शांत करने के हेतु वे पुष्प-वर्षा करते हैं और बादलों की ओट से बालक राम के अलौकिक रूप का पान करके मुग्ध हो जाते हैं—

'बिधि महेस मुनि सुर सिहात सब देखत अंबुद ओट दिए।'

तुलसी का बाल-वर्णन अधिकतर वर्णनात्मक है। उसमें पात्रों के परस्पर सम्भाषण का प्रायः अभाव ही है। ऐसा जान पड़ता है मानों समस्त सौन्दर्य एक प्रेरक की भाँति कवि के मुख से वर्णित है। यही कारण है कि राम के शृंगार वर्णन के सामने मनोवेगों का स्थान गौण हो गया है। तुलसी ने अधिकतर राम की मनोमुग्धकारी अलौकिक छवि का ही वर्णन किया है, कभी कभी तो कामदेव को भी उसके सम्मुख लज्जित होना पड़ा है। परन्तु उन्होंने बालक राम की मनोवृत्तियों में बिहार नहीं किया है। सूरदास के अभिनयात्मक चित्रण के अन्तर्गत "मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी" के समान मनोवैज्ञानिक भावनाओं को पात्रों के अभिनय का रूप देकर वर्णन करने की अपेक्षा तुलसीदास पात्रों का सीधा सादा वर्णनात्मक चित्र खींचते हैं—

"सुभग सेज सोमित कौसल्या, रुचिर राम सिसु गोद लिये।
बार-बार विधु बदन बिलोकति, लोचन चारु चकोर किये॥

गीतावली में राम के इस प्रकार के चित्र चित्रित किए गए हैं जिनमें अभिनयात्मक तत्व का अभाव है। राम कृष्ण की भाँति चपल, चंचल और क्रीड़ामग्न नहीं हैं। उनमें इतना नैसर्गिक और स्वतन्त्र विकास नहीं जितना कृष्ण में है। तुलसी ने तो अपने आराध्य देव की विरुदावली गाने के उत्साह में ही बाल-वर्णन की स्वाभाविकता को महत्वहीन कर दिया है। परन्तु सूरदास अपने क्षेत्र में अद्वितीय है। सख्य भाव की भक्ति के कारण इष्ट की बाल-लीलाओं का वर्णन करना ही उनका लक्ष्य था। कृष्ण का ग्राम्य के नैसर्गिक क्षेत्र में ही विकास होता है परन्तु राम तो मर्यादाप्रेमी राजकुमार थे। नागरिक क्षेत्र के वायुमंडल में ही उनका जीवन-पुष्प विकसित हुआ था। अतः उनके नैसर्गिक जीवन के विकास की परिस्थितियाँ ही कम थीं। 'माखन-चोरी', 'दधि-दान' आदि कृष्ण की अनेक लीलाओं में बालोचित प्रवृत्तियों के विकास के लिए अधिक अवसर मिल गया था। राम के मर्यादा-पुरुषोत्तम वेष में थोड़ी सी भी उच्छृंखलता के लिए स्थान नहीं था। कृष्ण की भाँति गोपियों के साथ रास लीला करना तो उनकी प्रवृत्ति से कोसों दूर था—वे तो ऐसे समय के सूत्र-पाश में बंधे थे कि—

"मोहि अतिसय प्रतीत जिय केरी।
जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥"

परन्तु यह तुलसी का कला-चातुर्य है कि उन्होंने मर्यादा की परिधि के भीतर भी राम के बाल-जीवन के सुन्दर चित्र अंकित किये हैं।

गीतावली की रचना मुक्तक रूप में गीतों में हुई है। गीतिकाव्य की रचना आत्माभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से होती है। उसमें कवि को समस्त संसार अपने भावानुकूल दिखाई देता है और भावनाओं के घनीभूत होने के कारण उसमें संक्षिप्तता आ जाती है। अतः सफल गीतिकाव्य में आत्माभिव्यक्ति, विचारों की एकरूपता, संगीतात्मकता और संक्षिप्तता की आवश्यकता होती है। गीता-वली में काव्य की स्वर-तन्त्रियाँ घनीभूत होकर झंकृत हो उठती हैं और उसमें से निःसृत संगीत की लहरें समस्त काव्य को गीतिमय कर देती हैं। तुलसी-

दास की 'विनय पत्रिका' भी शुद्ध गीतिकाव्य है, उसमें संगीत-सौन्दर्य का परमोत्कृष्ट आदर्श सम्पन्न हुआ है। भिन्न-भिन्न रागमय पदों की रचना करके गोस्वामी जी ने अपने संगीत-कला के पाण्डित्य को प्रकट किया है। उन्होंने विनय-पत्रिका का आरम्भ गाकर ही किया था—

"गाइये गनपति जगबंदन, संकर सुवन भवानी नन्दन।
सिद्धि सदन गजवदन विनायक, कृपासिंधु सुन्दर सब लायक।"

यद्यपि गीतावली में संगीतात्मकता का प्राधान्य है और प्रबन्धात्मकता नहीं है; परन्तु घटनाओं की वर्णनात्मकता में पद बहुत लम्बे हो गये हैं। बालकाण्ड में राम-जन्म से सम्बन्धित पद इतने लम्बे हो गये हैं कि उनमें आत्म-निवेदन का प्रायः अभाव ही है और वर्णनात्मकता का प्राधान्य हो गया है। विविध घटनाओं के सामंजस्य के कारण विचारों की एकरूपता भी नहीं है। इस दृष्टि से गीतावली का अरण्य काण्ड सबसे अधिक सफल हुआ है। यदि कवि घटनाओं के भँवर में न पड़ता और भाव-विभोर होकर अपने को आराध्य में लीन कर लेता तो सम्भवतः गीतावली की रचना उत्कृष्ट काव्य के रूप में होती और हिन्दी साहित्य में मूर्द्धन्य स्थान प्राप्त करती।

गीतावली में गीति-रचना होने के कारण केवल कोमल भावों को ही प्रश्रय मिला है। रामचरित में जितने भी कोमल स्थल है वे गीतावली में वर्णित हैं और शेष पुरुष-प्रसंगों का संकेत-मात्र कर दिया गया है। अतः गीतावली में गीतमय रचना के साथ-साथ मधुर और कोमल रसों का ही परिपाक हुआ है। राम के बाल-जीवन का क्रमिक विकास और नैसर्गिक सुषमा भी अत्यन्त सरस और स्वाभाविक है। राम-जन्म के समय के उत्सवों और बाल लीलाओं तथा क्रीड़ाओं का भी सविस्तार वर्णन किया गया है। पुत्र-जन्म के समय के उत्सवों की पूरी झाँकी गीतावली में मिलती है—राम का जन्म सुन कर किन्नर, गन्धर्व आदि अत्यन्त हर्षित होते हैं और शुभ लक्ष्य में कुंकुम, अरगजा, गुलाब आदि छिड़कते हैं, नभमंडल से पुष्प-वर्षा होती है और पुरवासियों का एकत्रित होकर मंगलगान होता है—

सुनि किन्नर गन्धर्व सराहत, बिथके हैं बिबुध विमान।
कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं, भरहिं गुलाल अबीर॥
नभ प्रसून झरि, पुरि कोलाहल, भई मनभावति भीर।'

इसके अनन्तर अयोध्या में घर-घर बधाइयों की धूम मचती है और कुछ दिन इसी प्रकार अयोध्या आनन्द-सागर में डूबी रहती है। फिर कौशल्या की अभिलाषाओं का बड़ा ही रोचक और सजीव वर्णन ललित पदावली में होता है—

> ह्वै हौं लाल कबहि बड़े बलि भैया।
> सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ वारने जैहौं।
> छगन-मगन अँगना खेलि हौं मिलि ठुमक ठुमक कब धैहौं।
> कलबल वचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहि बुलैहौं॥

इसी प्रकार 'पालने रघुपति झुलावै' प्रसंग में ममता की प्रतिमा कौशल्या माता की लोरियाँ सुनकर चित्त प्रफुल्लित हो जाता है और हृदय में स्नेह भाव के बीजाँकुर प्रस्फुटित होने लगते हैं। कुछ बड़े होने पर राम के घुटनों के बल आँगन में दौड़ने, फिर वहाँ चारों भाइयों के खेलने और आगे चलकर सखाओं के साथ अवध की बीथियों में विचरने तथा सरयू तीर पर चौगान आदि खेलने का मनमोहक वर्णन करने में कवि ने अपनी सहृदयता का पूरा-पूरा परिचय दिया है। विश्वामित्र के साथ जाते समय उनकी बाल-सुलभ चपलता दर्शनीय है। मार्ग में कभी वे—

> "पैठत सरनि सिलनि चढ़ि चितवत खग मृग बन रुचिराई।
> सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि-पुनि लेत बुलाई॥"

विश्वामित्र के साथ चले जाने के पश्चात जब राम का समाचार नहीं मिलता तो कौशल्या के हृदय में ममता के भाव जाग्रत होते हैं और वह स्नेह-वश व्याकुल होने लगती हैं। गोस्वामीजी ने कौशल्या के आकुल मन की इस दशा का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से चित्रण किया है—

> मेरे बालक कैसे धौं मग निबहिंगे।
> भूख पियास सीत स्रम सकुचनि क्यों कौसिकहिं कहिंगे।
> को भोर हीं उबटि अन्हवैहै, काढ़ि कलेऊ दैहै।
> को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन सुख लैहै॥

यही दशा कृष्ण के मथुरा-प्रवास के समय वात्सल्य की स्नेहमयी मूर्ति

यशोदा की थी। पुत्र-वियोग में वह तड़पती है। उन्हें इसकी विशेष चिन्ता नहीं कि कृष्ण उनसे दूर देवकी के यहाँ चला गया है, वरन् वे इसी बात के लिए व्याकुल हैं कि नन्ददुलारे की आदतों का किसी को भी पता नहीं और फिर कृष्ण भी संकोचवश अपनी इच्छा को प्रगट नहीं करता। सूरदास ने माता की अंत:प्रकृति का कितना सजीव और सुन्दर निरीक्षण किया है। तुलसीदास की कौशल्या और सूरदास की यशोदा की आन्तरिक दशा प्राय: एक सी है—

"संदेसो देवकी सों कहियो।
तुम तो टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात समय मेरे बाल लड़ैतिहि माखन रोटी भावै।
अब यह सूर मोहिं निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वै हैं करत संकोच।"

गीतावली मे भी तुलसी ने रामचरित-मानस की भाँति वन में राम-लक्ष्मण और सीता के प्रति ग्रामनारियों के प्रेममय उद्‌गार बड़े विस्तार से मार्मिक रूप में व्यक्त किये हैं। उनमें वही तन्मयता, सहृदयता और मार्मिकता है जो मानस में उपलब्ध होती है।

गोस्वामी जी ने प्रकृति सुन्दरी के भी गीतावली में दर्शन कराए हैं और फिर उसे उपमा, रूपक आदि अलंकारों का परिधान पहना कर सुसज्जित किया है। ये अलंकार केशव के अलंकारों की भाँति कविता-कामिनी के सौन्दर्य को विकृत नहीं करते, वरन् उसमें एक स्वाभाविक रमणीयता और चपलता तथा चंचलता उत्पन्न कर देते हैं। चित्रकूट के वर्णन में उनकी प्रवृत्ति विशेष रूप से रमी है—

मन्दाकिनि तटिनि तीर मंजुल मृग बिहंगभीर,
धीर मुनि गिरा गम्भीर सामगान की।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि गीतावली में तुलसी की मधुर अनभूति, सरसता, सौन्दर्य-प्रियता और अन्त:प्रकृति की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के दर्शन होते हैं। भाषा में तत्सम शब्दों के साथ तद्‌भव शब्दों के प्रयोग ने ब्रजभाषा को अत्यन्त सुन्दर बना दिया है। अलंकारों में सादृश्य-

मूलक अलंकारों का अधिक रूप में प्रयोग करके राम के रूप-सौन्दर्य को चरम कोटि तक पहुँचा दिया है। परन्तु इसके साथ-साथ एक ही प्रकार की उपमाओं की आवृत्ति भी अनेक बार हुई है, राम का सौन्दर्य-वर्णन करते समय न जाने कामदेव को कितनी बार लज्जित होना पड़ा है। गुणों में माधुर्य और प्रसाद का सुन्दर समन्वय हुआ है। वास्तव में राम का सौन्दर्य और ऐश्वर्य ही गीतावली का प्राण है।

प्रश्न १५—तुलसी-रचित 'कवितावली' की विभिन्न दृष्टियों से आलोचना कीजिए।

उत्तर—कवितावली भगवान की पुनीत जीवन-गाथा से अलंकृत है। इसमें तुलसी ने राम के ऐश्वर्य को प्रधान स्थान दिया है। ऐश्वर्य और शक्ति का चित्रण तो कोमल-कान्त-पदावली में सम्भव ही नहीं, अतः इसी लक्ष्य से प्रेरणा पाकर गोस्वामी जी ने कवित्त, छप्पय, झूलना आदि छन्दों का चयन किया है। राम के चरित्र में मर्यादा-पुरुषोत्ताम का भाव है, अतः तुलसी ने दास्य भाव की उपासना करते हुए राम की शक्ति और मर्यादा का चित्रण करना उचित समझा और ओजपूर्ण कवित्त-रचना की सृष्टि की। 'गीतावली' में राम के केवल कोमल जीवन का ही चित्रण किया गया है, पौरुषपूर्ण-घटनाओं का उसमें सर्वथा अभाव है। 'गीतावली' में छोड़ी हुई पौरुषपूर्ण घटनाओं की ही पूर्ति 'कवितावली' में की गई है। इसमें लंका-दहन और युद्ध का बड़ा ओजपूर्ण वर्णन है। 'गीतावली' में राम का आकर्षक एवं सौन्दर्य-पूर्ण चित्रण है तो 'कवितावाली' राम के वीरत्व और शौर्य से समादृत है। दोनों में राम का अपूर्ण जीवन लक्षित होता है; परन्तु दोनों के सुन्दर सामंजस्य से पौरुषपूर्ण और कोमल दोनों दृष्टियों से पूर्ण हो जाता है। गीतावली की भाँति ही कवितावली में अरण्य काण्ड और किष्किधाकाण्ड में एक ही छन्द का तारतम्य है। उसमें न तो प्रस्तावना एवं पूर्व कथा है और न उत्तरकाण्ड का कथा से कोई विशेष सम्बन्ध है। उसमें तो कवि के सिद्धान्त, राम-भक्ति के महत्व के प्रति विश्वास तथा तत्कालीन परिस्थितियों और विदित भावों के संग्रहीत छन्द हैं। अतः 'कवितावली' एक संग्रह ही है जो सप्त काण्ड सुशोभित है। इस ग्रन्थ का अन्तिम काण्ड हनुमान-बाहुक है जिसमें छप्पय, घनाक्षरी, मत्तगयन्द, आदि छन्दों

में कवि ने हनुमान सम्बन्धी अपने उद्‌गारों को प्रकट किया है। कुछ छन्द हनुमान के शौर्य-वर्णन से ओजपूर्ण बन पड़े हैं। शेष में भव-जाल से मुक्त होने के हेतु हनुमान से सहायता की याचना की गई है। इससे कवि की जीवन सम्बन्धी कुछ परिस्थितियाँ लक्षित होती हैं।

कवितावली में गोस्वामी जी ने सहृदयता और मर्मज्ञता का जैसा सुन्दर परिचय दिया है वैसा ही उनकी वर्णन-कुशलता का भी मनोहर दिग्दर्शन हुआ है। इसमें राम के बाल-रूप की माधुरी और वन-गमन का मार्मिक चित्रण है। लंका-दहन के समय तथा युद्ध-क्षेत्र में प्रदर्शित हनुमान के पराक्रम और रण-कौशल का भी अत्यन्त ओजपूर्ण वर्णन है। लंका-दहन के वर्णन में कवि ने आँखों देखा जैसा साक्षात् संश्लिष्ट चित्रण कर दिखाया है।

कवितावली के बालकाण्ड में राम के बाल रूप का वर्णन है, केवल सात सवैयों में उनके बाह्य-सौन्दर्य का वर्णन-मात्र कर दिया है। उसमें अन्तः प्रकृति का सुरम्य निरीक्षण और मनोवैज्ञानिकता का सर्वथा अभाव है। इसके पश्चात् ही सीता-स्वयंवर का प्रसङ्ग आता है। राम द्वारा धनुर्भङ्ग और सीता-विवाह का संक्षिप्त वर्णन-मात्र हो कर दिया है। इस धनुर्भङ्ग-वर्णन में पुरुष नाद की ही सृष्टि हुई है। धनुर्भङ्ग के पश्चात् मानस के समान लक्ष्मण-परशुराम सम्वाद आता है। इस संवाद में तुलसी ने अनुप्रास की अनुरन छटा का दिग्दर्शन किया है—

"छोनी में के छोनीपति छाजै जिन्हें छत्रछाया,
छोनी छीनी छाये छिति आये निमिराज के।
प्रबल प्रचण्ड बरिबण्ड बर बेष बपु,
बरबै को बोले बयदेही बरकाज के॥"

अयोध्याकाण्ड का कथा-प्रवाह भी इसी भाँति अस्त-व्यस्त और शिथिल है। परन्तु जिन प्रसंगों और पात्रों से राम की श्रेष्ठता और भक्त के आत्म-समर्पण की प्रवृत्ति लक्षित होती है उन्हीं का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें मानस के मनोवैज्ञानिक प्रसंगों का सर्वथा अभाव है। कैकयी-वरदान का संकेत-मात्र भी नहीं है। काण्ड का आरम्भ राम-वनगमन से होता है। केवट, मुनि और ग्रामवधुओं के चित्र अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रित किये गए हैं। वन जाने के लिए सीता के हठ और उन्हें राम के समझाने का वर्णन 'मानस'

में विस्तार से किया गया है परन्तु कवितावली में इस प्रसंग का सर्वथा अभाव है। इसमें राम के वनगमन के समय सीता की कोमलता और राम की सहृदयता के दो अमिट चित्र अंकित हुए हैं। अयोध्या से बाहर निकलते ही कोमलांगी तन्वी सीता की जो दशा हुई उसका तुलसी ने अपनी सूक्ष्म तूलिका से चित्रण किया है—

पुर तें निकसी रघुवीर बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै॥
फिर बूझति हैं 'चलनो अब केतिक' पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥

वन मार्ग के बटोही श्रीरामचन्द्र की ऐसी मनोहर मूर्ति गोस्वामी जी ने अपने मानस-नेत्रों से देखी थी, जिसके सौन्दर्य को वे ही अंकित कर सकते थे। जिसकी रूप-सुधा का पान करते हुए भी सहृदय सदा अतृप्त रहते हैं, और मृगनयन चातक बनकर उसी सौन्दर्य निधि सोम की ओर निहारते रहते हैं, कविवर तुलसीदास उस छवि का प्रयत्न-पूर्वक चित्र खींचते हुए भी खींच नहीं पाते। कितना अनुपम सौन्दर्य है उस वन-बटोही राम का—

"ठाढ़े हैं नौ द्रुम डार गहे, धनु काँधे धरे कर सायक लै।
विकटी भृकुटी बड़री अँखियाँ, अनमोल कपोलन की छवि है॥
तुलसी असि मूरति आनि हिये जड़ डारिधौं प्रान निछावरि कै।
स्रम सीकर साँवरि देह लसै मनो रासि महातम तारक मैं॥"

इन वन-यात्रा के प्रसंगों में केवट और राम के मिलन का वह हृदय-स्पर्शी चित्र प्रदर्शित किया गया है जो मानस मे तुलसी को अत्यन्त प्रिय था, परन्तु इस प्रसंग में केवट की उक्ति अधिक स्वाभाविक, मार्मिक और हृदय-स्पर्शी बन पड़ी है। रामचन्द्र के चरण-कमल की रज से यदि शिला-रूप अहिल्या पार हो गई थी, तो फिर मेरी (केवट) नौका तो केवल काठ की ही है, रज के स्पर्श-मात्र से ही उसका स्वाहा होना अवश्यम्भावी है। अतः आप भले ही प्राण-हरण कर लें परन्तु मैं तो इसी शर्त पर अड़ा हूँ कि आपका पद-प्रक्षालन करके ही आपको पार उतारूँगा, भले ही—

"बरु मारिए मोहि बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं जू।"

अरण्य काण्ड में केवल एक ही सवैया है जिसमें हेम-कुरंग के पीछे 'रघुनायक' दौड़े हैं। इस काण्ड की अन्य सब कथाएँ छोड़ दी गई हैं।

किष्किधाकाण्ड में भी केवल हनुमान के सागर पार करने का उल्लेख है। विशेष विस्तार सुन्दरकाण्ड को ही मिला है। कथानक की दृष्टि से तो यह अत्यन्त संक्षिप्त है; परन्तु रस-निरूपण की दृष्टि से यह सर्वोच्च है। इसमें अशोकवाटिका उजाड़ने से लेकर लंकादहन तक का ओजस्वी वर्णन है। कुछ कवित्तों में हनुमान के लौटने पर कपियों की प्रसन्नता और अंगद का बाग उजाड़ने का जितना सुन्दर परिपाक इस काण्ड में हुआ है उतना सम्भवत: 'मानस' में भी नहीं हो सका है। इसमें लंका-दहन का ज्वलन्त वर्णन किया गया है। इस काण्ड में क्रोध और भय की भावना प्रधान रूप से रहने के कारण वह रौद्र और भयानक रसों के उद्रेक में सहायक होती है। घटनाओं में केवल अशोकवाटिका, लंका-दहन और हनुमान का लौटना ही वर्णित है। इन तीन घटनाओं में लंका-दहन का वर्णन ही सर्वोत्कृष्ट है। उत्तरकाण्ड में कोई कथा विशेष नहीं है, उसमें दैन्य, बाहुशूल, मीन की सनीचरी का उत्पात, महामारी और उसके सम्बन्ध में शंकर की महिमा और स्तुति, आत्मजीवन तथा राम-स्मृति आदि विषयों की विवेचना की गई है। इससे कथा में तारतम्य का सामंजस्य नहीं हो पाया है।

कवितावली में शौर्य और मर्यादा की भावना का उत्कर्ष है और इसीलिए लंका-दहन सारे ग्रन्थ के अन्तर्गत सर्वप्रधान घटना है। कथा की दृष्टि से तो यह भी व्यवस्थित नहीं है। अंगद और मन्दोदरी का रावण को उपदेश देना अत्यन्त विस्तार से दिया गया है। इसके पश्चात् युद्ध-वर्णन है। रस की दृष्टि से तो यह काण्ड भी उल्लेखनीय है। इसे कवि ने अपनी समस्त काव्य-प्रतिभा से इतना प्रस्फुटित किया है कि सम्पूर्ण रामचरितमानस में भी कोई घटना इतनी शक्ति-समन्वित नहीं मिलती। गोस्वामी जी ने लंका-दहन का प्रत्यक्षदर्शी के समान स्वाभाविक वर्णन किया है। जिस समय रावण के आदेश से हनुमान की पूँछ में कपड़े बाँधकर आग लगाई गई उस समय का कितना सूक्ष्म और सटीक चित्रण है—

बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर,
खोरि-खोरि धाइ आइ बाँधत लंगूर है।
तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलौ गात कै-कै,
लात के अघात सहै जी में कहै 'कूर हैं।'
बाल किलकारी कै-कै तारी दै-दै गारी देत,
पाछे लागे बाजत निसान ढोल तूर हैं।
बालधी बढ़न लागी, ठौर-ठौर दीन्ही आगि
बिन्ध की दवारि, कैधों कोटि सत सूर हैं॥

ऐसे ही अनेक छन्दों में गोस्वामी जी ने लंका-दहन का चल-चित्र सा खड़ा कर दिया है। हनुमान ने अपने प्रति अत्याचार-परायण रावण से प्रतिशोध लेने के कारण यह लंका-दहन नहीं किया था, वरन् अखिल विश्व के प्रति बढ़ते हुए उसके अत्याचार को रोकने के हेतु ही राम के प्रयास की भूमिका के रूप में, लोकमंगल के लिए किया था। तभी गोस्वामी जी ने सांग-रूपक द्वारा अपने चिकित्सा-शास्त्र के ज्ञान के प्रदर्शन के निमित्त हनुमान के इस लोकत्राण को स्पष्ठ करते हुए लिखा है कि—

रावन सों राज रोग बाढ़त विराट उर,
दिन-दिन बिकल सकल सुख राँक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध सुनि,
होत न विसोक औत पावै न मनाक सो।
राम की रजायतें रसायनी समीर सुनु,
उतरि पयोधि-पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान बुट, पुटपाक लंक जात रूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगाङ्क सो।

युद्ध-स्थल में हनुमान के पराक्रम का भी गोस्वामी जी ने बड़ा ही विशद वर्णन किया है। केवल युद्ध-क्षेत्र में नहीं, राम की सहायता के अन्य कार्यों में भी हनुमान की क्षिप्र गति का प्रदर्शन किया है। संजीवनी बूटी लाने के प्रसंग में हनुमान का शौर्य, वीरता आदि का चित्रण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनमें उपमा, रूपक,

उत्प्रेक्षा आदि का सुन्दर ढंग से प्रयोग हुआ है। सर्वत्र अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की श्रीवृद्धि हुई है। जैसे मन्दोदरी के इस कथन में कि—

कन्त बीस लोचन बिलोकिये कुमत फल,
ख्याल लंका लाई कपि राँड़ की-सी झोंपड़ी।

हनुमान द्वारा लंका-दहन की तुलना राँड़ की झोंपड़ी व आग लगाने से की गई है। अर्थात जैसे राँड़ की झोंपड़ी में आग लगाने से कोई उसके संरक्षण के हेतु नहीं भागता और वह असहाय जल जाती है, वैसे ही हनुमान ने लंका फूँक दी और कोई उसे बचा न सका। इसी प्रकार लंका-दहन में यज्ञ रूपक दर्शनीय है—

तुलसी समिध सौंज लंक जग्य कुण्ड लखि,
जातुधान पुंगीफल जव तिल धान है।
स्त्रवासों लंगूल बलमूल प्रतिकूल हबि,
स्वाहा महा हांकि-हांकि हने हनुमान है॥

इस प्रकार राम-कथा लङ्का-काण्ड में ही समाप्त हो जाती है, क्योंकि उत्तरकाण्ड केवल भक्ति, नीति और आत्मचरित के अवतरणों से ओत-प्रोत है। लंका-काण्ड के पश्चात् राम-राज्याभिषेक और भरत-मिलाप आदि का कोई उल्लेख नहीं है।

उत्तरकाण्ड कवितावली का सबसे विस्तीर्ण भाग है। इसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की महिमा का गुणगान किया गया है। इसी काण्ड से कवि के आत्मचरित सम्बन्धी उल्लेख उपलब्ध होते हैं। यही एक प्रधान साक्ष्य है जिससे तुलसी की जीवन सम्बन्धी घटनाओं का यथेष्ट परिचय मिलता है। आत्म-ग्लानि और दीनता के वशीभूत होकर कवि ने जीवन की अनेक परिस्थितियों का चित्रण किया है। 'मूढ़ मन' को सिखावन के हेतु, संसार की असारता एवं भगवान की भक्तवत्सलता प्रदर्शित करने के लिए उन्होंने इस काण्ड में अनेक व्यक्तिगत बातों का चित्रण किया है। इसीलिए कवितावली का यह भाग कथा की दृष्टि से भले ही अवांछनीय हो परन्तु तुलसी के आत्म-चरित की दृष्टि से अवश्य श्लाघ्य है। इसमें भावों की विशृङ्खलता विनय-पत्रिका से

भी अधिक है, अतः यह काण्ड कवि की मनोवृत्ति पर प्रकाश डालने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

'हनुमान बाहुक' में भी कवि की दीनता का बड़ा ही मार्मिक और हनुमान की शक्ति का अत्यन्त प्रभावशाली एवं विश्वासोत्पादक दर्शन होता है। उसे भी रूपक एवं अन्य अलंकारों से प्रायः सुसज्जित किया गया है। इस प्रकार कवि की कवितावली में उनकी प्रतिभा और कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। 'मानस' में जिन प्रसंगों का क्षेत्र विस्तृत न हो सका था, उनका कवितावली में विशद वर्णन हुआ है।

प्रश्न १६—तुलसी कृत बरवै रामायण, रामलला नहछू, पार्वती मंगल तथा जानकी मंगल की साहित्यिक आलोचना कीजिए।

उत्तर—कवि कुल-कमल-दिवाकर गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित-मानस, कवितावली और गीतावली के अतिरिक्त बरवै रामायण, रामलला नहछू, पार्वती मंगल और जानकी मंगल आदि ग्रन्थों को भी अपनी कला पटुता और काव्य-सुषमा को प्रदर्शित करते हुए राम की अमर-गाथा से अलंकृत किया है।

'बरवै रामायण' एक सम्यक् ग्रन्थ नहीं है, उसमें समय-समय पर लिखे गए छन्दों का संकलन-मात्र है। ७६ छन्दों में रामचरित का अत्यन्त संक्षिप्त रूप में वर्णन किया है और यह सप्त-काण्ड विभाजित है। बालकाण्ड में जनकपुर के रनिवास में सीता और राम के सौंदर्य के वर्णन के अतिरिक्त धनुर्भंग की घटना का उल्लेख है। अयोध्याकाण्ड में राम के वनवास, वन गमन और वाल्मीकि-मिलन का प्रसंग है, अरण्य में शूर्पणखा के लक्ष्मण के पास जाने, हेम-हरिण और सीताहरण के कारण राम की व्यग्रता और आकुलता का वर्णन है। किष्किंधा में हनुमान-मिलन, सुन्दर में अशोक-वाटिका में सीता की दशा और उनसे हनुमान का वार्तालाप तथा लंका में राम की असंख्य सेना का संकेत है। उत्तरकाण्ड में राम के विषय में भक्ति-विषयक उद्गार और सिद्धान्तों को प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस छोटे से काव्य में राम-कथा सम्बन्धी कुछ इने-गिने प्रसंगों का उल्लेख किया गया है। रामकथा

फुटकर प्रसंगों द्वारा उपस्थित की गई है और कुछ नवीन भावधारायें और प्रसंग प्रदर्शित किए गए हैं।

इस काव्य में कवि की कला मार्मिक स्थलों के चित्रण में अधिक प्रस्फुटित हुई दिखाई देती है। सीता के सौन्दर्य का वर्णन कवि ने रीति-कालीन नायिका के समान किया है। तुलसी के अन्य ग्रन्थों में सीता में दैवी भावना का आरोप है—अतः उसके सौन्दर्य को चित्रित करने में मर्यादा के आवरण में अद्‌भुत उत्प्रेक्षाओं को छिपाना पड़ा है। परन्तु प्रस्तुत काव्य में ऐसी प्रच्छन्नता दिखाई नहीं देती—

"सिय मुख सरद कमल जिमि कहि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ॥
बड़े नयन, कटि, भृकुटि, भाल बिसाल।
तुलसी मोहत मनहि मनोहर बाल॥"

केवल इतना ही नहीं, तुलसी ने राम और सीता की विलास-केलि की ओर भी संकेत किया है—

"उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनींदे नैन॥"

यह सब रीति-कालीन भाव-धारा का प्रभाव है जिसकी वेगवती धारा से तुलसी भी एकदम अछूते न रह सके। सीताजी की विरहजन्य दशा का भी अत्यन्त सूक्ष्म चित्रण किया है। वियोग के ताप से संतप्त सीताजी इतनी कृशगात हो गई हैं कि उनकी कनिष्ठिका की मुँदरी कंकड़ हो गई है। शरीर की इस क्षीणता का कितना सुन्दर चित्रांकन अपनी सूक्ष्म तूलिका से कवि ने किया है—

अब जीवन कै है कपि आस न कोई।
कनगुरिया की मुँदरी कंकन होई॥

बरवै रामायण में तुलसी ने व्यतिरेक, मीलित, उन्मीलित, स्वभावोक्ति आदि अलंकारों का सुन्दर संविधान किया है। प्रत्येक स्थल पर वस्तु या भाव का उत्कर्ष बढ़ाने की ओर ही प्रवृत्ति रही है। सीता और राम के सौन्दर्य की

समता करती हुई कोई सखी व्यंग्यपूर्ण परिहास करती हुई 'प्रतीप' का प्रयोग करती है—

'गरब करहु रघुनन्दन जनि मन मांह।
देखहु अपनी मूरति सिय के छांह॥

काव्य की भाषा अवधी को सुसंस्कृत किया गया है, जिसमें छन्द की साधना सफलतापूर्वक हुई है। यदि इस ग्रन्थ में उत्तरकाण्ड न होता तो सम्भवतः यह रीतिकालीन रचना कही जाती। यहाँ कवि की कला ही अधिक प्रस्फुटित हुई है और भाव-गाम्भीर्य कम। बरवै रामायण के कुछ छन्द कला की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के बन गये हैं।

'रामलला नहछू' एक प्रबन्धात्मक काव्य है। इसमें किसी प्रकार का कथा-विभाग नहीं है। एक ही संश्लिष्ट वर्णन में ग्रन्थ की इतिश्री हो गई है। सोहर छन्द में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। यह छन्द आनन्दोत्सव या विवाह के अवसरों पर स्त्रियों द्वारा गाया जाता है। इसमें राम के नहछू का वर्णन है। कुछ विद्वानों में यह विवाद है कि नहछू यज्ञोपवीत के समय और कुछ के विचार में विवाह के अवसर पर होता है। परन्तु बाबू श्यामसुन्दरदास और डा० बड़थ्वाल ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'नहछू' विवाह के अवसर का ही नहछू है, यज्ञोपवीत के समय का नहीं, क्योंकि रचना में 'दूलह' शब्द का प्रयोग हुआ है—

"गोद लिये कौशल्या बैठी रामहि बर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो॥
दूलह कै महतारी देखि मन हरषई हो।
कोटिन्ह दीनेउ दान मेघ बनु बरषई हो॥"

काव्य की दृष्टि से यह रचना साधारण है। श्रृंगार वर्णन ह। भ।वकाश रूप में लक्षित होता है। वस्तुतः यह राम-कथा से सम्बन्धित नहछू नहीं है वरन् साधारण नहछू की रीति पर लिखी हुई रचना है। यह रचना स्त्रियों के गाने के लिए रची गई है। इसमें कोमलकान्त पदावली और प्रवाहपूर्ण रचना-शैली है। इसमें वस्तुओं और व्यापारों का चित्राङ्कन ही सुन्दर ढंग से किया गया है। कथा-भाग में भृत्याओं का रूप-वर्णन और दशरथ की श्रृंगार-प्रधान

परिहास-प्रियता उच्छृंखलता जान पड़ती है, परन्तु यह सब लोक-जीवन के भीतर से रामचरित को देखने का प्रयास-मात्र था, अतः इसके लिए तुलसी को श्रेय मिलना ही चाहिए ।

'जानकी मंगल' में जानकी-राम का विवाहोत्सव प्रधान विषय है। कथा का आधार विशेष रूप से वाल्मीकि रामायण है। मानस में यही प्रसंग विस्तार-पूर्वक तो लिखे गये हैं परन्तु उनमे गेयता नहीं है। कवि ने लोकप्रचलित 'सोहर' छन्द का आश्रय लेकर विवाहोत्सवों पर गाने के लिए इस रचना को सृष्टि की है। इसी कारण इसमें कथा का विस्तारपूर्वक साँगोपाँग वर्णन नहीं मिलता, अनेक स्थलों पर तो संकेत मात्र किया गया है, फिर भी इसमें कथा के हृदयग्राही प्रसंगों की उपेक्षा नहीं हुई है। विवाह के निमित्त किये गये आयोजन के समय लोगों के जो विचार हो सकते हैं उनका अत्यन्त सुन्दर वर्णन कवि ने किया है। जब राम धनुप के पास पहुँचे उस समय की सीता की मानसिक दशा का कवि ने बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है—

> "होत बिरह सर मगन देखि रघुनाथहि,
> फरकि बाम भुज नयन देहिं जनु हाथहि ।
> धीरज धरति, सगुन बल रहत सो नाहिन,
> बर किसोर, धनु घोर, दईउ नहिं दाहिन ॥"

इस काव्य में भी कवि के अन्य ग्रन्थों के समान ही अलंकारों का अत्यन्त सुन्दर सामंजस्य मिलता है। अनुप्रास की छटा तो मानों कवि की लेखनी में ही समाविष्ट हो गई है। जैसे-जैसे कवि की लेखनी चलती है वैसे ही वैसे अनुप्रास का मनोहर प्रवाह पीछे-पीछे चलता है। काव्यारम्भ में ही उसकी मुग्धकारी छटा दर्शनीय है—

> "गुरु गनपति गिरजापति गौरि गिरापति ।
> सारद सेस सुकवि श्रुत सन्त सरल यति ॥"

कवि ने उत्प्रेक्षा के प्रयोग से भी सुन्दर भाव-चित्र अंकित किये हैं—

> "गये राम गुरु पहिं, राउ राना नारि नर आनँद भरे ।
> जनु तृषित करि करिनि निकर सीतल सुधा सागर परे ॥"

जानकी-मंगल की रचना अवधी में हुई है और काव्य में आदि से अन्त तक प्रायः एक ही छन्द का प्रयोग किया गया है ।

'पार्वती-मंगल' भी जानकी-मंगल की समसामयिक रचना है । दोनों के नाम में भी विशेष साम्य दिखाई देता है । गोस्वामीजी ने राम के अनन्य उपासक होते हुए भी अन्य देवी-देवताओं की भी स्तुति की है । इसी विचार के पोषक होने के कारण उन्होंने पार्वती-मंगल की रचना करके अपने आदर्श को व्यवहार में प्रत्यक्ष कर दिखाया है । पार्वती-मंगल का प्रधान विषय शिव-पार्वती का विवाहोत्सव है । यह प्रबन्ध-काव्य 'अरुण' और 'हरिगीतिका' छन्दों में पूर्वी अवधी भाषा में रचित है ।

मानस में वर्णित कथानक के अनुसार तपस्विनी पार्वती के प्रेम की परीक्षा लेने सप्तर्षि गये थे, किन्तु पार्वती-मंगल में शिवजी ब्रह्मचारी का वेश बनाकर स्वयं जाते हैं । 'मानस' में पार्वती ने स्वयं ऋषियों के साथ वाद-विवाद किया था परन्तु पार्वती-मंगल में पार्वती अपनी सखी द्वारा शिव को उत्तर देती हैं । 'मानस' में 'जस दूलह तस बनी बराता' का रूप है और शिव विवाह में भी सर्प लपेटे रहते हैं । पार्वती-मंगल में शिव के अ-शिव वेश में परिवर्तन हो जाता है । वास्तव में पार्वती-मंगल का मुख्य आधार 'कुमारसम्भव' है । इस कथा के साथ प्रचलित परम्परागत कथाएँ भी पार्वती-मंगल से साम्य रखती हैं ।

पार्वती-मंगल 'कल्यान काज उछाह ब्याह' में 'स्नेह सहित' गाने के लिए रचा गया है । इसी से इसमें मंगल-विधान की पूर्ण सामग्री विद्यमान है । भावों की व्यंजना अत्यन्त कोमल ढंग से हुई है और उक्ति-वैचित्र्य भी विशेष सुन्दर है । शिव ने ब्रह्मचारी के प्रेम की परीक्षा लेते हुए और पार्वती को विचलित करने के सम्बन्ध में जो उक्तियाँ कही हैं, पार्वती उनको व्यर्थ की बातें मान-ब्रह्मचारी वेशधारी शिव को तुरन्त विदा कर देना चाहती है, इसलिए सखी द्वारा उनसे कहलवाती हैं—

"कहँ तिय होंहि सयान सुनहि सिख राउरि ।
बौरेंहि के अनुराग भइउँ बढ़ि बाउरि ॥"

इस काव्य में कवि ने दृश्य-वर्णन का भी पूर्ण ध्यान रखा है । हिमवान

के नगर का चित्रण थोड़े में भी सुन्दर किया है। वर्णन सर्वत्र सुसंगठित है। अलंकृत पदावली का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक और विलक्षण रूप से हुआ है। वर्णन में अलंकार स्वयमेव आ गये हैं और वे भाव-वर्णन का उत्कर्ष करते हैं। पार्वती की विदा की स्थिति पर कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया है।

भेंटि बिदा करि बहुरि भेंट पहुँचावहिं।
हूँकरि हूँकरि सुलावइ धेनु जनु धावहिं॥

इसी प्रकार मंगलहार का सुन्दर रूपक भी दर्शनीय है—

प्रेम पाट पट-डोरि गौरि-हर-गुन-मनि।
मंगल हार रचेउ कबि-मति मृगलोचनि॥
मृग नयनी बिधु-बदनी रचेउ मनि मंजु मंगल हार सों।
उर धरहु जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभासार सों॥

प्रश्न १७— "हमारा कवि मूल कथानक अध्यात्म रामायण और वाल्मीकि रामायण से लेकर उसकी रूपरेखा का अनुमान करते हुए उससे बहुत कम हटता है। फिर भी जब कभी और जहाँ कहीं वह हटता है वहाँ वह प्रायः कलात्मकता प्रदर्शित करता है," इस कथन की समीक्षा उदाहरण सहित कीजिये।

उत्तर—हिन्दी में राम साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि महाकवि तुलसीदास हुए हैं। उनके रचना विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मानवजीवन की जितनी दशाओं का सन्निवेश कविता में हुआ है उतना अन्य राम-भक्त कवियों की कविता में नहीं। राम-भक्ति का दिव्य स्रोत वाल्मीकि रामायण से उद्भूत हुआ है। वाल्मीकि ने राम की सौम्य मूर्ति, रीति-नीति, प्रजा-वत्सलता आदि गुणों से मोहित होकर उन्हें असाधारण गुणों से विशिष्ट मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में चित्रित किया है। इस प्रकार मूलतः रामभक्ति का स्रोत वाल्मीकि के अन्तस्थल में ही प्रवाहित हुआ है। वाल्मीकि रामायण राम की गंगोत्री है। इस प्रकार वाल्मीकि द्वारा राम का व्यापक स्वरूप भक्त और सहृदयजनों के समक्ष उपस्थित हो चुका था। अतः रामभक्ति शाखा पर महर्षि-बाल्मीकि का ऋण

है। फिर राम-भक्त तुलसीदास उस ऋण से कैसे वंचित रह सकते अतिरिक्त 'अध्यात्म रामायण' की कथा की रूप रेखा का अनुमान भी ... किया है। इसके अतिरिक्त प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक, श्रीमद्भागवत आदि अनेक रचनायें ऐसी है जिनमें से भावसाम्य और कभी-कभी शब्द-साम्य भी गोस्वामी जी की रचनाओं में विशेषकर 'रामचरित मानस' मे मिलते हैं। 'मानस' में तुलसी ने स्वयं स्वीकार किया है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति ॥

तुलसीदास ने रामचरितमानस में महाकाव्य के गुणों का सन्निवेश कर जीवन के समस्त अंग पूर्ण रूप से प्रदर्शित किये हैं। इसके साथ राम का मर्यादा-पूर्ण जीवन और लोक-शिक्षा का आदर्श तो कथा को बहुत ही मनोरम और भावपूर्ण बना देता है। तुलसीदास ने अपने ग्रन्थ में राम की कथा के साथ ही साथ दार्शनिक और धार्मिक सिद्धान्तों का अत्यन्त स्पष्टता के साथ दिग्दर्शन किया है। वाल्मीकि रामायण में राम महापुरुष हैं और अध्यात्म-रामायण में वे सम्पूर्णतः ईश्वर हैं। तुलसी ने अधिकतर अध्यात्म का ही आदर्श अपने सामने रखा है। यद्यपि उन्होंने उसमें अपनी मौलिकता को भी स्थान दिया है। जहाँ कहीं कवि ने कथा-प्रवाह में परिवर्तन किया है वहाँ दुरूहता के स्थान में कलात्मकता और कवित्व-शक्ति का परिचय मिलता है। तुलसीदास ने राम का लौकिक रूप वाल्मीकि से और अलौकिक रूप अध्यात्मक रामायण से लिया है।

वाल्मीकि रामायण में अहिल्योद्धार-प्रसंग में अहिल्या अदृश्य है और राम-लक्ष्मण उसे स्पर्श करते हैं। 'अध्यात्म रामायण' में अहिल्या शिला पर खड़ी होकर तपस्या करती है और राम उसे केवल प्रणाम करते हैं। अहिल्या राम के चरणों का स्पर्श पाकर पतिलोक जाती है। 'मानस' में अहिल्या पाषाण रूप होकर पड़ी रहती है और राम के पवित्र चरणों का स्पर्श पाकर पतिलोक जाती है। तुलसीदास ने कथा भाग का रूप तो 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार ही रखा है पर दृष्टिकोण अध्यात्म रामायण के अनुसार। तुलसीदास की अहिल्या वाल्मीकि रामायण की अहिल्या के अनुसार ही पाषाण रूप है परन्तु अध्यात्म रामायण की अहिल्या की भाँति राम के चरणों का स्पर्श करती है।

अध्यात्म रामायण में राम का व्यक्तित्व कुछ महान है। वे अहिल्या के चरणों का स्पर्श न कर केवल उसे प्रणाम करते हैं। 'मानस' में राम पूर्ण ब्रह्म हैं, अत: वे अहिल्या को प्रणाम भी नहीं करते, प्रत्युत गम्भीरता से अपने 'पावन पद' का स्पर्श उसे करा देते हैं। तुलसी का अपने आराध्य के प्रति यही भक्ति-पूर्ण दृष्टिकोण है। भावना की दृष्टि से 'मानस' वाल्मीकि रामायण की अपेक्षा अध्यात्म रामायण के अधिक समीप है। कैकेयी वरदान के प्रसंग में भी अध्यात्म रामायण, वाल्मीकि रामायण और 'मानस' में कुछ साम्य दीख पड़ता है।

वाल्मीकि रामायण में मन्थरा कैकेयी से कहती है, हे कल्याणि! जल के बह जाने पर बाँध बाँधने से क्या लाभ? अत: उठ, साधन-कार्य कर और महाराज की प्रतीक्षा कर। इस प्रकार मन्थरा द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर विशाल-नेत्रा सौभाग्य-गर्विता कैकेयी कोप-भवन में गई—

"गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजनं तु दर्शय॥
तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मंथरया सह।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता॥"

'अध्यात्म रामायण' में इसके पश्चात् देवताओं ने सरस्वती देवी से प्रार्थना की—हे देवि! यत्न-पूर्वक तुम भू-लोक में अयोध्या जाओ। राम के अभिषेक में ब्रह्म के वचन से विघ्न डालने का यत्न करो। पहले मंथरा में प्रवेश करो, बाद में कैकेयी में। विघ्न उत्पन्न होने पर हे शुभे, तुम पुनः स्वर्ग लौट आना। यह सुनकर सरस्वती ने कहा, ऐसा ही होगा, और उसने मंथरा में प्रवेश किया—

"रामाभिषेक-विघ्नार्थं यतस्व ब्रह्म वाक्यतः
मन्थरां प्रविशस्वाद कैकेयी च ततः परम्॥
ततो विघ्ने समुत्पन्ने पुनरेहि दिवं शुभे।
तथेत्युक्त्वा तथा चक्रे प्रविवेशाथ मन्थराम्॥

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट होता है कि, "वाल्मीकि रामायण" में मंथरा और कैकेयी का जो मनोवेग है, वह स्वाभाविक और लौकिक है। 'अध्यात्म रामायण' में मंथरा और बाद में कैकेयी की बुद्धि में विपर्यय सरस्वती द्वारा

होता है। यहाँ कथा में अलौकिकता का समावेश हो गया है। तुलसीदास ने अपने 'मानस' में यह प्रसंग 'अध्यात्म रामायण' से ही लिया है। तुलसीदास की मन्थरा और कैकेयी सरस्वती के प्रभाव से अपनी सात्विक बुद्धि को खो बैठती हैं। तुलसी ने विशेष रूप से इसी प्रसंग को इस कारण ग्रहण किया है, क्योंकि इस अलौकिक प्रभाव से कैकेयी के दोष का परिमार्जन सुगमता से हो जाता है। अयोध्याकाण्ड में स्वयं भरद्वाज भरत से कहते हैं—

"तुम्ह गलानि जिय जानि करहु, समुझि मातु करतूति।
तात कैकेइहि दोषु नहिं गई गिरा मति धूति॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी ने अपने 'मानस' के दृष्टिकोण के लिए अधिकतर 'अध्यात्म रामायण' की रूपरेखा का ही अनुगमन किया है। मानस की कथा 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' की सामग्री से निर्मित होकर आदर्श समाज और आदर्श धर्म की रूपरेखा का निर्माण करती है। इस कथा में पात्रचित्रण सर्वप्रधान है। तुलसी ने प्रत्येक पात्र को इस प्रकार चित्रित किया है कि वह अपनी श्रेणी के पात्रों में आदर्श रूप बन गया है। पात्रचित्रण में तुलसी का ध्येय लोकशिक्षा है। इसी लोकशिक्षा का स्वरूप प्रदर्शित करने की दृष्टि से तुलसी ने अनेक स्थलों पर 'वाल्मीकि रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' से स्वतन्त्रता ली है। तुलसीदास के सभी पात्रों में आदर्श भावना ओत-प्रोत है। पात्रों के विविध गुणों का निरूपण विविध भाँति से किया गया है, जिसमें न केवल व्यक्तिगत मर्यादा की रक्षा है, प्रत्युत सामाजिक मर्यादा भी अक्षुण्ण बनी रहती है। इन आदर्शों के साथ कवि ने स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता का भी अच्छा चित्रण किया है। कला और शिक्षा का इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र अप्राप्य है। कवि 'अध्यात्म रामायण' और 'वाल्मीकि रामायण' की रूपरेखा का अनुसरण करते हुए अपनी मौलिकता का प्रकाश भी विकीर्ण करता है। जहाँ कहीं और जब कभी भी वह उपर्युक्त ग्रन्थों से कुछ दूर हटता है वहाँ कलात्मकता प्रदर्शित करता है।

कविवर तुलसी ने कवि-कुलगुरु कालिदास के काव्य के आधार पर प्रकृति सुन्दरी की सौम्यता का वर्णन 'मानस' के कूलों पर आच्छादित किया है—

"कानन कठिन भयंकर भारी।
घोर घाम हिमवारि बयारी ॥"

उन्होंने प्रकृति और प्राकृतिक दृश्यों को उपदेश का साधन जानकर भी चित्रण किया है—

"रस रस सूखि सरित सर पानी।
ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी ॥"

इस प्रकार ऋतु-वर्णन आदि प्राकृतिक वर्णनों में भी उपदेशात्मक छटा निराली ही है। पूर्ववर्ती कवियों से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने अपने ग्रन्थ-रत्नों में इस विद्वत्ता से सामग्री को सँवार कर रखा है कि वह नित्य नूतन प्रतीत होती है। प्रतिभा और कल्पना के सहारे कवि ने सामग्री को मौलिक रूप देकर कलात्मकता प्रदर्शित की है। मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में राम में शक्ति, शील और सौन्दर्य तीनों विभूतियों का जो सुन्दर सामंजस्य हुआ है, उसमें वाल्मीकि और 'कालिदास का कवित्व' और अध्यात्म रामायण की धार्मिकता का जो अनुपम समन्वय हुआ है उसमे रामचरितमानस अन्य धार्मिक ग्रन्थों से कहीं अधिक धार्मिक हो गया है और दूसरी ओर हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महा-काव्य भी। भक्ति-पक्ष मे काव्यगत विशेषताओं के व्यक्तीकरण के हेतु कथा मे कुछ आवर्तन-परिवर्तन भी किया गया है।

'प्रसन्नराघव नाटक' का अनुकरण करते हुए कवि ने राम-सीता दर्शन विवाह के पहले ही करा दिया है, जिसमें कवि को पूर्वानुराग का चित्रण करने का सुअवसर प्राप्त हो सका है। परन्तु यह राम-सीता-मिलन एकान्त मे नहीं करवाया गया है वरन् समस्त प्रसंग में राम के साथ लक्ष्मण और सीता के साथ उनकी प्रिय सखियाँ रही हैं। सीता और राम का पुष्पवाटिका का मिलन प्रेम के स्वाभाविक परन्तु दिव्य वर्णन के लिए आदर्श है। सीता को राम के आगमन की सूचना मिली ही थी कि वह दर्शन के हेतु उत्कण्ठित हो उठीं, उधर से सखियाँ रघुवर के रूप-वर्णन की प्रशंसा के पुल बाँध रही थीं। प्रशंसा की मधुभरी बतियाँ सुनते ही—

'तासु वचन अति सियहिं सोहाने, दरस लागि लोचन अकुलाने।
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई, प्रीति पुरातन लखै न कोई ॥"

इधर से जानकी राम की ओर बढ़ीं और उधर पुष्पचयन करते समय अपनी ओर सहेलियों के सहित सीता के आने के कारण—

"कंचन किंकनि नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं, मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं॥
अस कहि फिर चितये तेहि ओरा, सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचचल, मनहुँ सकुचि जिमि चले दिगंचल॥"

सीताजी भी वहाँ पहुँच कर राम की रूप-सुधा का पान करती रहीं। गौरी-पूजन में विलम्ब होते देख सीता को वहाँ से चलना ही पड़ा; परन्तु वहाँ से चलकर भी—

"देखत मिस मृग विहग तरु, फिरय बहोरि-बहोरि।
निरखि-निरखि रघुवीर छबि, बाढ़इ प्रीति न थोरि॥"

नायक और नायिका के प्रथम मिलन का ऐसा शिष्ट, मर्यादित, साथ ही सांगोपांग चित्रण तुलसी ही कर सकते थे।

'अध्यात्म रामायण' से थोड़ा सा संकेत पाकर कवि ने 'प्रसन्न राघव' और 'हनुमन्नाटक' के आधार पर धनुर्भंग राजसभा में करवाया है। इसमें उन्हें विवेचनीय स्थल पर नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने में विशेष सहायता मिली है। प्रसन्न-राघव के आधार पर कवि ने धनुर्भंग के पश्चात शीघ्र ही परशुराम को राजसभा में बुलवा कर राम-परशुराम-संवाद भी करवाया है। परशुराम को प्रसंग में लाकर कवि ने मनोवैज्ञानिक तथा नाटकीय परिस्थिति का अच्छा चित्रण किया है। परशुराम के आते ही असफल राजाओं के मुख पर कैसे-कैसे भाव क्रमशः व्यक्त होते हैं, इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण कर कवि ने अपनी सूक्ष्म विस्मय-पूर्ण आतुरता, विजेता की प्रतिस्पर्धी से उसे प्रतीकार-तत्पर देखकर एक मात्सर्यपूर्ण प्रसन्नता; और अन्त में इस दर्प-पूर्ण आगन्तुक को भी विजित देखकर लज्जापूर्ण पराजय की स्वीकृति ने उत्तरोत्तर किस प्रकार एक दूसरे को दबाकर उनकी भाव-प्रक्रिया पर अधिकार प्राप्त किया है।

चित्रकूट के मार्ग पर अग्रसर भरत से मोर्चा लेने के हेतु निषादराज की वीरता और उत्साह-पूर्ण तैयारी तुलसीदास की एक मौलिक और उपयुक्त उद्भावना है; और इसका निर्वाह भी उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से किया

है । हनुमान की लंका-यात्रा में हनुमान विभीषण-मिलन भी कवि की मौलिक उद्भावना है । यह भेंट पर्याप्त तन्मयता के साथ वर्णित है, क्योंकि इसमें कवि को विभीषण के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने का सुअवसर प्राप्त होता है । कथावस्तु की आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से भी यह मिलन महत्वपूर्ण है, क्योंकि इस भेंट में ही विभीषण अपने को राम की शरण में प्रस्तुत कर स्वयं को राम के योग्य प्रमाणित करते हैं ।

प्रसन्नराघव का अनुकरण करते हुए कवि ने छद्मवेशी हनुमान के सम्मुख सीता-त्रिजटा-सम्वाद करवाया है । इससे हनुमान को सीता के हृदय में सुलगती राम-प्रेम की अग्नि का अक्षुण्ण परिचय कराने और उन्हें इसका साक्षी बताने में कवि को यथेष्ट सहायता मिली है ; हनुमान ने लंका से लौटने पर राम को विरहातुर सीता का जो 'प्रणय संदेश' सुनाया है, उसे 'दैन्य' और 'विषाद' के भावों ने मर्मस्पर्शी बना दिया है :—

> नाथ जुगल लोचन भरि बारी । बचन कहे कछु जनककुमारी ।
> अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना । 'दीनबन्धु' प्रनतारित हरना ॥
> विरह अगिनि तनु तूल समीरा । स्वास जरई छन माँहि सरीरा ।
> नयन श्रवहिं जल निज हित । लागी जरैं न पाँव देह बिरहागी ॥"

शान्ति और सुख के दृश्य अशान्ति और अंधड़ के दृश्यों के पूर्व सम्भवतः इसीलिए चित्रित किये हैं कि वे हमारी कलात्मक भावना को आनन्द प्रदान करते हैं और उनके द्वारा दो परस्पर विरोधी भावों का संघर्ष उत्पन्न हो जाता है । कदाचित इसीलिए कवि ने महायुद्ध से पूर्व चन्द्रोदय तथा रावण के अखाड़े के सुन्दर दृश्य चित्रित किये हैं और वह भी इतनी सफलता के साथ कि मानस के सर्वाधिक मनोरंजक चित्रों में इनको स्थान मिला है ।

रावण द्वारा अपने विद्वेषी भाई विभीषण की ओर प्रेरित शक्ति को तुलसी के अनुसार, लक्ष्मण के स्थान पर राम अपनी छाती पर रोकते हैं । इससे 'मानस' के कथानक का चरित्र पूर्ववर्ती राम साहित्य के नायकों की अपेक्षा और भी ऊँचा हो गया है और इससे कवि के काव्य की श्रीवृद्धि भी हुई है । 'मानस' के 'उत्तरकाण्ड' में कवि अपने मुख्य आधार-ग्रन्थों को बिल्कुल छोड़ देता है । सीता-निर्वासन की कथा रामचरित के कालिमापूर्ण पक्ष की कथा

है और सम्भवतः उक्त आधार ग्रन्थों मे प्रक्षिप्त भी है, फलतः 'मानस' में उसको स्थान न देकर तुलसी ने आदर्श चरित्र के महत्व का उत्कर्ष किया है।

किन्तु कवि ने इस प्रकार की घटनाओं के परिवर्तन तक ही कलात्मकता का प्रदर्शन नहीं किया है वरन् उसने कथा-वस्तु के विकास और वर्णन-विस्तार में भी असाधारण प्रतिभा एवं कला का प्रदर्शन किया है। उदाहरणार्थ, धनुर्भङ्ग-प्रसंग वर्णनात्मकता की दृष्टि से सराहनीय है। राजकुमारों के रंग-भूमि में प्रवेश से लेकर धनुष के टूटने तक का वर्णन अत्यन्त कलात्मक ढङ्ग से हुआ है। जनक की सीता-स्वयंवर-सम्बन्धी प्रतिज्ञा के घोषित होने के पश्चात् कई राजा सामूहिक प्रयत्न तक में असफल होते हैं, और इस पर कवि जनक से एक नैराश्यपूर्ण कथन कराता है जिसका वीरोचित उत्तर लक्ष्मण देते हैं और इस उत्तर का प्रभाव पूरी सभा में दिखलाकर कवि विश्वामित्र से राम को धनुर्भङ्ग के लिए आज्ञा दिलाता है।

राम द्वारा धनुष टूटने पर उत्पन्न हुए घोर रव का कवि ने ध्वनिमयी भाषा में वर्णन किया है। और फिर अत्यन्त काव्यात्मक शब्दों मे सीता द्वारा राम को जयमाला पहिनाने का और पृथ्वी पर तथा देवलोक में इससे उत्पन्न हर्षातिरेक का वर्णन किया है। फिर सीता से राम का चरण स्पर्श कराया गया है। इस प्रकार यह प्रसंग कवि की काव्य-प्रतिभा और वर्णनात्मकता का एक सौम्य प्रतीक है। कथा-प्रवाह का साङ्गोपाङ्ग रूप में वर्णन किया गया है। तुलसीदास के पूर्व रामाख्यान मे रस का वर्णन अपेक्षाकृत अपर्याप्त ढङ्ग से मिलता है। भले ही कवि ने 'प्रसन्न-राघव' और 'हनुमन्नाटक' से सहायता ली है परन्तु वह उसकी मौलिकता के समक्ष बिल्कुल नगण्य है। इस प्रकार कवि ने अपने कथानक को अत्यन्त विशद एव सुन्दर बना दिया है। उनके सम्पूर्ण 'मानस' की एक प्रधान विशेषता है, कथानक का 'समविभक्ताङ्ग' जो कि महाकाव्यों मे प्रायः कम ही दिखाई देता है। वस्तुतः यही कवि की सर्वप्रधान विशेषता है। वस्तु-विन्यास में नैसर्गिक सुषमा और कलात्मक प्रसंगों का समावेश कवि को प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों में विशिष्ट स्थान देने के लिए पर्याप्त कारण हैं।

प्रश्न १८—तुलसी के ग्रन्थों के आधार पर, उपयुक्त उद्धरण देते हुए, बतलाइये कि तुलसी किस दार्शनिक मत के अनुयायी थे ?

उत्तर—भक्त कवि तुलसीदास भक्ति साहित्य के क्षेत्र में कलानिधि चन्द्रमा-वत् रामामृत की धारा को प्रवाहित कर गये, जिसको पीकर जनता आज तक अमर है और युग-युग तक रहेगी। जिन्होंने भक्त भ्रमरों के लिए अपनी कृति-वाटिका में भाव-कलिकाओं द्वारा अनुराग और प्रेम-मकरन्द की सुशील धारा प्रवाहित की और साहित्य-सेवियों के सम्मुख भगवती भारती की प्रतिमा प्रत्यक्ष करा दी, भला उनका प्रातः स्मरणीय पुनीत नाम किस अभागे अरसिक के हृदय पटल पर चित्रित न होगा। जिनका रामचरितमानस भारतीय समाज के लिए ही नहीं वरन् विश्व-जनों के मनो-मन्दिर का इष्टदेव हो रहा है, जिसमें नवरसों की तेतीस संचारियों की सुन्दर गोष्ठी समाहत है। भक्तकवि और सुधारक होने के साथ-साथ ज्ञाननिधि तुलसी दर्शन-शास्त्र-वेत्ता भी थे अतः उसका भी उन्होंने अपने ग्रन्थों में सुन्दर स्फुरण किया है। तुलसीदास ने अपने दो ही ग्रन्थों में—'विनय-पत्रिका' और 'मानस' में दर्शन-ज्ञान का दक्षतापूर्ण विवरण दिया है। 'विनय-पत्रिका' में स्तुति, आत्म-बोध और आत्म-निवेदन का अंश अधिक होने के कारण दर्शन का विशेष रूप से स्पष्टीकरण नहीं हुआ है, परन्तु फिर भी कुछ पदों द्वारा तुलसी का दर्शन-ज्ञान लक्षित होता है। शंकर के मायावाद का निरूपण तो उन्होंने अत्यन्त दक्षता के साथ किया है—

> **केशव कहि न जाइ का कहिए।**
> **देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए।**
> **सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।**
> **धोए मिटै न, मरै भीति दुख, पाइय यहि तनु हेरे॥**
> **कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।**
> **तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥**

तुलसीदास कर्म, ज्ञान और भक्ति को धार्मिक क्षेत्र में जीवन-यापन के लिए परमावश्यक तंत्र मानते हैं। इस त्रिविधि के समन्वय द्वारा ही मानव-कल्याण सम्भव हो सकता है। यद्यपि मुक्ति का साधन ज्ञान भी है और भक्ति भी, तथा दोनों से ही भव-जात दुःख दूर होते हैं। फिर भी तुलसी ने भक्ति को

आवश्यक माना है। भक्ति-मार्ग कण्टक-विहीन है, जिसके द्वारा मुक्ति का अभेदत्व भी स्वीकार किया है—

"भगतहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा।
उभय हरहि भव-संभव खेदा॥"

परन्तु जन-साधारण के लिए ज्ञान का मार्ग अति कठिन और कण्टकाकीर्ण है—

"ज्ञान के पंथ कृपान की धारा!
परत खगेस होइ नहि बारा॥"

इसी कारण तुलसी ने भक्ति द्वारा ही अध्यात्म साधन का संदेश दिया है। भक्ति वह राजमार्ग है जिसमें न गड्ढे हैं और न कलाप। भक्त सुविधा से ही मुक्ति पथ की ओर अग्रसर हो जाता है। 'मानस' के उत्तरकाण्ड में उन्होंने भक्ति की महिमा का गान करते हुए कहा है कि "मोह न नारि, नारि के रूपा, पन्नगारि यह रूप अनूपा।" जिस प्रकार स्त्री को अन्य स्त्री के सौन्दर्य को देखकर मोह का आकर्षण नहीं होता उसी प्रकार भक्ति को सांसारिक माया मुग्ध नहीं कर सकती। कारण भक्ति और माया एक ही लिंग हैं और ज्ञान को, भिन्न लिंग होने के कारण माया अपने निर्गुणी जाल में फँसा लेती है। अतः भक्ति-मार्ग निष्कंटक है। भक्ति हृदय की वस्तु है और ज्ञान बुद्धि की क्रिया का फल है और बुद्धि पर राग अथवा माया का प्रभाव पड़ना संभव है। इस प्रकार तुलसी ने भक्ति की उत्तमता सिद्ध की है।

किन्तु इतना होने पर भी उनकी समन्वय की भावना ने भक्ति और ज्ञान में एकत्व और अभेदत्व की भावना उत्पन्न कर दी है। वस्तुतः उनका आविर्भाव ही समन्वयकारी के रूप में हुआ था। भक्ति से ज्ञान को दीप्ति प्राप्त होती है और ज्ञान से भक्ति की प्रेम-रज्जु दृढ़ होती है। दोनों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसी भाव से प्रभावित होकर तुलसी ने भक्ति में बाधक वस्तुओं का विरोध किया है। संसार को इसी से उन्होंने यत्र-तत्र असार भी कहा है परन्तु संसार की यह असारता अद्वैतवादियों के अनुरूप नहीं है। वरन् सांसारिक विषय-वासनाओं में लीन हुआ मानव भक्ति से दूर होता जाता है। इसी से तुलसी ने संसार को ग्लानि की दृष्टि से देखा है—अन्यथा उनकी

दृष्टि में संसार असार कैसे हो सकता था। उनकी दृष्टि के अनुसार तो समग्र संसार सियाराममय था—

"सियाराममय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥"

तुलसी ने "नाना पुराण निगमागम" का अध्ययन किया था, अतः उनके ग्रन्थों में दार्शनिक विचारों की शृङ्खला सिद्धान्त रूप से उपलब्ध होती है। समीक्षकों ने उनके विचारों और दार्शनिक निरूपण को देखकर उन्हें अद्वैतवादी विशिष्टाद्वैतवादी, स्मार्त वैष्णव आदि अनेक सम्प्रदायों का अनुयायी सिद्ध किया है। संसार की सारता अथवा असारता के विषय में तुलसी ने दोनों सिद्धान्तों को असत्य ही कहा है—

"कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥"

फिर भी दर्शन-शास्त्र की मुख्य समस्याओं पर अर्थात् जगत्, जीव और ब्रह्म के वास्तविक रूप और उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रसंगानुकूल तुलसी ने अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी है। 'मानस' में तुलसी का दर्शन अत्यन्त व्यापक, विस्तीर्ण और परिमार्जित है। घटना-प्रसंग में भी दर्शन का प्रसार दिखाई देता है। बालकाण्ड के प्रारम्भ में ईश्वर-भक्ति का निरूपण करते हुए उन्होंने अपनी दार्शनिकता के दर्शन कराये है। इसी प्रकार लक्ष्मण-निषाद-संवाद, राम-नारद-संवाद, वर्षा-शरद-वर्णन, राम-लक्ष्मण-सम्वाद, गरुड़ और काकभुशुण्डि सम्वाद में तुलसी ने दार्शनिक विचारों की एक शृङ्खला सी बाँध दी है। तुलसीदास दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रकटीकरण में शंकर के अद्वैतवाद और रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद से पूर्णतः प्रभावित दिखाई देते हैं। वस्तुतः तुलसी रामानुजाचार्य की परम्परा में श्रीरामानन्द के सिद्धान्तानुयायी थे। इन्हीं रामानन्द ने कबीर को रामनाम का मन्त्र दिया था जिसके आधार पर कबीर ने 'निर्गुण सगुण से परे' अपने 'राम' की कल्पना की थी। तुलसी के राम भी 'विधि-हरि-शम्भु-नचावन हारा' और दशरथ-सुत होकर भी परब्रह्म हैं। इस ब्रह्म के लिए उन्होंने उन सभी विशेषणों का प्रयोग किया है जो अद्वैतवाद के ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुए हैं। तुलसी ने सगुण दाशरथि राम और निर्गुण

ब्रह्म में एकत्व स्थापित किया है। उत्तरकाण्ड में उन्होंने यह स्पष्ट किया है—

व्यापक ब्रह्म अखंड अनन्ता। अखिल अमोघ एक भगवन्ता।
सोइ सच्चिदानन्द घनश्यामा। अज विज्ञान रूप गुण धामा।
अगुण अदभ्य गिरा गोतीता। समदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्गुण निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा॥

तुलसी ने अपने अद्वैत ब्रह्म को विशिष्टाद्वैत के गुण से भी युक्त किया है। अद्वैत ब्रह्म को जब तुलसीदास विशिष्ट बनाते है तो वे सती से प्रश्न कराते हैं—

ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज, अकिल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद॥

और इसका उत्तर वे आगे चलकर इस प्रकार देते हैं—

सगुनहिं अगुनहिं नहीं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबल सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥
जासु नाम भ्रम-तिमिर-पतंगा। तेहि किमि कहिय विमोह प्रसंगा॥

इस प्रकार तुलसी ने अद्वैतवाद से भी विशिष्टाद्वैतवाद की रचना की है और अद्वैतवाद के सिद्धान्तों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हुए भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुयायी वने हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार भी "साम्प्रदायिक दृष्टि से तो वे रामानुजाचार्य जी के अनुयायी थे ही, जिनका निरूपित सिद्धान्त भक्तों की उपासना के अनुकूल दिखाई पड़ा।" तुलसीदास ने ब्रह्म की व्यापकता के निमित्त अद्वैतवाद का रूप ग्रहण किया है और उसे माया से भी पूर्णतः समन्वित किया है। संसार के बन्धन में उन्होंने मायावाद की पदावली का अधिकांश रूप में प्रयोग किया है—

"सपने होय भिखारि नृप,
रंक नाकपति होय।
जाके हानि न लाभ कछु,
तिमि प्रपंच जिमि जोय॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने संसार को 'धुआँ के से धौरहर' भी कहा है। माया त्रिगुणात्मिका है और गुणों की सहायता से ही वह विश्व-रचना करती है। माया ही वह आदि शक्ति है जो समस्त सृष्टि की रचना, स्थिति और संहार करने वाली है। माया स्वयं निर्बल है और राम का आश्रय पाकर ही ब्रह्माण्ड की सृष्टि करती है। अतः संसार की वस्तुएँ मायाजनित होने के कारण मृषा हैं। केवल राम के सत्त्व से प्रतिभासित होकर ही सत्य सी प्रतीत होती हैं—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।
रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु कर वारि।
जदपि मृषा तिहुँकाल सोइ, भ्रम न सकइ कोइ टारि॥

तुलसी ब्रह्म और जीव में अभेदत्व के पोषक हैं। जीव ब्रह्म ही है। जो भेद दोनों में दिखाई देता है वह मायाजनित है। दोनों में भेद ज्ञान-अज्ञान का है। जब ज्ञान की लौ माया के आवरण को चीर कर उद्दीप्त होने लगती है तब जीव और ब्रह्म में एकत्व और तादात्म्य का रूप दिखाई देने लगता है। जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान होने पर भ्रम और तज्जनित भाव दोनों ही नष्ट हो जाते हैं और जीव स्वतः ब्रह्म हो जाता है। ससार एक मोह-रात्रि के समान है जिसमें सभी निद्रा रानी की गोद में सोये रहते हैं, जागृत केवल वही हैं जो इस 'चिदात्मा' का बोध प्राप्त करने में उपर्युक्त मोह और अनात्म विश्व से वियुक्त रहते हैं। भेद-स्थापना माया का ही गुण है—

"गो गोचर जहँ लगि मन जाइ, सोइ सब माया जानेहु भाइ॥"

राम की माया दो रूपों में उपलब्ध होती है : एक अविद्या और दूसरी विद्या। 'अविद्या' संसृति का हेतु है और 'विद्या' जीव को संसृति से मुक्त करती है। प्रवृत्ति-मार्ग के पथिक अविद्या की ओर बढ़ते हैं और निवृत्ति-पथ के राही 'विद्या' माया के वशीभूत होते हैं। माया के इस भव-चक्र से विमुक्त होने का एकमात्र मार्ग भक्ति है। भक्ति जीव को माया की उलझन से मुक्त कर देती है। इस प्रकार जहाँ अद्वैतवादी माया को भ्रममात्र मानते हैं, वहाँ तुलसी माया के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। वे माया को मन का भ्रम या असत्य आवरण-मात्र नहीं कहते। माया सत्य है, वह 'सियाराम' और 'सब जग' की

एकता के सम्बन्ध में उपासक को भ्रान्त कर देती है। माया-सम्भव भ्रम के कारण ही मनुष्य ब्रह्म की शक्तियों को सीमित समझता है। भ्रम का नाश होने पर एकत्व की भावना उत्पन्न हो जाती है और ब्रह्म तथा ईश्वर में अद्वैत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है—

माया सम्भव भ्रम सबै, अब न व्यापिहहि तोहि।
जानेसि ब्रह्म अनादि अज, अगुन गुनाकर मोहि॥

इस प्रकार तुलसी ने शंकराचार्य के समान परमार्थ और व्यवहार में अभेद नहीं माना है। यद्यपि भव-जनित क्लेश को नष्ट करने के लिए ज्ञान और भक्ति दोनों ही समर्थ हैं, फिर भी ज्ञान का साधन-पथ दुर्गम है, और उसका प्रमुख कारण यह है कि मन को कोई आश्रय नहीं मिलता—

"ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका।
साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥"

इस दृष्टिकोण के कारण तुलसी ने अद्वैतवादियों के ज्ञान को स्वतन्त्र पथ न मानकर भक्ति को ही श्रेयस्कर समझा है—'ज्ञान-दीपक' की तुलना में उन्होंने 'भक्ति-मणि' का रूपक उपस्थित किया है। रामभक्ति को चिन्तामणि के रूप में बताकर उसकी प्राप्ति का मार्ग सुगम और कण्टक-विहीन सिद्ध किया है। कवि के अनुसार ज्ञान का दीपक विषयवासनाओं की वायु के हलके झोंके से ही बुझ सकता है और इन्द्रियाँ इनको अंगीकार करने के लिए सदा उत्सुक रहती हैं। फलस्वरूप दीपक अत्यन्त कठिनाइयों के पश्चात् भी अन्धकार का ही स्वागत करता है और ज्ञान-ज्योति पूर्णतः शान्त हो जाती है। दूसरी ओर भक्ति का चिंतामणि सतत रूप से रात-दिन स्वभावतः प्रकाशित रहता है और उस पर विषय-वायु की आँधी भी कोई प्रभाव नहीं डाल पाती फलतः इस संसार में वे ही भक्त शिरोमणि हैं जो इस मणि की प्राप्ति के लिए उद्यत रहते हैं। अतः गोस्वामी जी के अनुसार रामभक्ति के बिना निर्वाण की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। जीवन क्लेश रामभक्ति के बिना उसी प्रकार नहीं मिट सकता जिस प्रकार बिना दिवाकर के रात्रि का नाश असम्भव है। राम-चरण-सेवा ही अगाध भवसागर को पार करने की एकमात्र नौका है।

इस प्रकार तुलसी ने ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठता प्रदान की है। इस भक्ति

का चरम उद्देश्य सेव्य-सेवक भाव की सृष्टि करना है, जो तुलसीदास का आदर्श है। कवि ने ज्ञान और भक्ति के विरोध की भावना को दूर कर दोनों में एकत्व की भावना स्थापित की है। ज्ञान भी मान्य है परन्तु भक्ति की अवहेलना करके नहीं। भक्ति से ज्ञान की सृष्टि होती है और ज्ञान प्राप्त करने पर भी भक्ति का अस्तित्व बना रहता है। दोनो एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं। किन्तु भक्त-हृदय होने के कारण तुलसी ने राम के सगुण रूप को ही अपनाया है और अतृप्त भक्त जनों के लिये भी रामरसायन की सरस धारा प्रवाहित की है अतएव तुलसीदास के दार्शनिक विचारो को किसी भी 'वाद' के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। हाँ, वे समन्वयवादी अवश्य कहे जा सकते हैं। कारण, गीता से लेकर गांधीवाद तक सभी धर्म प्रवर्तकों के सिद्धान्त उनकी वाणी के विषय रहे हैं। डा० बलदेवप्रसाद मिश्र के शब्दों में गीता का अनाशक्ति योग, बौद्धों और जैनों का अहिंसावाद, वैष्णव और शैवों का अनुराग-वैराग्य, शङ्कर का अद्वैतवाद, रामानुज की भक्ति-भावना, वल्लभाचार्य की बालकृष्णोपासना, गोरख आदि योगियों का संयम, रामकृष्ण परमहंस का समन्वयवाद, आर्य-समाज का आर्य-संगठन और गांधीवाद की सत्य-अहिंसा-मूलक आस्तिकतापूर्ण लोक-सेवा आदि सभी इसमें अन्तर्हित हैं ही, साथ ही मुसलमानों का मानव-बन्धुत्व और ईसाइयों का श्रद्धा तथा करुणा से पूर्ण सदाचार भी उसमे क्रीड़ा कर रहे हैं।

प्रश्न १९—"तुलसी का काव्य भक्ति-प्रधान काव्य है"—इस आधार पर तुलसी की भक्ति-पद्धति की विशद समीक्षा कीजिए।

उत्तर—श्री रामतत्व-चूड़ामणि पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जैसे आदर्श भक्त और त्यागी महात्मा जब इस संसार में अवतरित हुए तब संसार सागर के दोनों छोरों पर निराशा का निविड़ अन्धकार छाया हुआ था और जनता तमोमयी रात्रि में इधर-उधर भटक रही थी। वह श्रान्त पथिक की भांति किसी अवलम्बन की खोज में थी परन्तु भाग्य-चक्र की गति विपरीत दिखाई दे रही थी। धार्मिक, राजनैतिक आदि आन्दोलनों की द्वेषमयी आंधी उसके नेत्रों में धूल झोंककर उसे भटकती निशा के अज्ञात पथ पर धकेलकर स्वार्थ-साधन के निमित्त उसकी प्राण-वायु का निगरण करना ही चाहती थी कि

भव-सागर के दूसरे छोर पर आशा की एक ज्योति दिखाई दी और धीरे-धीरे तुलसी-शशि का जीवन-गगन में उदय हुआ। देश के जीवन का अन्धकार और द्वेष की अग्नि इसके शीतल प्रकाश से शान्त होने लगी और इस विश्ववरेण्य संतकवि ने विश्रान्त संसार-पथिक के लिए राम-रसायन की अमृत धारा प्रवाहित की, जिसको पीकर जनता आज तक आभारी है और युग-युग तक रहेगी। उन्होंने भक्त-भ्रमरों के लिए भाव-कलिकाओं द्वारा भक्ति-पराग को निःसृत किया जिसका पान कर जनता आज तक अपने सौभाग्यक्षणों की प्रशंसा करती है। उन्होंने अपने साहित्य के मंथन द्वारा रामचरित चिन्तामणि का पुनरुद्धार किया और रामनाम का मन्त्र दिया। भक्ति-भावना के लिए जिस व्यक्तिगत ईश्वर की आवश्यकता थी, तुलसी ने उसे दाशरथि राम में पा लिया था। 'जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि' कहकर तुलसी ने इसी भाव को प्रकट किया है कि राम सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त हैं। वे घट-घटवासी हैं। वस्तुतः गोस्वामी जी रामानुजाचार्य की परम्परा में श्रीरामानन्द के सिद्धान्तानुयायी थे, जिन्होंने कबीर को रामनाम का मन्त्र दिया था और जिसके आधार पर कबीर ने निर्गुण-सगुण से परे अपने राम की कल्पना की थी। तुलसी के राम भी 'विधि हरि शम्भु नचावन हारा' और दशरथ-सुत होकर भी परब्रह्म हैं। वे भी सूरदास की भाँति "अविगत गति कछु कहत न आवै" सिद्धान्त के पोषक है, यद्यपि उनकी दृष्टि में निर्गुण और सगुण ब्रह्म एक ही है, निर्गुण ब्रह्म ही भक्ति के प्रेम के कारण 'सगुण' हो जाता है—

सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध वेदा॥
अगुन अरूप अलख अज होई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल विलग नहि जैसे॥

किन्तु निर्गुण ज्ञान, असाध्य होने के कारण सर्वसुलभ नहीं है। उसके पथ में कंटकों का जाल बिछा है जो जीव के आगे बढ़ने में बाधक रहता है; परन्तु सगुण भक्ति आशु फलदायिनी है। उसका मार्ग सरल, सुगम और सुबोध है। भक्ति स्वतन्त्र और निरपेक्ष है। ज्ञान और विज्ञान इसके अधीन हैं। भक्ति से ज्ञान की सृष्टि होती है और ज्ञान प्राप्त होने पर भी भक्ति की स्थिति रहती है। दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं, परन्तु अन्तर केवल इतना ही

है कि भक्ति स्त्री है और ज्ञान पुरुष रूप है, और ज्ञान, विराग, योग और विज्ञान पुरुष रूप हैं क्योंकि ये स्वावलम्बी हैं और इसीलिए पुरुष-प्रधान हैं। भक्ति नारी है और माया भी स्त्रीरूपिणी है। पुरुष नारी पर मुग्ध होता है और नारी उसे मोहित कर मुग्धता के पाश में बाँध देती है। नारी, नारी पर मुग्ध नहीं होती और न ही नारी, नारी को मोहित कर सकती है। अतः ज्ञान, विराग आदि साधन माया-विमुग्ध हो सकते हैं, पर भक्ति पर माया अपना प्रभाव नहीं डाल सकती। अतः रामभक्ति के बिना निर्वाण की प्राप्ति असम्भव है। जीवन के क्लेश रामभक्ति के बिना उसी प्रकार नहीं मिट सकते जिस प्रकार बिना सूर्य के तम का विनाश नहीं होता। जिस प्रकार सूर्योदय होने से संसार भर के अन्धकार का नाश हो जाता है उसी प्रकार हृदय-गुफा में 'रामनाम' का उदय होने मात्र से ही अज्ञान और मोह का अन्धकार मिट जाता है। अग्नि जिस प्रकार सृष्टि के समस्त पदार्थों को भस्म कर देती है, उसी प्रकार राम नाम समस्त शुभाशुभ कर्मों को भस्म कर देता है। 'नाम' के उदय होते ही हृदय के समग्र ताप-संताप का निवारण हो जाता है और 'जिय की जरनि' शान्त हो जाती है। समस्त साधनों के परिणाम-स्वरूप राम-भक्ति के बिना वास्तविक क्षेम किसी को प्राप्य नहीं। मोक्ष भी राम-भक्ति के बिना उसी प्रकार नहीं टिक सकता जिस प्रकार जल बिना भूमि के नहीं टिकता। उसको किसी आधार की आवश्यकता रहती है। जैसे—

जिम बिन जल थल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोइ करै उपाई ॥
तथा मोच्छ सुख सुनि खगराई। रहि न सकइ हरि भक्ति बिहाई ॥

और फिर इस कलिकाल में तो सद्गति का एक ही साधन है, वह है राम-भक्ति। इसीलिये इस मानव-शरीर को, जोकि समस्त साधनों का साधन है, पाकर भी जो हरि-भक्ति नहीं करता, और विषयों में आसक्ति रखता है, वह अपनी निधि को उसी प्रकार व्यर्थ गँवाता है जिस प्रकार कोई काँच के बदले में स्पर्शमणि गँवाता है। इसीलिये तो तुलसी ने समस्त संसार को सियाराममय जानकर उसको प्रणाम किया है। और भक्ति को ही अपनाकर सेव्य-सेवक भाव से राम नाम की महिमा का गान करते हुए उसकी याचना की है। वे अपने

परम स्नेही को भी त्यागने का उपदेश देते हैं यदि उसको राम-वैदेही प्रिय न हों—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
सो छाँड़ियें कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यौ पिता प्रह्लाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी॥
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासो होय सनेह रामपद, ऐसो मतो हमारो॥

इसीलिये वे सभी के पास रामभक्त होकर गए हैं। उन्होंने शिव, पार्वती, विष्णु आदि देवी-देवताओं की स्तुति भी की है, परन्तु सभी से राम-भक्ति की याचना करते हैं। हनुमान, लक्ष्मण, सीता आदि सभी से सानुरोध और दीनता-पूर्वक भगवत् कृपा की याचना की है—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरियो सुधि द्यायबी कछु करुण कथा चलाइ॥

यहाँ इन्होंने भवभूति के स्वर में स्वर मिलाकर करुण रस का प्राधान्य स्वीकार किया है। भला तुलसीदास इसके अतिरिक्त और माँग ही क्या सकते थे। उनकी तो 'सावन के अन्धहि ज्यों सूझत रंग हरो' जैसी गति थी। इस अनन्य भक्ति के कारण ही सच्चे भक्त के समान उनके हृदय से अनेक प्रकार की भक्ति से आप्लावित भावनाएँ प्रस्फुटित हुईं, जिनमें दैन्य, आशा, आत्म-समर्पण, आत्म-ग्लानि, अनुताप और आत्म-निवेदन की भावनाएँ प्रमुख रूप से निःसृत हुईं। अपने विगत जीवन पर दृष्टिपात करने से उन्हें जो अनुताप हुआ उसे वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"जन्म गयौ बादहि वर बीति।
परमारथ पाले न पर्‌यौ कछु अनुदिन अधिक अनीति॥"

ऐसी स्थिति में भगवान के अतिरिक्त उन्हें कोई और सहायक दिखाई नहीं देता। भगवान की अनुकम्पा पर दृढ़ विश्वास होने के कारण वे आत्मसमर्पण करते हैं। उनको विश्वास है कि प्रभु क्षणमात्र में ही मेरी सारी कलुषकालिमा को धो डालेंगे, क्योंकि उन्होने जटायु, अहिल्या, अजामिल जैसे अधमों को भी मुक्त कर दिया था। इसीलिये कवि विनती करते हैं—

"काहे ते हरि मोहि बिसारो।
जानत निज महिमा मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो ॥"

इतनी विनती करते हुए कवि का गला रुँध आता है तथा नेत्रों से अश्रुधार स्रवित होने लगती है। स्वामी के शील, शक्ति और सौंदर्य की ओर कवि का मन आकृष्ट हुआ, जिससे वह पश्चात्ताप, लज्जा, विश्वास तथा मंगलाशा में डुबकियाँ लगाने लगा। कितना उच्च आदर्श है कवि की वाणी में, कितने उच्च विचार, त्यागमयी भावनाएँ और आत्म-बलिदान की शक्ति कवि के मानस क्षेत्र से प्रस्फुटित हुई हैं। अस्तु, कवि का कहना है कि बिना भगवत्प्रकाश के उसका पाना सर्वथा असम्भव है। राम नाम की महिमा का गान करते हुए, दीनता, दुर्बलता, दैन्य आदि स्वीकार करने पर ही और मन के विकारों को त्यागने पर ही जीव राम की भक्ति रूपी पवित्र गंगा की धारा में डुबकियाँ लगा सकते हैं। इसी कारण उन्होंने रामनाम की महिमा का गान किया है। गूँगा जिस प्रकार गुड़ के स्वाद को व्यक्त नहीं कर सकता, उसके रस का मन के भीतर ही भीतर रसास्वादन करता रहता है, उसी प्रकार तुलसी राम नाम गाते हैं, फिर भी गा नहीं पाते। यह तो स्वसंवेद्य रस है, रस पान करने की वस्तु है। गोस्वामी जी के लिये तो यह नाम ही 'माइ बाप गुरु स्वामी' सब-कुछ है और 'तप तीरथ मख दान नेम उपवास' आदि सभी से बढ़कर है। इस नाम-मणि के प्रकाश से ही अन्तर-बाहर एक अपूर्व ज्योति जगमगा उठेगी—

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरेहुँ जो चाहसि उजिआर ॥

राम का नाम मात्र लेने से अधमाधम भी मुक्ति पा लेता है। राम नाम लेते ही उसके लिए भव-सागर गोपद के समान हो जाता है। इतना ही नहीं 'नाम लेत भवसिन्धु सुखाहिं' और फिर उसे तैरना नहीं पड़ता। इस कराल कलिकाल में तो 'नाम' कल्पवृक्ष के समान है जो स्मरण करते ही कलि के दुःद्वन्द्व का नाश कर देता है। इस युग में न कर्म है न भक्ति और न ज्ञान ही है, एक मात्र नाम ही सबका आधार है। नाम की साधना के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने कहा है—

पय अन्हाइ फल खाइ जपु, राम नाम षट मास ।
सकल सुमंगल सिद्ध सब, करतल तुलसीदास ।।

पयस्विनी में स्नान करके और फलाहार करके छः महीने राम नाम का जाप करने से सब मंगल और सभी सिद्धियाँ वशीभूत हो जाती हैं । तुलसी के अनुसार 'रा' और 'म' ये दो मधुर और कोमल-कान्त अक्षर भक्तों के हृदय कमल पर मंडराने वाले भ्रमर हैं, भक्तिरूपिणी सुन्दर स्त्री के कानों के लोलित कर्ण-फूल हैं और जगत के हित के लिये चन्द्रमा और सूर्य हैं । इस प्रकार तुलसी की शुभ भक्त-हृदय आत्मा राम के प्रति अनन्य प्रेम और विश्वास में प्रतिबिम्बत होती है । वे राम के आदर्श भक्त और अनन्य सेवक हैं । उन्होंने राम की भक्ति को सेवक-सेव्य भाव में स्वीकार किया है । यदि राम स्वामी हैं तो तुलसी उनके गुलाम और दास हैं —

तू दयाल दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी,
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंजहारी ।।

उनके अनुसार 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' सिद्धान्त मान्य है । यही सेव्य-सेवक भाव उनकी भक्ति-साधना की प्रधान विशेषता है । तभी तो वे कहते हैं—

"सो अनन्य जाके असि, मति न टरे हनुमन्त ।।
मैं सेवक सचराचर, रूप रासि भगवन्त ।।"

यही उनकी भक्ति-साधना का क्रियात्मक रूप है जो उन्होंने अपने हृदय के उद्वेगों को शान्त करने के निमित्त स्वान्तःसुखाय रूप में रचा है । परन्तु भक्ति का यह रूप और तत्सम्बन्धी ग्रन्थ भी स्वान्तःसुखाय होने के साथ-साथ अपर-सुखाय भी हो गए हैं । तुलसी ने अपने इष्टदेव में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वय किया है । वे राजा होने के साथ-साथ भगवान हैं । समस्त सृष्टि त्रिगुणमयी है और समय आने पर जीव सत्व, रज और तम की ओर आकृष्ट होता है । जीव त्रिगुणों की ओर आकृष्ट होता है अतः त्रिगुणात्मक इष्टदेव भक्त को अधिक आकर्षित कर सकते हैं । इसी अभिप्राय से तुलसी ने भगवान के त्रिगुणात्मक स्वरूप की कल्पना की है । रज का प्रतीक सौन्दर्य, तम का प्रभाव शक्ति और सत्य का प्रतीक शील है । इस प्रकार तुलसी में इष्टदेव इन लोकोत्तर

गुणों से युक्त हैं। राम सुन्दरता के भी अलौकिक रूप हैं, मानों तीनों लोकों का सौन्दर्य बटोर कर उनके वर-वदन पर उँड़ेल दिया गया हो। मानो राम-लक्ष्मण की सुन्दरता के रूप में त्रिभुवन की सुन्दरता ने ही दो रूप धारण कर लिए हों—

"मनु मूरति धरि उभय भागमइ त्रिभुवन सुन्दरताई।"

उदारता, शील और शरणागत-वत्सलता राम के प्रधान गुण है, जिन पर समस्त भक्त-समाज निछावर है। तुलसी भी राम की कृपा पाकर मोक्ष की अकांक्षा नही करते वरन 'दृढ़ भक्ति' का वरदान और भक्ति-भावना का उत्तरोत्तर विकास प्राप्त करना—यही उनकी दृढ़ मनोकामना है। उन्होंने अपने को पूर्णतः राम के अर्पित कर दिया है। उन्होंने यह आत्मसमर्पण इसलिए किया है कि भगवान दीननायक और भक्तवत्सल हैं; उनकी अनुकम्पा पर उन्हें दृढ़ विश्वास है कि पतित-पावन होने के नाते वे उनका उद्धार करेंगे। राम की उदारता और भक्तवत्सलता का ज्वलन्त उदाहरण इस बात का साक्षी है कि तुलसी की उनके प्रति कितनी असीम श्रद्धा और विश्वास था—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥
जो गति जोग विराग जतन करि नहिं पावत मुनि ज्ञानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥
जो सम्पति दससीस अरपि कर रावन सिव पहँ लीन्ही।
सो सम्पदा विभीषन कहँ अति सकुचि सहित हरि दीन्ही॥
तुलसीदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तो भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥

राम की भक्ति-मणि को प्राप्त करने में अनेक आयोजन जुटाने की आवश्यकता नही पड़ती, वे तो आशुतोष हैं, प्रेम सहित किये गए नामस्मरण मात्र से ही प्रसन्न हो जाते है। परन्तु फिर भी रामभक्ति के परम पद पर पहुँचने के लिए क्रमिक विकास का आश्रय लेना पड़ता है। राम ने शबरी को नवधा भक्ति का उपदेश दिया था। सीतान्वेषण करते हुए श्रीराम जब शबरी के यहाँ आतिथ्य ग्रहण करने के लिए उसके आश्रम में गये तो उन्होंने उसे नवधा

भक्ति का उपदेश दिया जिससे गोस्वामी जी ने यह प्रदर्शित किया कि भक्त अपना आत्मिक विकास कैसे कर सकता है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

राम-भक्ति का प्रादुर्भाव मुख्य रूप से राम के चरित के श्रवण, मनन तथा कीर्तन से होता है। राम के शील-स्वभाव से परिचय प्राप्त करने से उनकी भक्ति तो अनायास ही प्राप्त हो जाती है। यह कथा-श्रवण भी सत्संगति से होता है—"बिनु सतसंगत हरि-कथा, तेहु बिनु द्रवहिं न राम"। इसी प्रकार अन्य स्मरण आदि भक्ति-मन्दिर के सात द्वार हैं। जो भक्त श्रवण आदि के क्रमिक विकास से आत्म-निवेदन तक पहुँचता है वही सर्वश्रेष्ठ भक्त है। इस विकास से प्रगतिशील भक्त भगवान का अनन्य प्रेमी और सेवक होता है। वह अनन्य भाव से ही आत्मसमर्पण करता है और उस अनन्त में लीन हो जाता है। यह विकास ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ने से ही सुसाध्य होता है। इस विकासोन्मुख भक्तिवाद को ही तुलसीदास ने महत्वपूर्ण स्थान दिया है और वे स्वयं भी इसी प्रकार भक्तिपथ पर विकासोन्मुख रहे हैं। यह नवधा भक्ति भगवान के चरम पद पर पहुँचने का उत्तम साधन है और उत्तरोत्तर एक से दूसरी भक्ति की श्रेणी प्रबल होती जाती है। स्थूल से सूक्ष्म तक पहुँचने का यह सर्वोत्तम साधन है।

तुलसी ने भक्ति के लिए गुरु-कृपा को भी विशिष्ट स्थान दिया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार भगवत्कृपा तथा भागवत-कृपा उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है, जिससे भक्त भव-सागर से पार हो जाता है उसी प्रकार गुरु-कृपा भी आवश्यक है—

तुलसीदास हरि गुरु करुना बिनु विमल विवेक न होई ।
बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई ॥

ब्राह्मण-सेवा रामभक्ति की एक आवश्यक भूमिका है। विप्र-द्रोही को गोस्वामी जी ने अन्धों में स्थान दिया है—

विप्रद्रोह जनु बाँट पर्‌यौ हठि सब सों बैर बढ़ावौ ॥
ताहू पर निज मति विलास सब सन्तन माँझ गनावौ ॥

इस प्रकार तुलसीदास ने किसी नवीन मत का प्रादुर्भाव नहीं किया। सनातन हिन्दू धर्म के प्रचलित सिद्धान्तों का समन्वय करके अपने मत का स्पष्टीकरण किया है। उसमें इतिहास, पुराण, वेद आदि की पृष्ठभूमि पर उन्हीं के द्वारा प्रसारित धर्म-सिद्धान्तों को स्पष्टतम रूप में प्रस्तुत कर भक्ति के नाम से पुकारा है। इसके साथ-साथ भक्ति में विवेक को भी पूर्ण स्थान दिया है। संसार के स्वरूप का अर्थ तुलसी ने विवेक से लिया है न कि ज्ञान-मार्ग से। इस सम्बन्ध में जीव, माया और ब्रह्म के विषय में अपने स्वतन्त्र विचारों को तुलसी ने व्यक्त किया है। इस प्रकार तुलसी ने भक्तिरस से छलकते हुए 'मानस' में समस्त भक्तों को अवगाहन कराया और समग्र लोक का आभ्यन्तर मल दूर हुआ और राम-भक्ति का प्रसार हुआ। रामभक्ति के इस समन्वित रूप को जनता ने सरलता, सुबोधता और सुगमता से अपना लिया, जिससे देश की द्वेषमयी अग्नि शान्त हुई। इस सबका श्रेय मात्र भक्तशिरोमणि तुलसीदास को है।

प्रश्न २०—"गोस्वामी तुलसीदास धर्म और भक्ति का अविच्छिन्न सम्बन्ध मान दोनों को एक दूसरे का पूरक मानते हैं।"

उपर्युक्त उक्ति के सन्दर्भ में गोस्वामी जी की धर्म-भावना का विवेचन कीजिए।

उत्तर—गोस्वामी जी ने राम-भक्ति का प्रचार कर धर्म के विविध रूपों का द्घाटन किया था। वह धर्म और भक्ति में अंगांगिभाव-सम्बन्ध मानते थे। उनका मत था कि "धर्म के किसी आडम्बर या अनाचार से ग्रस्त हो जाने पर भक्ति का विकृत हो जाना अनिवार्य है।" इसीलिए उनका कहना था कि साधक की उपासना किसी प्रकार के अनाचार से मलिन न हो तथा न उस पर किसी रहस्यात्मक विचारधारा या पद्धति का आवरण ही पड़ना चाहिए। सदैव भक्ति का निर्मल और यथार्थ रूप ही लोक-कल्याण का कारण बनता है।

आडम्बर का बहिष्कार

अपने उपर्युक्त विचारों के कारण ही गोस्वामी जी धर्म-भावना में आडम्बर को विघातक और त्याज्य मानते थे। जब हमारी किसी विचार या क्रिया के

बाह्य और आन्तरिक रूपों में भिन्नता आ जाती है, वही भिन्नता आडम्बर का कारण बनती है। जैसे वाह्य वेश-भूषा भव्य और शुभ्र तथा मधुर वाणी होने पर भी यदि हम गर्हित कार्यों मे व्यस्त रहें तो इसे हमारा आडम्बर कहा जायेगा। 'दोहावली' में गोस्वामी जी ऐसे आडम्बरी लोगों को उपासना के अयोग्य घोषित करते हैं—

"बचन बेष तें जो बनै, सो बिगरे परिनाम।
तुलसी मन तें जो बनै, बनी बनायी राम॥"

इसीलिए गोस्वामी जी ने ऐसे आडम्बरी लोगों से सावधान रहने की चेतावनी देते हुए कहा है—

"हृदय कपट बर बेष धरि, बचन कहैं गढ़ि छोलि।
अबके लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिए मन खोलि॥"

गोस्वामी जी का मत है कि जिस धर्म या उपासना में आडम्बर को स्थान दिया जाता है उसके अनुयायी या उपासको को वास्तविक सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती—

"बचन बिचार अचार तन, मन करतब छल धूति।
तुलसी क्यों सुख पाइए, अन्तर जामिहिं धूति॥"

अपनी इसी धारणा के अनुसार उन्होने धर्म और उपासना के क्षेत्र में आडम्बर को सर्वथा त्याज्य घोषित कर भक्ति की निर्मलता की स्थापना की है। उनका मत है कि मन की निर्मलता के बिना भगवान की भक्ति प्राप्त करना असम्भव है और आडम्बर मन की निर्मलता और शुचिता का विघातक होता है।

भत-प्रेत पूजा और रहस्यवाद का बहिष्कार

गोस्वामी जी धर्म के क्षेत्र में भूत-प्रेत पूजा तथा रहस्यवाद—दोनों का ही काई स्थान नहीं मानते। भूत-प्रेतों की पूजा करने वाले तामसी श्रद्धा वाले होते हैं। वे भय के कारण भूत-प्रेतों की पूजा करते हैं। ऐसी उपासना को गोस्वामी जो अधमतम कोटि की उपासना मानते हैं। ऐसे उपासक मारण, मोहन, उच्चाटन आदि नृशंस कर्म करने वाले अनाचारी होते हैं। इसीलिए गोस्वामी जी ने भूत-प्रेत-पूजकों को फटकारते हुए कहा है—

"तुलसी परिहरि हरि-हरहि पाँवर पूजहिं भूत ।
अन्त फजीहत होंहिगे गनिका के से पूत ॥"

इसी प्रकार उन्होंने धर्म को रहस्यवाद के दुरूह, मायावी प्रभाव से भी दूर रखने की बात कही है । रहस्यवादी उपासक प्रायः अपनी उपासना-पद्धति को गुप्त रखते हैं । कौल, कापालिक, अघोरी आदि ऐसे ही उपासक होते हैं । परन्तु गोस्वामी जी धर्म के क्षेत्र में किसी भी रहस्य, दुराव या छिपाव की भावना को स्वीकार न कर उसके रूप को निर्मल, स्वच्छ, उन्मुक्त और सात्विक रखने पर बल देते हैं । उनका स्पष्ट कहना है कि—

"सूधे मन सूधे बचन, सूधी सब करतूति ।
तुलसी सूधी सकल विधि, रघुबर प्रेम प्रसूति ॥"

धर्म का वही रूप ग्राह्य होता है जो सबके लिए सुलभ होता है—

"निगम अगम साहब सुभग राम साँचिली चाह ।
अम्बु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँह ॥"

अपनी इसी मान्यता के कारण तुलसी रहस्यवादियों के समान राम को हृदय में ही ढूँढ़ने की बात न कह कर राम को प्रेम द्वारा सम्पूर्ण विश्व के प्रसार में देखने की बात कहते हैं क्योंकि यह विश्व राम का ही प्रतिरूप है । प्रेम से स्मरण करने पर राम तुरन्त प्रकट हो जाते हैं—

"अन्तरजामिहुँ तें बड़ बाहर जानि हैं राम, जे नाम लिए तें ।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किए तें ॥
आपनि बूझि कहै तुलसी कहिबे की न बावरि बात बिये ते ।
पैज परे प्रह्लादहु को प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिये ते ॥"

अपनी उपर्युक्त मान्यताओं द्वारा तुलसीदास ने धर्म और भक्ति के क्षेत्र में प्रचलित आडम्बर, बहुदेवोपासना, भूत-प्रेत पूजा, रहस्यवादी उपासना पद्धति आदि का खंडन और विरोध कर धर्म को निर्मल, सर्व ग्राह्य और पवित्र बनाने पर बल दिया था । ऐसा करके उन्होंने धर्म और धर्म के माध्यम से भक्ति को सम्पूर्ण विकारों से मुक्त कर एक ऐसी सरल-सहज उपासना-पद्धति की स्थापना की थी जिसे स्वीकार करने में किसी को न कोई हिचक हो सकती थी और न किसी प्रकार की कोई बाधा हो । इस प्रकार उन्होंने विभिन्न मत-

मतान्तरों के दूषित प्रभावों से ग्रस्त जनता के सामने भक्ति का प्रशस्त राज-मार्ग उन्मुक्त कर लोक कल्याणकारी धर्म की स्थापना करने में पूर्ण सफलता पाई थी।

धर्म का वास्तविक रूप

गोस्वामी जी ने अपने इस लोक-कल्याणकारी धर्म की स्थापना नैतिक, भाविक और बौद्धिक धरातल पर की थी। अपनी नैतिक मान्यताओं द्वारा सामाजिक समाज के प्रत्येक व्यक्ति के साथ अपने आवश्यक व्यवहार का स्वरूप निर्धारित करता है। नीति ही सामाजिकों के पारस्परिक व्यवहार में सामंजस्य और सन्तुलन स्थापित कर समाज के कल्याणकारी रूप का निर्धारण करती है। भाविक तत्व सामाजिक को नीति के पालन से भी आगे बढ़ाकर पारस्परिक आत्मीयता और प्रेम स्थापित करने के लिए प्रेरित करती है। जैसे भाई-भाई के बीच कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण नीति द्वारा किया जाता है परन्तु भाई भाई के लिए सर्वस्व त्यागकर उसका अनन्य प्रेमी बना रहे, यह भावना भाविक तत्व द्वारा ही उत्पन्न होती है। यह तत्व करुणा, ममता, वत्सलता, दया आदि श्रेष्ठ उच्च भावनाओं को जन्म देकर मानव को मानव मात्र के प्रति अनुराग से भर देती है। बौद्धिक तत्व अच्छे बुरे परिणामों को दृष्टि में रख व्यक्तिगत उन्नति की प्रेरणा प्रदान कर समाज में व्यवहार-कुशलता की भावना उत्पन्न करता है। इस प्रकार ये तीनों तत्त्व धर्म का एक सुष्ठु, शालीन, स्वस्थ रूप प्रस्तुत कर समाज के कल्याण का विधान करते हैं।

गोस्वामी जी ने 'मानस' में धर्म के जिस स्वरूप की स्थापना की है उसमें उपर्युक्त तीनों तत्वों का सन्तुलित-समन्वित रूप मिलता है। उनके इस धर्म का सार इस पंक्ति में मिल जाता है—

"करब साधु मत लोक मत नृपनय निगम निचोर।"

इसमें उल्लिखित 'साधुमत', 'लोकमत' तथा 'नृपनय' क्रमशः उपर्युक्त भाविक, बौद्धिक और नैतिक तत्वों की ही व्यंजना कर रहे है। इनके पालन से क्रमशः लोकार्थ, स्वार्थ और परार्थ तीनों की सिद्धि और समाज में व्यवस्था, शान्ति, सुख-समृद्धि की स्थापना होती है। गोस्वामी जी ने धर्म के इस उदात्त स्वरूप की स्थापना उपदेशों आदि द्वारा न कर विभिन्न पात्रों के चरित्र-चित्रण

द्वारा की है इसलिए वह अधिक व्यावहारिक और प्रभावशाली बन गया है। लोक-कल्याण का आकांक्षी मनीषी ही ऐसे धर्म का स्वरूप प्रतिष्ठित करने में समर्थ हो सकता था और तुलसीदास ऐसे ही उदारचेता मनीषी थे। उनके इस धर्म ने समाज को नई दृष्टि और कर्त्तव्य-भावना प्रदान की थी।

धर्म की व्यापकता

गोस्वामी जी ने धर्म के उस व्यापक स्वरूप की स्थापना की थी जो प्राचीन काल से प्रचारित धर्म-भावना का ही समन्वित, युगानुरूप नवीन रूप था। वह धर्म को दिव्य और अलौकिक तथा सम्पूर्ण यातनाएँ सहते हुए भी पालनीय मानते थे। उन्होंने लिखा है—

> **"सहि कुबोल, साँसति सकल, अँगइ अनट अपमान।**
> **तुलसी धरम न परिहरिय, कहि करि गए सुजान॥"**

जो व्यक्ति अपने धर्म का पालन करता है उसके लिए इस संसार में सुख-सम्पत्ति आदि सभी कुछ सहज-सुलभ रहती है—

> **"जिमि सरिता सागर पहुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥**
> **तिमि सुख-सम्पति बिनहिं बोलाए। धरम सील पहुँ जाहिं सुभाए॥"**

इसीलिए गोस्वामी जी ने सर्वत्र धर्म-पालन पर अत्यधिक बल देते हुए धर्म की प्रशंसा और अधर्म की निन्दा की है। धर्म का पालन करने से 'महा अजय संसार रिपु' पर भी सरलता से विजय प्राप्त की जा सकती है।

गोस्वामी जी का यह धर्म किन्हीं सम्प्रदाय-विशेषों के नियम-उपनियमों से बँधा हुआ न होकर सामान्य, जन-सुलभ सिद्धान्तों पर ही आधारित है। इसी कारण उसकी व्यापकता सम्पूर्ण सृष्टि को अपने आँचल में समेट लेती है। उनके अनुसार धर्म के अवयव—शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, विवेक, दम, परहित, क्षमा, कृपा, समता, ईशभक्ति, विरति, सन्तोष, विप्र-गुरु-पूजन आदि हैं। मनुष्य मात्र इन गुणों को ग्रहण करने का अधिकारी है। इनमें से भी वह सत्य को धर्म का और सम्पूर्ण सत्कर्मों का जनक मानते हैं। जैसे—

> **"सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान विदित मुनि गाए॥"**
>
> \+ \+ \+ \+
>
> **"धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥"**

धर्म के गुणों के साथ ही उन्होंने अधर्म के लक्षणों का भी विवेचन किया है। असत्य को वह अधर्म का मूल कारण मानते है—

"नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होंहि कि कोटिक गुंजा॥"

साथ ही उन्होंने परनारी-गमन आदि को भी पाप का मूल माना है। इन दुर्गुणों के बचने का एकमात्र उपाय है—अपने मन को पवित्र और निर्मल रखना।

इस प्रकार गोस्वामीजी ने धर्म और अधर्म के उन गुण-अवगुणों का उल्लेख किया है जिन्हें पालना और त्यागना मानव-मात्र का कर्तव्य है। क्योंकि ये गुण-अवगुण मानव-मात्र के जीवन को प्रभावित करते रहते हैं। अपनी इसी विशेषता के कारण तुलसीदास धर्म के उस व्यापक स्वरूप की स्थापना और प्रचार करने में समर्थ हो सके थे जो बिना किसी साम्प्रदायिक अथवा जातीय भेद-भाव के सबके लिए ग्राह्य बन सकता है। यही कारण है कि आज भी तुलसीदास अपने दृष्टिकोण की इस व्यापकता के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। मानव-मात्र की कल्याण-कामना उनके जीवन की एकमात्र साधना थी।

अहिंसा का सर्वोच्च स्थान

गोस्वामीजी धर्म के क्षेत्र में—जो मानव-जीवन का व्यापक क्षेत्र है—अहिंसा का स्थान सर्वोपरि मानते हैं। उनकी अहिंसा की भावना भी धर्म की व्यापकता के ही समान अत्यन्त व्यापक है। वह जीव-हिंसा की भावना से लेकर किसी को भी न सताना, किसी के भी प्रति क्रूर व्यवहार न करना, सदैव परोपकार में निरत रहना, किसी के भी प्रति द्रोह अथवा विद्वेष की भावना न रखना आदि सभी बातों को अहिंसा के अन्तर्गत समेट लेते हैं। हृदय में अहिंसा की भावना उत्पन्न होने से मानव में स्वतः ही उपर्युक्त सभी बातें अनायास ही आजाती हैं। वह हिंसा, परद्रोह आदि को पाप और परहित को सबसे बड़ा धर्म मानते हैं। परोपकारी व्यक्ति ही भगवान के प्रिय भक्त होते हैं, परद्रोही नहीं। इसी बात को गोस्वामीजी ने इस प्रकार कहा है—

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥
निरनय सकल पुरान वेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोविद नर ॥"

इस दुर्लभ मानव-शरीर की सार्थकता परहित में निरत रहने में ही है—

"काज कहा नर तनु धरि सार्‌यो।
पर उपकार सार स्रुति को जो धोखेहु न विचार्‌यो ॥',

वह 'परहित' के साथ ही दया की भावना को भी सम्पूर्ण धर्मों का एक प्रधान स्तम्भ मानते हैं—

"दया में बसत देव सकल धरम ॥"

दया की यह भावना हमारे हृदय के सम्पूर्ण विकारों को नष्ट कर हमें परोपकार में निरत कर देती है। इसीलिए जीवन में इसका महत्त्व अक्षुण्ण माना गया है।

इस प्रकार गोस्वामीजी की अहिंसा-भावना में मानव की सम्पूर्ण उदात्त वृत्तियाँ समाहित हो जाती हैं। अहिंसा के इस व्यापक स्वरूप को हृदयंगम कर लेने मात्र से ही मानव सच्चे धर्म-पथ का अनुयायी और भगवान का प्रिय भक्त बनने का अधिकारी बन जाता है।

धर्म पालन का सरलतम उपाय

गोस्वामीजी धर्म के कठिन, दुस्साध्य विधि-विधानों के विरोधी थे। वह जानते थे कि इन विधि-विधानों का पालन करना हर एक के बस की बात नहीं है। इसलिए उन्होंने जनता के सामने धर्म-पालन का सरलतम उपाय—राम के चरणों में अनन्य प्रीति—बताया है। योग, यज्ञ, तप, व्रत आदि का पालन करना कठिन है। इसीलिए वह कहते हैं—

"पावन प्रेम राम चरन जनम लाहु परम।
राम नाम लेत होत सुलभ सकल धरम ॥
जोग, मख, विबेक बिरति बेद विदित धरम।
करिबे कहुँ कटु कठोर, सुनत मधुर नरम ॥
तुलसी सुनि जानि बूझि भूलहि जनि मरम।
तेहि प्रभु को होहि, जाहि सबकी सरम ॥"

तथा

"जथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास।
राम नाम सब धरममय, जानत तुलसीदास ॥"

धर्म-पालन का ऐसा सरलतम अन्य साधन और कोई नहीं हो सकता। जटिल विधि-विधानों का पालन करने के लिए मनुष्य का शिक्षित और ज्ञानी होना परमावश्यक है। परन्तु राम-नाम का जाप प्रत्येक शिक्षित-अशिक्षित सरलता से कर सकता है।

शैवों-वैष्णवों में ऐक्य-स्थापना

गोस्वामीजी के पूर्ववर्ती एवं समकालीन-युग में शैवों और वैष्णवों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, मनोमालिन्य और द्वेष की प्रबल भावना थी। दोनों ही अपने-अपने उपास्य-देवों को श्रेष्ठतम घोषित कर दूसरे की अवहेलना और बुराई करते रहते थे। ऐसी विषम स्थिति मे तुलसीदास ने हिन्दू-धर्म के इन दो प्रमुख सम्प्रदायों में ऐक्य की स्थापना कर जन-समाज का बहुत बड़ा कल्याण किया था। उन्होंने राम और शिव की एकता स्थापित कर दोनों को परस्पर एक-दूसरे का सेवक, स्वामी और सखा घोषित किया था। उन्होंने 'मानस' में राम के मुँह से स्पष्ट घोषित कराया—

"अउरउ एक गुपुत मत सबहिं कहहुँ करि जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि ॥"

शिव के साथ द्रोह कर कोई भी व्यक्ति राम की भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता—

"कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। अस परतीति तजहु जनि भोरे ॥
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥"

तुलसीदास ने राम की भक्ति प्राप्त करने के लिए शिव से कृपा-याचना की है। भरत, दशरथ आदि भी अपने संकटों के निवारणार्थ शिव से प्रार्थना करते हैं। दशरथ याचना करते हैं—

"सुमिरि महेसहिं कहइ बहोरी। बिनती सुनहु सदासिव मोरी ॥
आसुतोष सिव अवढर दानी। आरति हरहु दीन जन जानी ॥"

तुलसी के इष्ट राम स्वयं अपनी कार्य-सिद्धि के लिए समुद्र तट पर शिव

का पूजन करते हैं और शिव राम को अपना इष्ट मान पार्वती द्वारा सीता के रूप मे राम की परीक्षा लिए जाने पर तथा राम द्वारा उन्हें 'माता' कहकर सम्बोधन करने पर उन्हें अपना पूज्य मान त्याग देते हैं। इस प्रकार तुलसीदास ने राम और शिव को परस्पर एक-दूसरे का अनन्य अनुरागी दिखाकर उनके उपासकों—वैष्णवों और शैवों की पारस्परिक कटुता को दूर कर उनमें सौहार्द्र स्थापित किया था। उनके इस कार्य से धार्मिक-क्षेत्र में पारस्परिक स्नेह और सहनशीलता की भावना को प्रोत्साहन मिला था जो सम्पूर्ण समाज का कल्याण करने वाली थी।

धर्म की अन्तरात्मा और उसके बाह्य रूप का सामंजस्य

संसार के सभी धर्मों के मूल-सिद्धान्त अर्थात् अन्तरात्मा एक ही रही है। जन-कल्याण उनका प्रधान लक्ष्य रहा है। अन्तर केवल उनके बाह्य रूपों में आ जाता है। तुलसीदास ने सर्वाधिक बल धर्म की अन्तरात्मा पर दिया है। बाह्य-विधि-विधानो का उन्होंने वही विरोध किया है जहाँ उन्हें अनाचार और आडम्बर का जनक पाया है। अन्यथा उन्होंने धर्मों के बाह्य रूपों का कहीं भी विरोध नहीं किया है। तीर्थयात्रा, जप, तप, व्रत आदि के तुलसी विरोधी नहीं हैं। तुलसी अपने इस दृष्टिकोण द्वारा सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों में समन्वय कर सके है। उनका विरोध किसी से भी नहीं है। कोई जैसे चाहे अपने धर्म की उपासना करने में स्वतंत्र है। शर्त केवल यही है कि उनके आचार-अनाचार और पाखंड तथा पर-पीड़न को प्रोत्साहन न दें। तुलसी के धर्म का यही स्वरूप है। इसीलिए वह प्राणिमात्र का धर्म बनने की सामर्थ्य रखता है—

प्रश्न २१—"भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा है और तुलसी भी समन्वयकारी थे।" तुलसी की इस समन्वय-कला की पूर्ण विवेचना कीजिए।

उत्तर— असीम सागर का बेड़ा जब लहरों के उद्दाम प्रवाह से भयङ्कर परिस्थिति के भँवर में पड़कर उनके अन्तस्तल की गम्भीरता को आँकने का प्रयास करता है तभी लंगर बेड़े पर अपना शासन कर उसके संरक्षण का भार अपने ऊपर लेकर उसको यथोचित मार्ग का प्रदर्शन कराता है। इसी प्रकार

जन-समाज का बेड़ा भी भव-सागर में किसी विशेष अंकुश द्वारा ही प्रचण्ड परिस्थितियों के ग्रास में पड़ने से संरक्षित रहता है। रूढ़ि, अनाचार, दुराचार और समाज-विरोधी भावनाएँ जब अपने उद्दाम रूप में समाज का उन्मूलन करने के निमित्त पराकाष्ठा पर पहुँच जाती हैं, तभी कोई महान् आत्मा अंकुश के रूप में परिस्थितियों का समाधान लेकर समाज के समक्ष उपस्थित होती है। और उसके द्वारा समाज में सुख और शान्ति का बीजारोपण होता है। अतः संसार की महानतम आत्माएँ परिस्थिति-प्रसूत होती हैं। भगवान ने गीता में कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब धर्म-अभ्युत्थान के लिए और साधुओं के परित्राण के लिए और दुष्टात्माओं के विनाश के लिए मैं अवतार लिया करता हूँ—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।
अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे ॥

पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार समाज व्यक्ति का अनुसरण करता है। बुद्ध भगवान ने अपने समय की समस्याओं के दृष्टिकोण से उनका समाधान समाज के समक्ष रखा और शंकराचार्य समाज को उसके पश्चात् अपनी ओर खींच कर ले गए। बुद्ध के समय कर्मकाण्ड की चरम सीमा होने के कारण समाज विक्षुब्ध था। शूद्र पशुवत जीवनयापन कर रहे थे। समाज की इस दयनीय और चिन्तनीय परिस्थिति में बुद्धदेव अमर-ज्योति के रूप में प्रकाश विकीर्ण करते हुए अपनी करुण-पताका को फहराते हुए आये और सारा देश उनके पीछे चल पड़ा। निम्न-वर्ग के समाज के लिये तो बुद्ध भगवान का अवतरण मानो संजीवनी बूटी के समान सिद्ध हुआ। जन-जीवन में नवल प्राण और उत्साह की लौ स्वयमेव उद्दीप्त होने लगी। बुद्धदेव ने संसार के प्रत्येक मानव को (रंक हो अथवा राजा) धर्म-रत्न को प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया और धर्म का सम्बन्ध जन-जीवन के साथ जोड़ा। मानव-मात्र के कल्याण के हेतु उन्होंने अपने धर्मद्वार को उन्मुक्त किया, जिससे समाज का अन्धकारमय जीवन ज्योतिर्मय हो सके। बुद्धदेव ने समाज में धर्म का सुव्यवस्थित और परिमार्जित

रूप उपस्थित कर धर्म में फैले वितण्डावाद का समूल नाश किया। बुद्धदेव की करुणा का प्रभाव-क्षेत्र इतना विस्तीर्ण हुआ कि उसकी परिधि भारत की सीमाओं को पार कर भारत के बाहर दूर-दूर तक व्याप्त होगई। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार "लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, विचार और धर्म-सिद्धान्त प्रचलित रहे हैं। बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में समन्वय की चेष्टा की गई है और तुलसीदास भी समन्वयकारी थे।" बुद्ध भगवान ने किसी नवीन धर्म का प्रतिपादन नहीं किया था वरन् उनके धर्म में विस्तृत सत-सिद्धान्तो का ही समन्वित रूप प्रतिष्ठित किया गया था। बुद्धदेव ने लोक-रक्षक की भावना के दृष्टिकोण से जनता के प्राचीन संस्कारों का विशुद्धतम रूप में उपयोग किया और उसमें नवीन सिद्धान्तों का सम्मिश्रण इस कौशल से किया कि जनता उसे विदेशी और संस्कार-बाह्य समझ कर असम्मानित न करे। लोकनायक मनोविज्ञान की परिधि में डुबकियाँ लगा कर जन-मानस की इच्छाओं और आकांक्षाओं की सीपियाँ निकालता है और फिर उन्हें सन्तुष्ट करने के निमित्त त्याग की भावना से उनकी परिस्थितियों का हल उनके समक्ष रखता है। समाज के मनोविज्ञान को पूर्णतः हृदयंगम करने पर ही कोई लोकनायक का सम्मान प्राप्त कर सकता है। लोहे के बल पर विश्व में शासन करने वाले कभी कभी लोकनायक नहीं हो सकते। अनेक देशों पर विजय का डंका पीटकर वे लोकशासक भले ही बन जायें, परन्तु लोकनायक अपने को समाज-सेवी मानकर त्याग और बलिदान के पथ पर अग्रसर होते हैं। लोकनायक स्वयं सेवक बनता है। परन्तु उसके इस भाव से प्रभावित होकर समाज उसके इंगितों पर चलता है। लोकनायक साधना और त्याग द्वारा समाज के हृदय में स्थान पाता है और लोकशासक कृपाण की वेदी पर ही सवार होकर और घृणा की पृष्ठ-भूमि पर प्रतिष्ठित होकर शासन करते हैं। बुद्धदेव महान् लोकनायक थे। वे समन्वयकारी के रूप में अवतरित हुए और इसी सिद्धान्त का उन्होंने प्रतिपादन किया। बुद्धदेव से पूर्व भी राम के समय में सम्पूर्ण प्रजा रावण आदि अनेक राक्षसों के कारण संत्रस्त थी। प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि निरंकुश दस्यु राजाओं के शासन-

काल में प्रजा में वितण्डावाद और उद्दाम प्रवृत्तियों की प्रधानता होने के कारण हाहाकार मचा हुआ था। भगवान राम ने तत्कालीन परिस्थितियों को हल करके प्रजा की रक्षा की और लोकरक्षक की भावना से निम्नतम जातियों का शिक्षा आदि द्वारा उद्धार किया और समाज में सुख-शान्ति की स्थापना की। उधर कृष्ण के समय मे भी समाज कुवृत्तियों से विकम्पित था और समाज की अवस्था अत्यन्त दयनीय थी। कृष्ण ने प्रेम के गुण से उसकी बिच्छिन्न शक्ति को एक सूत्र में पिरोकर कंस जैसे अत्याचारी और दंभी राजा को दलित किया और सुखान्वेषण कर प्रजा में शान्ति स्थापित की। इसी प्रकार गीता में भी कृष्ण का समन्वयकारी रूप स्पष्टतः लक्षित होता है।

महात्मा बुद्ध के समान तुलसी भी लोकरक्षक धर्म का पालन करने वाले थे। इनका भी समन्वयकारी रूप इनके प्रत्येक स्थल पर दृष्टि-गोचर होता है। जिस प्रकार महात्मा बुद्ध के पूर्व समाज की विषमावस्था थी, लोग धर्मतत्व को हृदयंगम न कर सकते थे, उसी प्रकार तुलसी के समय में भी भयानक और क्षुब्ध वातावरण के कारण जनसाधारण के हृदय-कमल मुरझा चुके थे। अतः उन्होंने भक्ति की अमृतमयी धारा बहाकर धार्मिक विद्वेष की अग्नि स जलते हुए हृदयों को शीतल किया। वास्तव में जिन जटिल परिस्थितियों में तुलसी ने अपने रंगमंच को विभूषित किया उनको समन्वय, साधना और बलिदान के बल पर ही शान्त किया जा सकता था। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तत्कालीन परिस्थितियों का अत्यन्त विशद् वर्णन करते हुए लिखा है—

"जिस युग में इनका (तुलसी का) जन्म हुआ था, उस युग के समाज के आगे कोई ऊँचा आदर्श नहीं था। समाज के उच्चस्तर के लोग विलासिता के पंक में उसी तरह मग्न थे, जिस प्रकार कुछ वर्ष पूर्व सूरदास ने देखा था। निम्न स्तर के लोग दरिद्र, अशिक्षित और रोगग्रस्त थे। वैराग्य धारण करना एक साधारण-सी बात थी। घर की सम्पत्ति नष्ट होने पर अथवा स्त्री की मृत्यु हो जाने पर ससार में कोई आकर्षण न होने के कारण संन्यास धारण कर लिया जाता था। 'अलख' की आवाज गर्म थी, यद्यपि ये अलख लखने वाले कुछ लख नहीं सकते थे। निम्न स्तर की कुछ जातियों में कई पहुँचे हुए महात्मा हो गए थे, जिनमें आत्म-विश्वास का संचार तो था परन्तु शिक्षा

और संस्कृति के अभाव में इसी आत्मविश्वास ने गर्व का रूप धारण कर लिया था। समाज में धन की मर्यादा बढ़ रही थी। पंडितों और ज्ञानियों के साथ समाज का कोई सम्पर्क न था। सम्पूर्ण देश विशृङ्खल, परस्पर विच्छिन्न, आदर्शहीन और बिना लक्ष्य का हो रहा था। इस समय एक ऐसी आत्मा की आवश्यकता थी जो इन परस्पर विच्छिन्न और दूर विभ्रष्ट टुकड़ों में योग-सूत्र स्थापित कर सके। तुलसीदास का आविर्भाव ऐसे ही समय में हुआ था।"

तुलसीदास ने धर्म में फैले सम्प्रदायों के नाड़ी-चक्र को ध्यानपूर्वक देखा और उसके उपचार की सामग्री तैयार की। शिव के भक्त राम का विरोध और राम के भक्त शिव का विरोध करते थे। शैवों और वैष्णवों का यह संघर्ष तुलसी के समय में दिन-पर-दिन बढ़ता जा रहा था। तुलसी इन संघर्षमयी और क्रान्तिमयी परिस्थितियों से भागे नहीं वरन् सच्चे लोकनायक तथा लोकरक्षक की भाँति उनके बीच की चौड़ी खाई को पाटने का प्रयत्न करने लगे। तुलसी ने आदर्श समन्वय-कर 'रामचरितमानस' में शिव तथा राम को निकट सम्पर्क में लाने का क्रान्तिकारी प्रयास किया और यह सिद्ध किया कि दोनों एक ही शक्तियाँ हैं। 'शिवद्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहि न भावा' लिख कर तुलसी ने राम के मुखारविन्द से शिव की जो प्रशंसा करवाई है वह स्तव में शिव और राम के भेद-भाव को समूल नष्ट करने वाली है। केवल इस एक ही पंक्ति ने परम्परागत रूप से चले आते शैवों और वैष्णवों के पारस्परिक विरोध को नष्ट करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वास्तव में इन दो शक्तियों का एक ही पंक्ति में समन्वय महत्त्वपूर्ण है। तुलसी ने वैष्णव धर्म को इतना व्यापक रूप दिया कि उसमें शैव, शाक्त और पुष्टमार्गी सरलता से सम्मिलित होगये हैं। ज्ञान और भक्ति में भी उन्होंने विशेष अन्तर नहीं माना है। ज्ञान की अपेक्षा उन्होंने भक्ति को विशेष महत्त्व दिया है। यह पहले बतलाया जा चुका है।

इसी भक्ति मार्ग पर चलने से राम-भक्तिरूपी मणि प्राप्त होती है, जो माया के घोर अन्धकार में भी देदीप्यमान रहती है। तुलसी के इसी धर्म-समन्वय को 'लोक-धर्म' का नाम दिया गया है जिसमें अज्ञात स्वर्ग के सुखों की आभा न होकर व्यावहारिक अथवा लौकिक जीवन में ही स्वर्ग-लोक की अवतारणा की गई है।

पाखण्डी सन्तों की 'अलख' 'अलख' रट सुनते-सुनते जब तुलसी उसे अधिक सहन न कर सके तो वे समाज-विरोधी इन तत्त्वों का खण्डन करते हुए दृप्त वाणी में कह उठे—

हम लखि हमहिं हमार लखि, हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम जपु नीच॥

इस समय तक भी समाज में भक्ति-प्रधान, ज्ञान-प्रधान, कर्म-प्रधान भक्ति-सिद्धान्त प्रचलित थे। इनमें से कोई भी सिद्धान्त इतना व्यापक नहीं था कि उसे लोक-धर्म कहा जाय। अतः तुलसी ने ज्ञान, भक्ति और कर्म का परस्पर संयोजन कर सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा की और भक्ति का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त कर दिया। उन्होंने सजग प्रहरी की भाँति जन-मानस के मनोविज्ञान की खोज की और उसकी प्रवृत्ति के अनुकूल धर्म का लोक-हितकारी समन्वित रूप प्रदर्शित किया।

साहित्य-सृजन में भी तुलसी ने लोक-हित की भावना को प्रधानता दी है। अपनी कला-कृतियों में भी उन्होंने भाषा के समन्वित और समस्त रूप का प्रयोग किया है। जिस समय तुलसी ने साहित्य रचना के लिए अपनी कलम उठाई उस समय तक केवल चारण काल के वीरगाथात्मक ग्रन्थ, प्रेम-काव्य तथा सन्त-काव्य के मुसलमानी प्रभाव से प्रभावित धार्मिक ग्रन्थ थे। इन सभी शैलियों के समन्वित रूप का तुलसी ने उपयोग किया है। चारणों की छप्पय शैली, कबीर आदि की दोहा-शैली, जायसी की दोहा-चौपाई शैली, विद्यापति, सूर आदि की पद-शैली और गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया शैली आदि सभी शैलियों का उनकी रचना में पूर्णतः समावेश हुआ है।

तुलसी ने 'मानस' की रचना करने में भी साहित्य और धर्म की भाषा-संस्कृत को छोड़कर लोक-भाषा ब्रज और अवधी को स्वीकार किया है। उस समय पण्डित लोग जनभाषा में साहित्य-सृजन करना अपमान समझते थे। जब उन्होंने तुलसी की इस धारणा को जाना कि उन्होंने भाषा में ही साहित्य की रचना करना स्वीकार किया है तो वे इनके विरोध में उठ खड़े हुए और उन्होंने उनकी जीवन-लीला को भी समाप्त करने की भावना प्रकट की, परन्तु यह

सच्चा लोकनायक लोकहित की भावना पर अटल बना रहा और उसने भक्ति की उस अप्राप्य मणि को सबके लिए सुलभ बना दिया।

लोकेच्छा की भावना को ध्यान में रखकर तुलसी ने शृंगार में भी संयम से काम लिया है। वे मर्यादा की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। उनका दाम्पत्य प्रेम उत्कट न होकर संयत और मर्यादित है। शृङ्गार का जितना संयत और लोकहितकारी रूप तुलसी में प्राप्त होता है, वैसा विश्व-साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलता। वे सीता को राम का दर्शन अँगूठी के नग द्वारा कराते हैं। उनका दर्शन-मिलन कृष्ण की भाँति प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता, वरन् उसमें भी मर्यादा की सीमा निर्धारित है। इसी प्रकार मार्ग में वे ग्राम बधुओं से कहलवाते हैं कि 'चितै तुम त्यों हमरौ मन मोहै', 'ये साँवरे से सखि रावरे को हैं?' सीता का राम की ओर कटाक्ष-पात इस प्रश्न का उत्तर मर्यादा की परिधि में ही दे देता है।

परन्तु तुलसी से पूर्व कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण का जो रूप प्रस्तुत किया है उसमें मर्यादा की सीमा न रहकर संयम की परिधि से बाहर असीमित असंयम और उच्छृङ्खलता की भावना ही दृष्टिगोचर होती है। सूर सरीखे भक्त-कवि ने कुछ ऐसे पदों की रचना की है जिनमें अश्लीलता की भावना भी लक्षित होती है—

झूठे मोहि लगावत ग्वारी।
खेलत तैं मोहि बोलि लियौ है दोनों भुज भरि दीनी अंकवारी॥
अपने कुच मेरे कर धारति आपहुँ चोली फारी।

तुलसी में इस प्रकार की अस्वाभाविक भावुकता नहीं है। उसमें समाज-हित के लिए समुचित मर्यादा का पालन किया गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने राम में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों का सामंजस्य स्थापित किया है। कृष्ण में केवल रूप सौन्दर्य ही निखर सका है और वह भी विशृंङ्खलता और असंयम की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने वाला हुआ। परन्तु राम का सौन्दर्य, शक्ति और शील सभी कुछ मानव समाज का कल्याण करने वाले हैं। सूर ने जहाँ शृङ्गार रस की धारा प्रवाहित की है और भक्त कवियों के हृदय ने प्रेम की विमल धारा में रस-स्नान किया है, वहाँ तुलसी के 'मानस' में भक्त किसी भी रसधारा में अपनी रुचि के अनुसार अपनी पिपासा को तृप्त कर सकता है।

उसमे नव रसों की एक मधुर और सौन्दर्य-प्रदायिनी विमल-धारा प्रवाहित होती हुई देखी जाती है।

तुलसीदास महान् साहित्य स्रष्टा थे। साहित्य के लिए मानव-हृदय की जिस गहरी भावुकता की आवश्यकता होती है, वह उन्हें प्राकृतिक रूप से प्राप्त थी। इसी कारण वे अन्तःस्थल के भावों के कुशल चित्रकार हो सके। वे भावों के पुजारी थे और वह भाव-पूजा उन्हें राम के प्रति अनन्य विश्वास से प्राप्त हुई थी। उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् प्रतिमा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, ब्राह्मण और चाण्डाल का तथा भाषा और संस्कृति का समन्वय, रामचरितमानस में आदि से अन्त तक मिलता है। माया के अन्धकार से पतित मानव 'रामचरितमानस' में अपनी जीवन-यात्रा के लिए प्रकाश और उत्साह ग्रहण करता है। आज तुलसी कवि के नाते ही नहीं वरन् लोकनायक के रूप में भी जन-समाज के मन-मन्दिर के इष्टदेव हैं। तुलसी के विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि—"तुलसी के 'मानस' से जो शील-शक्ति-सौन्दर्यमयी स्वच्छ-धारा निकली उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान के स्वरूप को प्रतिबिम्बित किया। रामचरित की इसी जीवन-व्यापकता ने उनकी वाणी को राजा-रंक, धनी-दरिद्र सबके हृदय और कण्ठ में चिरकाल के लिए सतत रूप में बसा दिया। गोस्वामीजी की वाणी में जो स्पर्श करने की शक्ति है वह अन्यत्र दुर्लभ है।"

वास्तव में तुलसीदास हिन्दी साहित्य के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उनकी काव्य-कला ने जीवन के सभी अंगों से आलिंगन किया है। कवि की जीवन के सभी क्षेत्रों तक पहुँच है। उनमें भारतवर्ष का भूत, वर्तमान और भविष्य झाँकता है। वे हमारे साहित्य के शृंगार है और उनका रामचरितमानस भी जन-जन का कण्ठहार है। जब तक हिन्दी भाषा और साहित्य जीवित है तुलसी की वाणी भी समस्त भू-मंडल में जीवित रहेगी। वह अजर और अमर है।

प्रश्न २२—"तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' में अनेक प्रसंगों में ऐसी उक्तियाँ लिखी हैं जिनसे नारी की निन्दा होती है"—उपर्युक्त उद्धरण देते हुए इस मत की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—सांसारिक जीवन के लिए जीव का अध्ययन ही सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। जीव और जगत को अपनी विचारधाराओं से अलंकृत करने में उपयोगिता और उपकार की भावना निहित रहती है। इसीलिए सम्भवतः देश के दार्शनिकों ने 'जीवन के कल्याण' पर ही अपने विचार-पुष्पों को केन्द्रीभूत किया है। इसी परिपाटी से प्रेरित होकर भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदास ने "बिषयी साधक सिद्ध सयाने, त्रिविध जीव लग वेद बखाने" कहकर जीवों को तीन कोटियों में विभक्त किया है। सिद्धजन तो सिद्ध हैं ही, उनके लिए भक्तिशास्त्र का प्रयोजन ही क्या ? साधकों को ही गोस्वामीजी ने अपने रामचरितमानस के मानसरोवर में अवगाहन कर अनेक रत्नों का चयन करने का अधिकारी माना है। परन्तु इस कलिकाल में अधिक संख्या तो विषयी लोगों की है तो फिर साधक जन 'मानस' के अधिकारी कैसे बन सकते हैं ? परन्तु देश-सुधारक और लोक-रक्षक तुलसीदास ने इस रोग का भी उपचार किया है। उन्होंने तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन करते हुए उसके लिए साधन-सामग्री भी एकत्र की है। वे यदि एक ओर साधकों को विषय-वासनाओं के क्षणिक सौष्ठव और मादकता से दूर रहने के लिए कहते हैं तो दूसरी ओर विद्यार्थियों का भी कल्याण पथ-प्रदर्शन करने में नहीं चूकते। अपने तत्त्व विधान को सर्व-जन रोचक काव्य-चमत्कार में लपेट कर कहने का वही अर्थ है जो कुनैन की गोली को शक्कर में लपेट कर रखने का। तुलसीदास ने ऐसी अवस्था में विषय-वासनाओं के रोग में ग्रस्त शिथिल और निराश हृदय जन-समाज को मधु से लिपटी कुनैन सिखाकर उनमें वास्तविक जीवन की दीप्ति जाग्रत की और शक्ति का संचार करके उसे साधन-मार्ग की ओर अग्रसर किया।

गोसाईं जी का जिस युग में अवतरण हुआ उस समय तो मानों विषय-विकारों की आँधियों में जनता किसी अज्ञात पथ पर भटक रही थी। कलि-काल की भयङ्कर क्रियाएँ मानव को मानों काल के ग्रास में झोंकना ही चाहती थीं। धर्म-कर्म का तो हिसाब ही न था, क्योंकि—

"कलिमलि ग्रसे धरम सब, लुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दंभिन निजमत कलपि करि, प्रकट किये बहु पंथ॥"

स्वतः शासक ही पाप-परायण थे तो प्रजा क्या करती ? प्रजा का आदर्श भी तो पाप, लोभ, दम्भ और अनीति था, तो फिर काल और पतन की अग्नि में जलते हुओं को कौन शान्त करता। विश्व-सेवी तुलसीदास ने जब आँख खोलकर इसकी विकराल दशा को देखा तो वे उसे सहन न कर सके और लोकोपचारक के रूप में आगे बढ़े तथा जलते हुए दिलों को शान्त किया। कलि-वर्णन में तुलसी मानों अपनी ही परिस्थिति का चित्रण कर गये हैं। वे कहते हैं—

"नारि विवस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मरकट की नाईं॥
गुन मन्दिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥
बहुदाम सँवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्ह रही विरती॥
कुलवन्ति निकारहिं, नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥
कलिकाल बिहाल किये मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा॥

इन्हीं परिस्थितियों के वशीभूत होकर सन्त प्रवर गोस्वामी जी का हृदय परोपकार की भावना से विचलित हो उठा और उसमें से निकली राम-रसायन की अमृत धारा, जिसको पीकर जनता आज तक अमर है और युग-युग तक रहेगी। ऐसी स्थिति में यह तो निश्चय ही है कि इस ग्रन्थ-रत्न में 'श्रुतिसम्मत हरिभक्ति-पथ' की जितनी अधिक महत्ता होगी, विषयवासना की उतनी ही अधिक निन्दा भी होगी। इसी निन्दा की भावना के वशीभूत होकर उन्होंने अपने आराध्य के चरित्र में विलासिता की गन्ध तक नहीं आने दी है। विषय-भोगियों को तुलसी ने असन्तों की कोटि में रखकर उन्हें सर्व-त्याज्य सिद्ध किया है। इस सम्बन्ध में वे देवताओं तक की भर्त्सना करने में नहीं हिचकते। इन्द्रादि देव पुण्य-कार्यों के फल भोग के लिए स्वर्गलोक तथा देव-शरीर पाने वाले बताए गए हैं। तब फिर वे भी तो विषय-वासनाओं के भोक्ता हैं—

"इन्द्रहि सुरन्त न ग्यान सुहाई, विषय भोग पर प्रीति सदाई।"

विषय-वासनाओं में कामोपभोग सबसे प्रबल है और पुरुषों के लिए इसका प्रधान साधन है प्रमदा नारी। इसलिए विषयवासना की निन्दा को प्रधान लक्ष्य मानकर गोस्वामी जी ने नारी-निन्दा में कोई कसर नहीं छोड़ी है। गोस्वामी जी के रामचरितमानस के इस प्रसंग में अनेक विचारशील महापुरुषों

ने तर्क-वितर्क सहित अपने-अपने मत का प्रकाशन किया है। नारी-नियन्त्रण के समर्थक तो गोस्वामी जी की पंक्तियों की दुहाई देकर अब भी "ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी" कहकर इस मत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु आज के युग में इस प्रकार के समालोचकों का प्रायः अभाव ही है। जो स्त्री-स्वातन्त्र्य के पोषक हैं, उन्होंने तुलसी की नारी-विषयक अनुदारता पर सफेदी पोतनी चाही है और प्रमाण-स्वरूप सीता और कौशल्या के दिव्य चरित्रों की दुहाई दी है। उनका कहना है कि तुलसीदास ने गतानुगतिक सन्तों की भाँति रूढ़िवश नारी की निन्दा कर दी है। भागवत और नारद पंचरात्र में तो नारी-निन्दा सम्बन्धी अनेक श्लोक हैं जिनमें नारी स्वातन्त्र विरोधी तर्क दिए गए हैं। पंचरात्र में तो लिखा है—

"बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥

गोस्वामी जैसे विचारशील महात्मा ने इस प्रकार असन्मार्ग का अन्धानुकरण करके वास्तव में नारी-जाति के प्रति अन्याय किया है।

कुछ मीमांसकों ने अपने विचार की पुष्टि इस प्रकार की है कि तुलसीदास ने नारी की निन्दा स्वतः नहीं की है, जो कुछ नारी-स्वातन्त्र्य विरोधी सामग्री उपलब्ध होती है वह मानस के पात्रों द्वारा कही गई है। भरत 'नारी' के विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

"विधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।
सरल सुसील धरमरत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ ॥"

रावण ने भी नारी-निन्दा करते हुए कहा है कि—

"नारि सुभाउ सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया ॥"

पात्रों के मुख द्वारा निःसृत नारी सम्बन्धी इन उक्तियों को देखकर यह पुष्ट नहीं किया जा सकता कि इसमें तुलसी का कोई मन्तव्य ही न था। मानस कोई नाटक नहीं है जिसमें उक्तियों का दायित्व पात्रों के सिर रखा जाय। फिर मानस के पात्र भी तो गोस्वामी जी की मनोवृत्ति के अनुसार निर्मित हैं। अतः नारी-निन्दा का सम्पूर्ण दायित्व तुलसी पर ही है।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी ने कहा है कि "गोस्वामीजी ने स्त्रियों पर अनिच्छा से अन्याय किया है।" गोस्वामीजी के ग्रन्थ-प्रणयन का जो उद्देश्य था, उसको दृष्टि में रखकर जो नारी-निन्दा की गई है वह परम आवश्यक है। और फिर नारी-निन्दा के उन अंशों को अलग कर देने पर नारी के सम्बन्ध मे गोस्वामीजी की जो विचारधारा मिलती है वह अत्यन्त उज्ज्वल है। उसको देखने से गोस्वामीजी का 'अन्याय' कहीं भी प्रकट नहीं होता।

मानस में स्त्री-चरित्रों का जितना सुन्दर तथा मार्मिक चित्रण गोस्वामीजी ने किया है, अन्य किसी भी साहित्य में वैसे स्त्री-चरित्रों की सृष्टि अभी तक नहीं हो सकी है। काव्य-नायिका सीता अद्वितीय हैं, जिनके चरित्रों का स्मरण कर अपावन भी पवित्र हो शुभ गति को प्राप्त होता है। तुलसी ने माता, बहिन, पुत्री के रूप में उन्हें आदर-पुष्प चढ़ाए हैं और सहधर्मिणी के रूप में उन्होंने नारी जाति के प्रति अपनी भावना की मुक्ताओं को अर्पित किया है। भक्त-कवि तुलसीदास के अनुसार स्त्रियाँ परम-गति की प्राप्ति के लिए पुरुषों के समान ही नहीं हैं, वरन् उनसे भी अधिक श्रेष्ठ हैं। बराबरी के दावे के लिए तो "रामभक्ति रत नर अरु नारी, सकल परम गति के अधिकारी" का उल्लेख पर्याप्त है, परन्तु श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के हेतु, उस सुगम पातिव्रत्य धर्म का संकेत किया गया है जिसको धारण करने से "बिनु स्रम नारि परमगति लहई" की बात कही गई है। जिस प्रकार नारी के लिए गोस्वामीजी ने "एकहि धरम एक व्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥" कहकर पातिव्रत्य पर जोर दिया है उसी प्रकार अपने आदर्श राम-राज्य में उन्होंने पुरुषों को भी एकपत्नी-व्रती रखा है।

कालिदास ने नारी को जिस प्रकार "गृहणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्य ललिते कलाविधौ" कहा है उसी प्रकार गोस्वामीजी भी उसे सद्विचार और सम्मति देने की अधिकारिणी मानते हैं। तारा ने बालि को शुभ सम्मति प्रदान की थी परन्तु बालि अपने पराक्रम के मद में मदान्ध बना हुआ था। उसने तारा की सम्मति को न माना तो स्वयं भगवान ने उसे डाँटते हुए कहा था—"मूढ़ तोय अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करेसि न काना।" मन्दोदरी ने रावण को बहुत समझाया था, किन्तु उसका उपदेश न मानने से ही

रावण का सर्वनाश हुआ। इससे ज्ञात होता है कि गोस्वामीजी ने स्त्री-जाति के अधिकार को अवश्य स्वीकार किया है। किन्तु वैरागी होने के कारण काम-वासना को प्रोत्साहित करने वाले उसके रमणी रूप की निन्दा की है। गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ की रचना केवल लोक-हित के साधनों के हेतु ही नहीं की वरन् आत्महित के साधनों की विचारधाराओं का भी अपने धर्मतत्त्व में सामंजस्य किया और समय का निरीक्षण करते हुए अपनी वर्णन परिपाटी में व्यक्तिगत साधना वाली बातों को प्राधान्य दिया। आत्महित साधना में विषय-निन्दा, कामोपभोग-निन्दा अतएव नारी-निन्दा पर अन्य आचार्यों द्वारा जितना अधिक कहा गया है, उस दृष्टि से गोस्वामीजी की उक्तियाँ न केवल उचित ही हैं वरन् अनिवार्य है। कबीर आदि सन्त और नारदपंचरात्र में मनु महाराज आदि तो स्त्री-निन्दा के उत्कर्ष पर पहुँच गए हैं। कबीर ने तो आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा है कि गर्भवती नारी की परछाईं पड़ने मात्र से ही यदि भुजंग अन्धा हो जाता है तो उनकी क्या गति होगी, जो सभी समय स्त्री-संसर्ग में रहते हैं। उन्होंने नारी को माया-सर्पिणी कहकर उसका परित्याग करने के लिए कहा है। परन्तु गोस्वामी जी ने केवल 'प्रमदा दुख की खानि,' 'नारि सहज जड़ अज्ञ' आदि में स्त्रियों की अतिशय भावुकता को लेकर उन्हें मूर्ख कहा है। जिस भावुकता के वश हो वे मर्यादा का उल्लंघन कर देती हैं, यथा धर्म भीरु सीता जी ने अतिथि की मर्यादा का उल्लंघन करके आपत्ति मोल ली थी। यह उनकी निन्दा नहीं है। निंदात्मक वाक्य सिद्धान्त वाक्य नहीं होता इस प्रकार के वाक्य प्रसंग मे अनुचित प्रतीत नहीं होते। न जाने क्यों लोकहित के साधक लोग इन उक्तियों को आत्महित के साधनों के लिये छोड़कर गोस्वामी जी की अन्य उक्तियों की ओर, गोस्वामी जी कृत स्त्री-पात्रों के चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान नहीं देते।

गोस्वामी जी के स्त्री-पात्र वास्तव में परमोज्जवल हैं और पुरुषों की अपेक्षा उन्होंने भगवद् शक्ति को ही अधिक अपनाया है। इस सम्बन्ध में सीता, कौशल्या, सुमित्रा, अनुसूया आदि का तो कहना ही क्या, तारा सदृश्य बानर नारी और मन्दोदरी सदृश राक्षस नारी के भी चरित्र दर्शनीय हैं। उन दोनों के चरित्र कितने उज्ज्वल हैं। उन दोनों के विशुद्ध और निर्मल हृदयों ने किस प्रकार

भगवदतत्व के रहस्य को पहले ही समझ लिया था। सीता के रहते हुए भी भगवान जिसे 'भामिनि' कहकर "मानहुँ एक भगति कर नाता" की घोषणा करके उसके आदर्श का निर्माण करते हैं। राम वनवास के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने जिस प्रकार कैकेई-मन्थरा और सरस्वती तक को दोष मुक्त कर दिया है, उसको देखते हुये कौन यह आपत्ति उठा सकता है कि वे नारी से चिढ़े हुए थे। कवि की कला में आकर मन्थरा एक अमर चरित्र बन जाती है। जिस मनोवैज्ञानिक और व्यंजना-प्रचुर तर्क-प्रणाली को कवि उसके समर्पित करता है, उसके कारण मन्थरा का चरित्र किसी भी कलापूर्ण चित्रावली में एक अपूर्व स्थान प्राप्त कर सकता है। उसने जो कुछ किया वह अपनी स्वामिनी की स्वार्थ-परायणता का ध्यान रखते हुए किया, इसके लिए वह सर्वथा क्षम्य है। कवि ने नारी-चित्रण एक सुकुमार तूलिका से किया है। उसमें आवेश, अविचार और अधीरता से नारी-चरित्रों को मर्यादा की उच्च-भूमि पर खड़ा करने के लिए प्रयत्न दिखाई देता है। लोकोपकारक के रूप में तुलसी ने अपने चरित्रों को स्निग्धता, विनम्रता, धार्मिकता और भक्ति प्रदान की है। कुछ विचारकों का कहना है कि गोस्वामी तुलसीदास शैशव काल से ही माँ की वात्सल्य और स्नेहमयी गोद से वंचित रहे और आगे चलकर पत्नी के पावन प्रेम के पाश में न बँध सके। उसकी फटकार ने और माता-पिता के त्याग ने उन्हें संसार में अनाथ बनाकर विरक्त किया और अन्त में वे भगवान के परमोज्ज्वल पावन-प्रेम के सूत्र में बँध गए और इस प्रकार नाम-स्मरण करते हुए भवसागर को पार कर गये। इसीलिए उन्हें कोई विशेष अवसर ही प्राप्त न हुआ जिसमें वे नारी-संसर्ग का रसास्वादन कर सकते, अतः उनके नारी सम्बन्धी विचार संकीर्ण थे और इसी कारण उन्होंने नारी निन्दा की है। परन्तु कुछ विचारकों का यह उपर्युक्त मन्तव्य सर्वथा निर्मूल सा प्रतीत होता है। तुलसी को नारी के प्रति असीम श्रद्धा थी परन्तु परिस्थितियों के वशीभूत होकर ही उन्होंने लोकहित और आत्महित के हेतु कामोपभोग आदि का निवारण-मन्त्र फूँकते हुए नारी की रमणीयता को इस क्षेत्र में त्याज्य बताया था। फिर भी न जाने क्यों कुछ

विचारक नारी-निन्दा-विषयक प्रसंगों का कारण जानते हुए भी गोस्वामी जी की इन रचनाओं पर हठात् ही तर्क ढूँढ़कर लीपापोती करना चाहते हैं।

सीता एक अनुपम देवी नारी हैं। वे ऐसी नारी हैं जिनका नाम स्मरण ही पातिव्रत्य धर्म का अमोघ मन्त्र कहा गया है। गोस्वामी जी ने ऐसी नारियों की निन्दा कदापि नहीं की है। उन्होंने 'नारी' शब्द से जिन नारियों की निन्दा की है वे कामोपभोग साधन के अतिरिक्त और कोई दूसरी नारी नहीं हैं। गोस्वामीजी की परिस्थिति में नारी केवल उपभोग की ही वस्तु बन गई थी— "सक चंदन बनितादिक भोगा" से नारी की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। नारी विलासिता का एक साधनमात्र बन गई थी, ऐसी परिस्थिति में आत्महित की साधना करना तो सर्वथा असम्भव था क्योंकि विषय-विलास और आत्म-कल्याण में आग-पानी का सा विरोध होता है। इसलिए अखिल जीवन के आत्म-कल्याण में संलग्न गोस्वामी जी विषय-विलास की प्रधान-साधन रूप उस 'नारी' की पूरी-पूरी निन्दा न करते तो क्या करते? परिस्थिति ने ही उन्हें इस कार्य के लिए प्रवृत्त किया था न कि उनकी नारी सम्बन्धी मनोवृत्ति ही ऐसी थी। इस ओर वैराग्य की भावना के उद्दीप्त होने पर ही भगवान की ओर अनुराग उत्पन्न होगा। यही तो गोस्वामी जी की विचारशैली थी। इसीलिए विलासिता के इस हेय प्रतीक को उन्होंने 'नारी' कहकर पुकारा। परन्तु इन सब उक्तियों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि—

"दीप सिखा सम जुवति तन, मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सतसंग॥"

नारी के रमणीय रूप की ओर तो पुरुष का आकर्षण स्वाभाविक ही है। इस आकर्षण के उज्ज्वल पक्ष के पोषण में कवि-कल्पना का उपयोग करना अपने उद्देश्य के अनुकूल न समझ कर गोस्वामी जी ने इसके श्यामपक्ष पर ही अधिक बल दिया है। सती नारी के हृदय की शुचिता, विशुद्धता और दृढ़ता पर तो उनको दृढ़ विश्वास है—

"डगइ न संभु सरासन कैसे। कामी बचन सती मन जैसे॥"

तुलसीदास को यह जानकर कि "विषयी जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बस होहि जनाई॥" बन जाते हैं और फिर उनकी उच्छृङ्खलता से समाज की

मर्यादा का पतन होता है, इसलिए उन्हें सदैव मर्यादित कर दृढ़ रहना ही और ताड़ना के अधिकारी बने रहना ही पड़ा। गोस्वामी जी ने जिस नारी को विषय-भोग का साधन बनाकर विषयी जीवों को पशुकोटि में रखा है वह सर्वथा परिस्थितिवश होकर ही किया है। उन्होने नारी जाति के ऊपर कोई भीषण अत्याचार न कर आत्म-सुधार और लोकहित के हेतु ही दोनों विचारों का सामंजस्य स्थापित किया है। सामान्यतः तुलसी को नारी-जाति के प्रति असीम श्रद्धा थी और अपने 'मानस' में भी उन्होंने नारी के दिव्य चरित्रों की सृष्टि की है। अतएव नारी को ताड़ना का अधिकारी कहकर कवि की भावनाओं की ओट में श्रद्धा और स्नेह की भावना भी छिपी हुई है। नारी का महत्व पुरुष के बराबर ही नहीं वरन् उससे कितना उच्च और महान् है, यह सर्वज्ञात है। नारी के रूप में ही नहीं, वरन् देवी के रूप में वह आराध्य है। उसका शील और निर्मलता महान् है।

प्रश्न २३—तुलसी एवं सूर की काव्य कला का साम्य एवं वैषम्य निरूपण करके उनका उत्कर्षापकर्ष दिखलाइए।

उत्तर—कविकुल गुरु गोस्वामी तुलसीदास और भक्त शिरोमणि सूरदास हिन्दी साहित्याकाश के चन्द्र और सूर्य हैं। किसी प्राचीन समीक्षक ने इसी भाव को प्रस्फुटित करने के हेतु 'सूर-सूर तुलसी ससी' लिखा होगा। जिससे यह अर्थ स्पष्ट सिद्ध होता है कि कभी कविवर भक्त शिरोमणि सूरदास चिरवन्दनीय गोस्वामी तुलसीदास से श्रेष्ठ माने जाते थे। परन्तु तुलसी और सूर सम्बन्धी जो साहित्य-निधि अब तक उपलब्ध हुई है उसके आधार पर आधुनिक समीक्षकों ने तुलसी को सूर से श्रेष्ठ सिद्ध किया है। जहाँ तक व्यापक और विस्तृत क्षेत्र का सम्बन्ध है वहाँ तुलसी सूर से आगे बढ़े हुए हैं; परन्तु जिस सामग्री से सूर ने हिन्दी साहित्य की निधि को अलंकृत किया है, वहाँ सन्देश की भावना जाग्रत हो जाती है कि दोनों में से किसका पलड़ा भारी है। दोनों ही महाकवियों ने शान्त, वात्सल्य और श्रृंगार सम्बन्धी साहित्य की रचना की है। इसके अतिरिक्त तुलसी ने जीवन का सम्पूर्ण चित्रफलक खींचने के कारण जीवन की प्रत्येक परिस्थिति, सुख-दुःख, विरह-संयोग आदि सभी का चित्रण कर

नव-रसों की विमल धारा प्रवाहित की है। अतः दोनों महानुभाव भक्त और कवि होने के नाते अनेक दृष्टियों से समान भावों की अभिव्यक्ति करते हैं।

सूरदास और तुलसीदास दोनों एक ही समय में अवतरित हुये और अपनी-अपनी विविध विधि के अनुसार सगुणोपासना का आँचल पकड़ कर भवसागर को पार कर गये। इष्ट-देवोपासना में अनवरत अनुरक्ति होने के कारण दोनों सिद्ध महात्मा और त्यागी बन गए। भक्त में दैन्य, आत्मसमर्पण, आशा, उत्साह, आत्मग्लानि, अनुताप, आत्मनिवेदन आदि जितनी भी विशेषताएँ होती हैं, वे सब इन दोनों महात्माओं में सन्निहित हैं। परन्तु तुलसीदास सेवक और दास होने के नाते इष्ट की महत्ता को स्वीकार करते हुए इन भावों को अधिक उत्कृष्ट रूप में अभिव्यक्त कर सके। सूर ने अपने इष्ट के साथ सख्य-भाव का सम्बन्ध स्वीकार किया था, जिसमें कोई दुराव, छिपाव अथवा संकोच की भावना नहीं रहती, अतः उनमें इन भावों का उद्रेक अधिक प्रबल रूप में दिखाई नहीं देता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दोनों ही महात्माओं की हृदय-स्थली भक्ति-भावना से ओत-प्रोत थी।

सूर और तुलसी दोनों के इष्ट मूलरूप में निर्गुण हैं। किन्तु साधारण जन के लिए निर्गुण के कठिन और दुर्गम मार्ग को पार करना अत्यन्त कठिन है। इसी से सूर ने सगुण कृष्ण का और तुलसी ने दाशरथि राम के सगुण रूप का ही प्रतिपादन किया है। सूर ने कृष्ण के प्रति सख्य भाव की भक्ति को स्वीकार करते हुए अतृप्त समाज की पिपासा को वात्सल्य और शृङ्गार रस को प्रसा-रित करके शान्त किया। वल्लभाचार्य का अनुयायी होने के कारण उन्हें कृष्ण का शिशु तथा किशोर रूप ही अधिक प्रिय था। जीवन की यही दो अवस्थाएँ हैं जिनमें भाव और उल्लास सजीव हुआ करते हैं। सौन्दर्य और माधुर्य की धारा इन्हीं दो अवस्थाओं में प्रवाहित होती है। निराश हिन्दू जनता तो भगवान के इस रूप को पाकर बड़ी प्रसन्न हुई और उसे जीवन के प्रति जो अरुचि और विरक्ति होगई थी उसका प्रभाव लुप्त होने लगा। यह समय केवल मनोहारिता और सुन्दरता का अवसर था। इसलिए भी भगवान के माधुर्य और सुन्दरता-पूर्ण रूप को लोग अपना सके। इस प्रकार कृष्ण भगवान की माधुर्य भावना सम्बन्धी उपासना का क्षेत्र तैयार हुआ जिसके सबसे बड़े साधक

सूरदास जी हुए। उन्होंने जीवन की समस्त साधनाओं को बटोरकर एक ही बार अपने को भगवान के चरणों में लीन कर दिया और पार्थिव जगत् के सौन्दर्य से विमुख होने पर और भगवान के हाथ से छूट जाने पर उन्होंने जो आत्मविश्वास के आश्रय पर भगवान् के बालचरित और लीलामय जीवन की उपासना की थी वह इस प्रकार सफल हुई कि समस्त संसार उनकी सफलता से आश्चर्यचकित हो गया—

"बाँह छुड़ाए जात हो निबल जानि के मोहि।
हृदय से जब जाहुगे सबल जानि हौं तोहि॥"

इसी के आधार पर उन्होंने भगवान् की पुण्य स्मृति में जो आरती उतारी वह अनुपम और अलौकिक है। वे भगवान् कृष्ण के अनन्य उपासक थे। जिस प्रकार अथाह सागर में जहाज पर बैठे हुए पक्षी को जहाज के अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं मिलता उसी प्रकार सूर भी श्रीकृष्ण भगवान् के अतिरिक्त और किसी को भी आश्रयदाता के रूप में स्वीकार नहीं करते।

"मेरो मन अनत कहाँ सचु पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै॥"

इसी प्रकार तुलसी भी धनुर्धारी मर्यादा पुरुषोत्तम राम के अनन्य उपासक हैं। उन्होंने अपने इष्टदेव को जीवन के विभिन्न रूपों में देखा है और उनका लोकरजन की अपेक्षा लोकरक्षक रूप ही अधिक ग्राह्य समझा है। वे कृष्ण की प्रतिमा मात्र को देखकर ही भगवान् समझकर उसे प्रणाम नहीं करते, वरन् "तुलसी मस्तक तब नवै धनुषवान लेउ हाथ" कहते हैं। वस्तुतः तुलसी रामानुजाचार्य की परम्परा में श्री रामानन्द के सिद्धान्तानुयायी थे जिन्होंने कबीर को रामनाम का मन्त्र दिया था और उन्होंने निर्गुण सगुण से परे अपने राम की कल्पना की थी। इस समय तक सूरदास द्वारा प्रवर्तित बालकृष्ण की माधुरी और सुन्दरता के ही दर्शन होते हैं, जिससे जनता भगवत-लीला के श्रवण, कीर्तन और स्मरण में संलग्न हो गई। परन्तु अभी तक कृष्ण के उस लोकरंजक रूप से समाजोपयोगी गम्भीर समस्याओं के हल करने में कोई प्रेरणा नहीं मिली थी, जो जीवनोत्कर्ष और उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक थी। अतः प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास ने इस कार्य के लिए भगवान् राम के

मर्यादाशील जीवन को अपनी वाणी का विषय बनाया और भक्ति में आदर्श और कर्त्तव्यों का इस प्रकार व्यापक निरूपण किया जिससे समग्र हिन्दुत्व की भावना सजग हो उठी। तुलसी के भगवान् राम भी 'विधि हरि शंभु नचावनहारा' और दशरथ सुत होकर भी परब्रह्म हैं। तुलसी भी सूरदास की भाँति 'अविगत गति कछु कहत न आवै' सिद्धान्त के पोषक हैं यद्यपि उनकी दृष्टि में सगुण और निर्गुण ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है, निर्गुण ब्रह्म ही भक्ति के प्रेमाधिक्य के कारण सगुण हो जाता है—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥
अगुन अरूप अलख जो होई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

परन्तु निर्गुण मार्ग असाध्य और कष्टमय होने के कारण अगम और अप्राप्य है। सगुण भक्ति आशु फलदायिनी है। उसका मार्ग स्वतन्त्र और सुबोध है। भक्ति और ज्ञान का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भक्ति से ज्ञान का अंकुर प्रस्फुटित होता है और ज्ञान प्राप्त होने पर भक्ति की स्थिति भी बनी रहती है। तुलसी ने भक्ति को ही श्रेष्ठता प्रदान की है। अतः रामभक्ति के बिना निर्वाण की प्राप्ति असम्भव है। तुलसीदास ने मिथ्या ज्ञान के अभिमान के कारण उत्पन्न मोह रूपी मानसिक अन्धकार को दूर करने के लिए ही दिनकर की किरणों के समान राम के गुणों का वर्णन किया है। मोक्ष भी रामभक्ति के बिना उसी प्रकार नहीं टिक सकता जिस प्रकार जल बिना स्थल के नहीं टिक सकता। उसको किसी न किसी आधार की आवश्यकता होती है—

"जिम बिनु थल जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोइ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनि खगराई। रहि न सकइ हरि भक्ति बिहाई॥"

इसी प्रकार सूरदास ने भी मुक्ति का एकमात्र साधन भक्ति बताया है। उन्होंने भी वैराग्य की अपेक्षा भक्ति को उच्च स्थान दिया है। उन्हें सान्निध्य की मुक्ति ही प्रिय है, क्योंकि इस मुक्ति में गो-लोक में जाकर भक्त भगवान के साथ निवास करता है और उनकी लीला में भाग लेता है। परन्तु तुलसी भगवान् की इस 'कृपा व अनुग्रह' के प्रगट होने पर भी 'मोक्ष' की आकांक्षा

नहीं करते, वे भक्ति ही चाहते हैं, दृढ़ भक्ति का वरदान और भक्ति-भावना का उत्तरोत्तर विकास चाहते हैं। वे तो दास्यभाव से निरन्तर भगवान की भक्ति में ही संलग्न रहना चाहते हैं। जिसमे मायाजन्य संसार के सुख-दुखों से उनका संरक्षण हो सके। महाप्रभु बल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने से पूर्व सूरदासजी का हृदय दास्य भाव की भक्ति से ओत-प्रोत था। उनके विनय के पदों में भगवान के प्रति अगाध विश्वास दिखाई देता है। उन्हें अपने कर्मों पर ग्लानि होती है और वे भव-पीड़ा से पीड़ित होकर कह उठते हैं—

"अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल !
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कण्ठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत निन्दा सबद रसाल।"

भक्त में इष्ट की महत्ता को स्वीकार करने के कारण दीनता होती है। दीनता का यह भाव ही भक्त को भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचा देता है। इसी से भक्त को इष्टदेव के समक्ष कुछ भी कहने में ग्लानि नहीं होती—

"प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के हौं तो जनमत ही कौ॥"

इसी प्रकार तुलसी भी अपने विगत जीवन पर अनुताप करते हुए इस प्रकार कहते हैं—

"जन्म गयौ बादहि बर बीति।
परमारथ पाले न पर्यौ कछु अनुदिन अधिक अनीति॥"

ऐसी अवस्था में उन्हें और कोई आश्रय दिखाई नहीं देता, अतः भगवान पर दृढ़ विश्वास होने पर कि वे अवश्य ही तार देंगे, तुलसी उनके आगे आत्म-समर्पण कर देते है—

"काहे ते हरि मोहि बिसारो।
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो॥"

तुलसी ने राम की भक्ति रूपी पवित्र गंगा की धारा में डुबकियाँ लगाने के हेतु राम-नाम की महिमा का गान किया है। वही 'नाम' भव-सागर को पार करने की एकमात्र नौका है। तुलसी के लिए तो यही 'माइ बाप गुरु अरु स्वामी' सब कुछ है और 'तप तीरथ मखदान नेम उपवास' से भी बढ़कर है।

इस नाम-मणि के प्रकाश से ही अन्तर ब्रह्म में एक अपूर्व ज्योति जगमगा उठेगी—

"राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरेहुँ जौ चाहसि उजियार।"

इसी प्रकार सूर अपने इष्टदेव के उपासक थे और तुलसी उनके ऐश्वर्य के। इसी कारण दोनों कवियों के रस-वर्णन में, विशेषकर वात्सल्य-वर्णन में, अन्तर पड़ गया है। दोनों ही भक्तों ने नवधा भक्ति को चरम पद पर पहुँचने के लिए प्रधानता दी है। तुलसी ने राम के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं की उपासना भी की है। परन्तु सबमे राम-भक्ति की ही याचना की है—"बसहिं रामसिय मानस मोरे।" किन्तु सूरदास ने अन्य देवी-देवताओं के प्रति अवज्ञा का भाव प्रकट किया है--

"और देव सब रंक भिखारी, त्यागी बहुत अनेरे।"

इस प्रकार सूर केवल अपने इष्टदेव के लोकरंजक रूप के ही उपासक थे। पुष्टिमार्गी होने के कारण बल्लभाचार्य के उपदेशानुसार उन्होंने कृष्ण के शैशव और किशोर रूप के ही मनोवैज्ञानिक चित्र अंकित किए हैं। इन्हीं दो अवस्थाओं के आधार पर इन्होंने वात्सल्य और शृंगार रस की जो विमल धारा प्रवाहित की है वह हिन्दी साहित्य में ही नहीं वरन् विश्व-साहित्य में अनुपम है। परन्तु तुलसीदास ने भगवान राम के लोकरंजक रूप की अपेक्षा उनके लोकरक्षक रूप का ही प्रतिपादन किया है। तुलसीदास के समक्ष राम का सम्पूर्ण जीवन था जो मर्यादाशील और शक्ति तथा सौन्दर्य के अवतार थे। जिन्होंने तड़पती आत्माओं की समस्याओं को सुलझाने और उनके भार को हलका करने के लिए ही अवतार लिया था। 'तुलसी के राम' में नीच से नीच और महान् से महान्तम व्यक्तित्व के एकीकरण की शक्ति आ गई है। वे समाज, जाति और राष्ट्र के सेवक होते हुए भी अलौकिक शक्ति सम्पन्न है, जो क्षण भर में ही अपनी शक्ति से चारों ओर मर्यादा-प्रेम-उदारता की किरणें प्रसारित कर देते हैं। इसी से राम का लोकरक्षक रूप ही अधिक पनप सका है। वे मर्यादा पुरुषोत्तम होने के कारण सदा मर्यादा की परिधि में ही रहते हैं। परन्तु सूर ने कृष्ण के बाल और किशोर रूप के ही अधिक चित्र अंकित

किए हैं जिनमें मर्यादा का नाम-मात्र भी नहीं है। इसी कारण दोनों कवियों के वात्सल्य वर्णन में अन्तर आ गया है। तुलसी ने भी बाल-विनोद और वात्सल्य रस का गीतावली में सुन्दर चित्रण किया है। परन्तु वहाँ भी राम मर्यादा की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करते। गुरु से कुछ देर के लिए अलग रह कर चपलता कर लेते हैं फिर तुरन्त गम्भीर हो जाते हैं। वे राजकुमार हैं और नागरिक जीवन व्यतीत करते हैं। राजकुमारों के साथ ही खेलते हैं और 'खेलत में को काको गुसैंया' की सी भावना नहीं रखते।

परन्तु सूर ने तो वात्सल्य रस का कोना-कोना झांक लिया है। उनका बाल-वर्णन अद्वितीय है क्योंकि उनके इष्ट ही बालकृष्ण थे। उनके बाल-वर्णन की एक विशेषता यह है कि उन्होंने बाल-सुलभ चेष्टाओं का ही मनोरंजक और स्वाभाविक चित्राङ्कन नहीं किया है वरन् बालक की अन्तःप्रकृति का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया है, जो अत्यन्त आकर्षक है। बालक कृष्ण कभी घुटनों चलते हैं और कभी मचल जाने पर दुग्ध पान ही नहीं करते। परन्तु फिर माँ के चोटी बढ़ने के प्रलोभन को "कजरी का पय पियहु लाल तेरी बेनी बाढ़ै" सुनकर दूध पीते हैं और साथ ही साथ चोटी पर भी हाथ लगाते जाते हैं परन्तु चोटी के न बढ़ने पर चिढ़ कर कहते हैं—

> **"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।**
> **किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥"**

बालक के इस बाल-सुलभ हठीले स्वभाव को जानकर माँ निरुत्तर हो जाती है और उसकी प्रिय वस्तु माखन और रोटी देनी ही पड़ती है। कितना स्वाभाविक तथा बालसुलभ वर्णन है। बालक के हठ के साथ ही माता का स्नेह-स्निग्ध हृदय खेल रहा है। तुलसी की भक्ति में दास्य भावना होने के कारण उन्हें इस बात का ध्यान था कि बाल-वर्णन में स्वामी की मर्यादा का अतिक्रमण न हो। इसके साथ-साथ सूर के कृष्ण ग्राम्य-वातावरण में पोषित गोप थे, तुलसी के राम नागरिक जीवन से मर्यादित राजकुमार थे। राम के नैसर्गिक जीवन के विकास की परिस्थितियाँ कम थीं। दूसरे कृष्ण की अनेक लीलाओं में माखन-चोरी, दधि-दान आदि में बालोचित प्रवृत्तियों के विकास के लिए अधिक अवसर था। राम के मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप में थोड़ी सी

भी उच्छृङ्खलता के लिए स्थान नहीं था। वे तो ऐसे संयम के सूत्र में जकड़े हुए थे कि—

> "मोहि अतिसय प्रतीत जिय केरी।
> जेहि सपनेहुँ पर नारि न हेरी॥"

इसलिए जहाँ सूरदास के लिए कृष्ण की अनेक रँगी सामग्री है, वहाँ तुलसीदास के लिए व्यक्तित्व का मर्यादित एवं संकुचित दृष्टिकोण है। अतः वात्सल्य के क्षेत्र में सूर अपने उपमान आप ही है। केवल गोवर्धन-धारण, कालीदह-प्रवेश और कंस के बध आदि में कृष्ण का लोकोपकारी रूप दिखाई देता है। परन्तु सम्पूर्ण जीवन पर दृष्टिपात करने से उनका लोकरंजनकारी रूप ही अधिक स्पष्ट होता है। भगवान् रामचन्द्र में दोनों रूपों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

इसी प्रकार श्रृङ्गार रस के चित्रण में भी तुलसी अधिक मर्यादित रहे हैं। सूरदास ने रस-राज के प्रत्येक अङ्ग को स्पर्श किया है। बिभाव, अनुभाव और संचारी भावों को सूर ने अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। शैशव का जल जब यौवन के सूर्योदय से सूख जाता है तो हृदय-स्थली में भी प्रेमांकुर प्रस्फुटित हो उठते हैं। श्रृङ्गार चित्रण में सूरदास ने रास-लीला, दान-लीला, वसन्त-लीला, राधा-कृष्ण-मिलन का अत्यन्त विशद् रूप में वर्णन किया है। परन्तु तुलसी का श्रृंगार बड़ा मर्यादापूर्ण है। उसके वियोग पक्ष में भी भाग्य की प्रेरणा का ही अधिक प्राधान्य है। मान आदि का तो कोई स्थान ही नहीं रहा। एक पत्नी-व्रत होने के कारण ईर्ष्या आदि का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सीता गोपियों की भाँति उपालम्भ भी नहीं दे सकतीं। उनके उपालम्भ में मर्यादा है और उसमें भी एक हार्दिक टीस का अनुभव होता है। "जिस राजधर्म के वश मुझको घर से निर्वासित किया है उसी राजधर्म के नाते मुझे अन्य तपस्वियों की भाँति पालन।" कितनी दीनता का उपालम्भ है। तुलसी ने श्रृङ्गार वर्णन में सीता के रूप-सौंदर्य में मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। शोभा के समुद्र से उत्पन्न लक्ष्मी के रूप-सौन्दर्य से भी अधिक सीता का सौन्दर्य है। इसी प्रकार वाटिका-दृश्य में भी राम और सीता का मिलन कराते समय मर्यादा

का ध्यान रखा है, परन्तु कृष्ण और राधा का मिलन सूर ने एक चपल बालक-बालिका की भाँति प्रदर्शित किया है। दोनों में चपलता, चंचलता, भोलापन, सरलता तथा सौन्दर्य है। तभी तो कृष्ण राधा को अपनी बातों में ही विभोर कर लेते हैं—

> बूझत श्याम "कौन तू गोरी।
> कहाँ रहत काकी है बेटी, देखी नाहिं कबहूँ ब्रज खोरी।"
> "काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी॥
> सुनत रहति स्रवननि नन्द ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी॥"
> "तुम्हरो कहा चोरि हम लै हैं खेलन चलो संग मिलि जोरी॥"
> सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमणि बातनि भुरइ राधिका भोरी॥

स्नेह के इस प्रथम मिलन के पश्चात् प्रेमांकुर विकसित होने लगते हैं और प्रेमलता दिन-दिन बढ़ती जाती है। राधाकृष्णमय और कृष्ण राधामय हो जाते हैं। सूर ने मुग्धा राधा का रूप-सौदर्न्य वर्णन भी अत्यन्त विस्तार के साथ किया है। यौवनागम पर अंग-प्रत्यंग की शोभा अत्यन्त आकर्षक हो जाती है। इसी से सूर का सौन्दर्य वर्णन भी अत्यन्त आकर्षक बन पड़ा है। "यौवन सूर्य ने शैशव जल सुखा दिया और कुचस्थली को प्रकट कर दिया है। स्नान करते समय छूटे हुए केश नाग के समान लगते हैं। चंपक कली सी अमल अदोष नासिका के ऊपर प्रभात के ओसकण की भाँति मुक्ता हैं। अधरों की छवि बिम्बाफल को लज्जित करती है। चिबुक पर ढिठोना ऐसा जान पड़ता है मानो प्रभात समय अलि शिशु कमल कुंज से निकल रहा हो।" गोपी-उद्धव संवाद मे उन्होंने गोपियों के प्रेम की दृढ़ता पराकाष्ठा को पहुँचा दी है। प्रेम के छलकते हुए पारावार को देखकर उद्धव की ज्ञान गठरी भी करील कुंजों में बिखर जाती है और वे स्वयं भक्ति तथा प्रेम के रंग में रँग जाते हैं। इस प्रकार सूर ने ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति और प्रेम की विजय दिखाई है—

> "सुनि-सुनि ऊधौ प्रेम मगन भयो।
> लौटत घर पर ज्ञान गर्व गयो॥
> निरखत-ब्रज भूमि अति सुख पावै।
> सूर प्रभु को यश पुनि-पुनि गावै॥"

उद्धव अपने ज्ञान का बेड़ा गोकुल के प्रेमसागर में ही डुबा कर मथुरा लौटते हैं और कृष्ण के समक्ष अपनी हार स्वीकार करते हैं। प्रेम की पराकाष्ठा इससे अधिक और क्या हो सकती है कि उद्धव की तन्मयासक्ति को देखकर कृष्ण भी प्रेम के आँसू बहाने लगते हैं। इस प्रकार संयोग तथा वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ होती हैं और जितने ढंग से साहित्य में उनका वर्णन हुआ है और सम्भव हो सकता है उसका अत्यन्त स्वाभाविक चित्रण सूर ने किया है। उनके प्रत्येक भाव में ऐसी मर्मस्पर्शिता है कि ऐसा ज्ञात होता है, मानो हम स्वयं उसका अनुभव कर रहे हैं। उनमें एक टीस है जो हृत्तंत्रियों को झंकृत कर देती है किसी भाव में आह की ज्वाला है, किसी में वेदना के आँसू हैं और किसी में विदग्धता का कंपन। सूरदास की यह एक प्रधान विशेषता है कि उन्होंने वैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर दिया है। यही विशेषता तुलसीदास की भी है परन्तु दोनों में विशेष अन्तर यही है कि तुलसीदास के मनोविज्ञान का क्षेत्र मनुष्य जीवन में बहुत व्यापक है और सूरदास का क्षेत्र केवल शृंगारिक जीवन तक ही सीमित है। सूर में शृंगार-चित्रों के साथ रस का जितना सुन्दर निरूपण किया गया है उतना हिन्दी साहित्य में दुर्लभ है। भ्रमरगीत में तो जैसे वियोग शृंगार की प्रत्येक भावना गोपिकाओं के आँसुओं में साकार हो उठी है।

सूर और तुलसी ने प्रकृति-प्राँगण में भी रमणीय केलि-कलाप किये हैं। सूर के कृष्ण ने तो प्रकृति की मखमली गोद में बढ़कर कालिंदीकूल की कुंजों में ही क्रीड़ा की है। कुंज, करील, तमाल और वनवीथि में कृष्ण अनेक प्रकार की लीलाएं करते हैं। अतः सूर ने वात्सल्य-वर्णन के प्रसंग में तथा शृंगार रस के वर्णन में प्रकृति-चित्रण किया है। तुलसी ने प्रकृति की सुषमा आँख खोलकर तथा साथ ही आँख भर कर देखी है। उन्होंने पम्पा सरोवर की सौन्दर्य-सुषमा का अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ चित्रण किया है—

चंपक बकुल कदंब तमाला, पाटल पनस पलास रसाला।
नव पल्लव कुसुमित तरु नाना, चंचरीक पटली कर माना॥
सीतल मन्द सुगन्ध सुभाऊ, संतत बहै मनोहर बाऊ।
कुहू-कुहू कोकिल धुनि करहीं, सुनि रव सरस ध्यान मुनि टरहीं॥

सूरदास ने प्रकृति का सुन्दरतम चित्रण वियोग के रूप में भाव की तीव्रता के हेतु किया है। वियोगिनी गोपियों को प्रकृति की सुरम्य सुषमा मनोहारी प्रतीत नहीं होती। लाल-लाल पलाश-पुष्प उन्हें अँगारे से प्रतीत होते हैं—

"वे जो देखे राते-राते फूलन फूले डार।
हरि बिनु फूल झरी-सी लागति झरि-झरि परत अँगार॥"

तुलसी ने भी सीताहरण हो जाने पर राम के विलाप में वियोग शृंगार का हृदयग्राही रूप देखा है। राम की वियोग दशा का चरमोत्कर्ष उस समय प्रदर्शित हुआ है जिस समय वे "पूछत चले लता तरु पाती"—

"हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी, तुम्ह देखी सीता मृग नैनी ?"

प्रकृति-वर्णन में सूर ने मानव और प्रकृति का सामंजस्य उपस्थित किया है। यदि कृष्ण के वियोग में गोपियाँ व्याकुल हैं और विरह-ताप से संतप्त हैं तो पशु-पक्षियों की दशा भी कुछ कम दयनीय नहीं है—

नाचत नहीं मोर ता दिन ते बोले न वर्षा काल।
मृग दूबरे तुम्हरे दरश बिनु सुनत न वेणु रसाल॥
वृन्दावन हर्‌यो होत न भावत देखत स्याम तमाल॥

तुलसी ने भी राम-वन-गमन पर राम के वियोग का प्रभाव घोड़ों पर दिखाया है—

"बाजि बिरह गति किमि कहि जाती,
बिन मनि फनिक बिकल जेहि भाँती।"

यद्यपि सूर ने प्रकृति-चित्रण स्वतन्त्र रूप में नहीं किया है, अपने चरितनायक की लीलाओं की पृष्ठभूमि के रूप में ही किया है, तथापि उसमें सरसता और स्वाभाविकता है। जिन कदम्ब की डालों पर कृष्ण ने मुरलीवादन किया था अथवा जिन कालिंदी में कृष्ण जल-क्रीड़ा करते थे, वे सूर को क्यों न प्रिय होतीं। सूर को अपने इष्ट-देव के प्रति अनन्य प्रेम के कारण ही उससे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु प्रिय लगती थी। तुलसी ने प्रकृति-चित्रण में नीति को प्रधानता दी है जिससे प्रकृति सुषमा की स्वाभाविकता नष्ट हो गई है। तुलसी वन मे राम-लक्ष्मण को प्रकृति की रमणीयता का दिग्दर्शन

कराते हुए भी उसकी ओर इतने आकृष्ट नहीं होते जितने जीव, ब्रह्म और माया के पचड़े को सुलझाने में व्यस्त रहते हैं। शरद के सुन्दर वर्णन में भी उन्होंने नीति और धर्म को प्रमुखता दी है—

उदित अगस्त पंथ जल सोखा। जिमि लोर्भांह् सोखहि संतोखा।
सरिता सर निर्मल जल सोहा। सन्त हृदय जस गत मद मोहा॥
रस रस सूखि सरित सर पानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी॥
जानि सरद ऋतु खंजन आये। पाय समय जिमि सुकृत सुहाये॥"

परन्तु सूर ने नीति और धर्म का समावेश कर प्रकृति सुन्दरी की कमनीयता को कलंकित नहीं किया है। उनके प्रकृति-चित्रण में जितनी सरसता और स्वाभाविकता आ गई है उतनी स्वाभाविकता अन्य भक्त कवियों में दिखाई नहीं देती।

सूरदास और तुलसीदास भक्त होने के साथ-साथ कवि भी हैं। अपनी कविता कामिनी को उन्होंने गुणों, वर्णों और अलंकारों से सुसज्जित किया है। सूरदास की कल्पना-शक्ति और अलंकार-वर्णन सरस-हृदय, मर्मज्ञता तथा सौन्दर्य-प्रियता का परिचायक है। अलंकारों में कवि की कल्पना-शक्ति केवल विस्मय की अभिव्यंजना करती है। कृष्ण के रूप-चित्रण में भगवान के रूप से प्रभावित होकर सूर की भाषा अधिकाधिक अनुरंजित और चित्र-विचित्र होती गई है। उन्होंने आलम्बन के नेत्रों "रुचिर कनक मृग मीन मनोहर श्वेत अरुण अरु कारे" की ही अनुपम छवि का वर्णन नहीं किया है वरन् रूप सागर में अवगाहन करने वाली, दर्शन को सदा अतृप्त रहने वाली पिपासा भरी आँखों का भी बहुत ही हृदयग्राही वर्णन किया है—

"इन्दु चकोर, मेघ प्रति चातक जैसे धरन दियो।
तैसे ये लोचन गोपालै इकटक प्रेम पियो॥"

सूरदास अलंकार द्वारा मूर्त-चित्रों को तथा तुलसी भाव-चित्रों को उपस्थित करते हैं। सूरदास ने राधा के अनुपम और अलौकिक सौन्दर्य को उत्प्रेक्षाओं तथा उपमाओं द्वारा सुसज्जित किया है—

"नैन विशाल भाल दिए रोरी।"

× × ×

नील वसन फरिया कटि पहने बेनी पीठि रुचिर झकजोरी ।"

वैसे तो कवि ने अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रूप में ही किया है परन्तु कहीं-कहीं चमत्कारोत्पादन का लक्ष्य भी दिखाई देता है। "अद्भुत एक अनूपम बाग" में सूर के अलंकारों में स्वाभाविकता नहीं आ पाई है। तुलसीदास द्वारा प्रयुक्त अलंकार स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। उनमें भावों की गूढ़ता और वर्ण्यविषय की स्पष्टता भी लक्षित होती है। उन्होंने अधिकतर सादृश्य-मूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। चित्रकूट की सभा में देव-माया के वश में पड़े लोगों की दशा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"रामहिं चितवत चित्र लिखे से।
सकुचत बोलत बचन सिखे से॥"

सूरदास ने अपने काव्य को ब्रजभाषा के माधुर्य से सरस कर दिया है। सूरदास की भक्ति भी माधुर्य भाव की है और फिर उसमें ब्रजभाषा जैसी मधुर भाषा का प्रयोग होने से माधुर्य की साक्षात् प्रतिमा-सी खड़ी की गई है। संगीत की धारा इतनी सुकुमार गति से चलती है मानो स्वर्ग के किसी पवित्र भाग में मन्दाकिनी की हिलती हुई लहरों का स्पर्शानुभव कर रहे हों। उसमें अलंकारों का प्रयोग करके सूरदास ने अपनी काव्य-विदग्धता का दिग्दर्शन कराया है। तुलसी ने अवधी और ब्रज दोनों भाषाओं की श्रवण-माधुर्य शब्दावली की एक शृंखला बाँध कर अपने काव्य की रचना की है। यद्यपि अवधी में दोहा-चौपाइयों का महत्व अधिक है तथापि उन्होंने अपने समय की सभी शैलियों का प्रयोग किया है। यदि सूर ने तुलसी की अपेक्षा मुहावरों का अधिक प्रयोग किया है तो तुलसी शब्द-चयन में अपना कौशल दिखाते हैं।

इस प्रकार तुलसी के काव्य में सत्य और शिव का अधिक योग हुआ है। मर्यादा की परिधि तुलसी को प्रत्येक अवस्था में असीमित होने से रोक देती है। सूर संकुचित क्षेत्र में रह कर भी अपना कौशल दिखाते हैं। तुलसी व्यापक क्षेत्र में रहकर अपने काव्य को अनेक रंगों से सुसज्जित करते हैं। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में तो सूर तुलसी से आगे बढ़े हुए हैं, किन्तु मानव-जीवन का सम्पूर्ण चित्रांकन करने में और नवरसों की धारा प्रवाहित करने में तुलसी

अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। रामभक्ति के प्रचार का उत्साह, हिन्दुत्व की जाग्रति, लोक-रक्षा की भावना तथा धार्मिक एवं साहित्यिक धाराओं में प्रवाह और उत्तेजना उत्पन्न करने की भावना ने तुलसी-साहित्य को हिन्दी-साहित्य में शशि का स्थान दिया है और जीवन के मनोविनोद और यौवनकालीन अन्तर्दशाओं ने सूर को सूर का स्थान दिया है।

प्रश्न २४—रस-निरूपण की दृष्टि से तुलसी, सूर और बिहारी की तुलना कीजिए।

उत्तर—सृष्टि के प्रत्येक मानव मन में भावों का बीजारोपण और प्रस्फुरण होता रहता है। समाज में भावों की स्थिति सदैव संस्कार रूप में रहती है और यथानुरूप परिस्थिति पाकर वे भाव जाग्रत हो उठते हैं और चमत्कृत होकर अभिव्यंजना की प्रणाली के अन्तर्गत आ जाते हैं। भावाभिव्यक्ति करने में मानव सदैव चमत्कार और व्यंजना का आश्रय पाता है और इस प्रकार भाव, विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से रसोत्पत्ति होती है। मानव आदि काल से ही आनन्दभोक्ता और सौन्दर्य का पुजारी रहता है। ये दोनों वस्तुएँ वह जहाँ पाता है उस ओर स्वतः ही आकृष्ट हो जाता है। अनुभूति की गहराई को जब सहृदय रसिक अभिव्यंजना की परिधि में बाँधते हैं तो रसोत्पत्ति होती है। भावों में चित्त की एकाग्रता विशेष रूप से रहती है। भावों की स्थिति में मानसिक क्रिया अत्यन्त तीव्र हो जाती है। भावों की क्रिया संचालन-शक्ति भी ज्ञान की संचालन-शक्ति से कहीं अधिक होती है। भावों की प्रधानता धर्म में ही नहीं वरन् राजनीति, समाजशास्त्र और विज्ञान में भी है। प्रत्येक विषय के लिए विशेष भाव प्रयुक्त किये जाते हैं। इन्हीं विशेष भावों के उद्दीप्त और उद्बुद्ध होने पर रसों की निष्पत्ति होती है अर्थात् इन लौकिक और भौतिक भावों के अलौकिक काव्यमय रूप को रस कहते हैं। जिस प्रकार भोज्य और पेय पदार्थों का रस लिया जाता है उसी प्रकार काव्य-रस का आस्वादन भी किया जाता है। जिस काव्य में (भले ही वह दृश्य काव्य हो अथवा श्रव्य) रसोद्गार न हो वह सुन्दर, रमणीय और सफल काव्य नहीं हो सकता। भरतमुनि के अनुसार तो कोई काव्यार्थ रसहीन होना ही

खेत काटते हुए देख अनुशयाना नायिका के हृदय में उठने वाले भावों का कवि ने कितना मार्मिक और सुन्दर चित्रण किया है—

"सन सूख्यौ, बीत्यौ बना, ऊखो लई उखारि।
अरी हरी अरहर अजौं, धरि धरिहरि हियनारि॥"

इस दोहे में जहाँ संकेत-स्थल नष्ट होने का सोच करती हुई नायिका के अन्तराल मे उद्‌बुद्ध हुए भावों का प्रकाशन है वहाँ कवि की काव्य-रचना में अनुपम छेकानुप्रास और प्रकृति-पर्यवेक्षण की प्रवीणता भी दर्शनीय है। इसके साथ ही कवि ने नायिका की व्यग्रता और व्याकुलता को सखी द्वारा शान्त कराकर शान्त्वना भी दिला दी है। इसी प्रकार—

"रहौ, गुही बेनी लखे गुहिबे के त्यौनार।
लागे नीर चुचान जे नीठि सुखाये बार॥"

में बिहारी ने नायक और नायिका के परस्पर प्रेम भाव और उसमें स्वेदादि सात्त्विक भावों का सुन्दर अंकन किया है। नायक के स्पर्श-मात्र से ही नायिका को रोमांच हो जाता है और स्वेद के कारण कठिनता से सुखाये हुए केश फिर गीले हो जाते हैं। दोनों के हृदय में उद्‌बुद्ध हर्ष और सम्बन्ध में सान्निध्य की भावना भी स्पष्टतः चित्रित की गई है। बिहारी प्रधानतः शृंगार रस के कवि थे। उनकी सतसई में शृंगार रस की ही विमल धारा प्रवाहित होती है जो सहृदय रसिकों की प्रेम-पिपासा को तृप्त कर उनमें रसोद्रेक करती है। हाँ, कुछ भक्ति और नीति सम्बन्धी सूक्तियाँ भी उन्होंने लिखी हैं परन्तु वह उनके काव्य का मूल प्रतिपाद्य विषय नहीं हैं। उनकी भावना और अनुभूति शृंगार रस में पूर्णतः निमज्जित है। दो हृदय और नेत्रों के टकराने से जितने भी भाव, विभाव और संचारी सम्भव हो सकते हैं, उन सबको कवि ने सूक्ष्म पर्यवेक्षण की शक्ति से चित्रित किया है। संयोग और वियोग में सभी सम्भावित इच्छाओं, आकांक्षाओं, मिलन के आकार-प्रकार, गति-विधि, दशाओं और अवस्थाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण और चित्रांकन यदि देखना हो तो कवि की शृंगार रसमयी सरिता में डुबकी लगाइये, उसमें डुबकी लगाकर डूब जाने से ही रसिक पार हो जाते हैं। बिहारी ने हृदय के भावों की अभिव्यक्ति

के सर्वोत्तम साधन व्यंजना की पद्धति को चुना है, जिससे भाव में हृदयंगम होने के साथ-साथ चित्रोपमता का लावण्य भी समाविष्ट हो जाता है। अनुभाव, विभाव और संचारियों द्वारा भावाभिव्यक्ति कितने सुन्दर और मनोरम ढंग से हुई है—

"कहा लड़ैते दृग करें, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहूँ मुकुट, बनमाल ॥"

व्याकुलता की व्यंजना के लिए यहाँ पर अस्तव्यस्तता का वर्णन मुरली के इधर और पीत पट के उधर गिरने से, मुकुट और बनमाला के छिटक कर अलग जा पड़ने से कवि ने अपनी स्वतन्त्र अनुभूति द्वारा किया है। इसमें अनुभावों की योजना कवि ने अति सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंग से की है। श्रीकृष्ण की अस्तव्यस्तता का स्वरूप स्पष्टतः साक्षात् रूप में चित्रित हो जाता है।

सूर ने रस के आधार पर अन्तः-प्रकृति का निरीक्षण किया है। उन्होंने शान्त, शृंगार और वात्सल्य की त्रिवेणी को अवतरित किया और उसी में भक्तों और सहृदय रसिकों को रस-स्नान कराया। वे कवि होने के साथ-साथ भक्त भी थे। भक्त में इष्टदेव की महत्ता की स्वीकृति के कारण दैन्य, आत्म-ग्लानि आदि का भाव विशेष रूप से होता है। अतएव सूर ने दैन्य, आत्म-ग्लानि आदि मनोभावों का सूक्ष्म निरीक्षण कर वर्णन किया है। परन्तु पुष्टिमार्गी होने के कारण उन्होंने भगवान के लोक-रक्षक रूप की अपेक्षा लोकरंजक रूप को ही अपने वर्णन का विषय बनाया है। अतः उनका वर्ण्य विषय कृष्ण का बाल्य और किशोर जीवन ही रहा है। इससे उन्होंने वात्सल्य और शृंगार की परिस्थितियों में उद्बुद्ध होने वाले भावों का ही विशेष रूप से चित्रण किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सूरदास ने वात्सल्य रस का कोना-कोना झाँक लिया है। कृष्ण के रूपसागर में डुबकियाँ लगाते हुए उन्होंने जिन मोती और मणियों का चयन किया है उन्हें उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की राशि में सन्निभूत कर अपने समस्त ग्रन्थ-रत्न को ज्योतिर्मय कर दिया है। कृष्ण का रूप चित्रण करते-करते वे हार जाते हैं और उनकी उपमा-राशि भी समाप्त हो जाती है। वास्तव में कृष्ण का रूप अनन्य है। बाल-वर्णन में जितनी भी बाल-सुलभ

चेष्टाएँ होती हैं उन सबका सूर ने विशद चित्रांकन किया है। सूर के वात्सल्य रस से आप्लावित पदों को पढ़ते ही पाठक के मानस-नेत्रों के समक्ष कभी तो किसी सजीव, सुन्दर, चपल, मन्द-मन्द मुस्कराते हुए भोले से बालक की मूर्ति उपस्थित हो जाती है और कभी वात्सल्य की स्नेहमयी मूर्ति माता यशोदा का चित्र सामने आ जाता है। कृष्ण के जन्म से यौवनकाल के प्रारम्भ तक सूर ने जो वात्सल्य वर्णन किया है वह अपने में अद्वितीय है। बाल-वर्णन में कृष्ण की समस्त चेष्टाओं को वात्सल्य के एक सूत्र में पिरोकर सूर ने अपना अन्तःप्रकृति निरीक्षण अंकित किया है। कृष्ण के हृदय में स्पर्द्धा, चिड़चिड़ाहट, हठ तथा चपलता में भावों का कितना सुन्दर चित्रांकन "मैया कबहि बढ़ेगी चोटी" वाले पद में किया है। यशोदा पालने में मदन-गोपाल को झुलाती हुई लोरी गा रही है। कृष्ण "कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावैं" की मुद्रा बनाते है। माँ बच्चे को कुछ सोया हुआ जानकर अन्य घर वालों को "करि करि सेन बतावै" और ज्यों ही चुपके से उठना चाहती हैं कि "इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि यशुमति मधुरे गावै।" एक शिशु की अन्तः प्रकृति का कैसा साक्षात् चित्र है। इसी प्रकार सूरसागर में मुरली-माधुरी, रूप-माधुरी जैसे प्रसंगों में संयोग शृंगार सम्बन्धी मनोभावों का एवं भ्रमरगीतों में स्त्री-प्रकृति का तथा वियोग शृंगार सम्बन्धी भावों का निरीक्षण किया गया है। "मुरली तऊ गोपालहिं भावै" या "मुरली गर्व न काहू बदति" में गोपियों के सपत्नीक भाव का कितना अच्छा निदर्शन हुआ है। उपालम्भ काव्य के रूप में भ्रमरगीत विरहिणियों की अन्तः प्रकृति को स्पष्ट करने में सर्वथा समर्थ सिद्ध हुआ है। इन परिस्थितियों में उठने वाले भावों का सूरदास ने जितना मार्मिक और विशद चित्रण किया है वैसा सम्भवतः अन्यत्र दुर्लभ है।

तुलसीदास ने राम को अपने काव्य का प्रतिपाद्य विषय बनाया है। उन्होंने राम के जीवन के किसी एक घटना-चक्र को न लेकर सम्पूर्ण जीवन को अङ्कित किया है। फलतः जीवन के सरस-कठोर, सरल-गम्भीर, सुखद-दुःखद आदि प्रत्येक परिस्थिति में उद्बुद्ध होने वाले भावों का यत्र-तत्र दिग्दर्शन किया है। उनके चरित्र-चित्रण में आदर्श तो है ही, मनोवैज्ञानिकता का भी प्रस्फुरण सूक्ष्म पर्यवेक्षण की दृष्टि से किया गया है। जनकपुरी में पुष्पवाटिका में राम

और सीता की मनोवृत्तियों का अत्यन्त मनोरम दर्शन होता है। मंथरा-कैकेयी सम्वाद में तो अन्तःप्रकृति का सुन्दर स्फुरण हुआ है। वनवास-गमन के समय "पुर ते निकसी रघुवीर बधू धरि धीर दए मग में डग द्वै" में सीता राम से पूछती हैं "पिय पर्णकुटी करि हौ कत ह्वै ।" "तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै" तथा सीता का यह कहना कि "जल को गए लक्खन हैं लरिका" राम को सीता की थकावट से परिचित करा देता और वे मार्ग में विश्राम करने के हेतु पैर से कण्टक निकालने लग जाते हैं। इसी प्रकार गीतावली में मातृ-हृदय का मार्मिक चित्रण, कवितावली में लंका-युद्ध में वीर सम्बन्धी भावों का और विनयपत्रिका में दैन्य, आत्म-ग्लानि आदि मनोभावों का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण और अंकन किया गया है।

इस प्रकार तीनों महाकवि अन्तःप्रकृति के निपुण निरीक्षक हैं और तीनों के निरीक्षण-क्षेत्र की दृष्टि से तुलसी का क्षेत्र सबसे अधिक व्यापक और बिहारी का क्षेत्र एकांगी था। सूरदास का क्षेत्र सीमित होने के कारण वे अधिक दूर तक दौड़ न लगा सके पर तुलसीदास ने जीवन का सम्पूर्ण क्षेत्र अपनाकर प्रत्येक स्थिति पर विचार करते हुए विविध स्वरूपों को प्रदर्शित किया है। सूरदास के चित्रणों में स्वाभाविकता है परन्तु तुलसी सर्वत्र मर्यादा की परिधि में बँधे रहते हैं। सूरदास के कृष्ण 'नागर' और साधारण चपल बालक की भाँति रहते हैं परन्तु तुलसीदास के राम 'सिसुपन ते पितु मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सुभाउ' हैं। बिहारी का क्षेत्र तो शृंगारमय है ही। उसी में वे दूरदर्शी और अन्तः प्रकृति के निरीक्षक सिद्ध हुए हैं। शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष में जितने भी मनोभाव उद्‌बुद्ध हो सकते हैं उनका बिहारी ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण किया है। उनकी मनोवैज्ञानिकता सराहनीय है। इस प्रकार तीनों ही कलाकार अन्तः प्रकृति-चित्रण में अपनी-अपनी विचारधारा और दृष्टि से अद्वितीय हैं।

प्रश्न २६—तुलसीकृत रामचरितमानस के काव्यगत सौन्दर्य का विश्लेषण करते हुए उसकी समीक्षा कीजिए।

उत्तर-

"बन राम रसायन की रसिका रसना रसिकों की हुई सफला ।
अवगाहन मानव में करके जन-मानस का मल सारा टला ॥
बनी पावन भाव की भूमि भली हुआ भावुक भावुकता का भला ।
कविता करके तुलसी बिलसे कविता लसी पा तुलसी की कला ॥"

तुलसीदास ने अपनी कोमल तूलिका से काव्य-पट पर जो भावचित्र अङ्कित किये हैं, वे आज तक हिन्दी साहित्य की ही नहीं, विश्व-साहित्य की निधि को भी अलंकृत किए हुए हैं। इनके साहित्य में भारतवर्ष के भूत, वर्तमान और भविष्य की झाँकी मिलती है। उनके सम्पूर्ण साहित्य भण्डार में 'रामचरित-मानस' ही सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ-रत्न है जिसके कारण तुलसीदास को हिन्दी-काव्य-गगन में पूर्ण शशि का स्थान मिला है। यह ग्रन्थरत्न सारे संसार के साहित्य का मुखोज्ज्वल कर रहा है। इसमें काव्य-कला के विमल स्वरूप की झाँकी मिलती है। यद्यपि इसके कथाभवन का आधार प्राचीनता की पृष्ठभूमि पर ही खड़ा है तथा उस प्राचीनता में ऐसी नवीनता का रंग दिया गया है जिससे उसमें एक नवीन सौन्दर्य की सृष्टि के साथ-साथ प्राचीन और नवीन का समन्वित रूप भी प्राप्त होता है। उन्होंने एक प्राचीन कथा को लेकर उसे एक ऐसा रूप दिया कि वह उनकी कल्पना और कला से और भी भव्य हो उठा है।

भाषा और भावों के सामंजस्य का स्पष्टीकरण करने, मर्यादावाद और लोक-संग्रह का उच्च आदर्श उपस्थित करने, नीति के विवेचन और मानवीय प्रकृति के रहस्योद्घाटन में यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यह भक्ति-रसामृत से सराबोर सप्त सोपान विभूषित रामचरितमानस वास्तव में मानसरोवर है। इसमें सहृदय रसिक, काव्य-मर्मज्ञ मरालों के लिए अनेक मौक्तिक भरे पड़े हैं। इसमें महाकाव्य के स्थान पर खण्डकाव्य का सा पदलालित्य, भावावेश और रचना चातुर्य है और महाकाव्य का सा तारतम्यमय विस्तार है। मतिराम की नायिका की भाँति इसको 'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैनिन, त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई' वाली स्थिति है। इसमें सौन्दर्य का सच्चा स्वरूप मिलता

है। बार-बार देखने-सुनने पर भी एक नवीन और आकर्षक नूतनता दिखाई देती है। यही तो सरस काव्य का मूल मन्त्र है।

प्रबन्ध-पटुता की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अद्वितीय है। आरम्भ में वन्दना और फिर मानस रूपक द्वारा कथा के प्रबन्ध की विशद प्रस्तावना है। तदनन्तर रामचरित का चित्रण करते समय प्रबन्ध-निर्वाह में जो पटुता प्रदर्शित की गई है वह अनुपम है। आरम्भ में जय-विजय, कश्यप-अदिति और जलन्धर की कथाओं का संकेत करके विविध कल्पों में रामावतार की आवश्यकता का उल्लेख मात्र हुआ है, फिर नारद के मोह और उनके दिए शाप का विस्तृत वर्णन है। उसमें नारद के वचनों की रक्षा के निमित्त विष्णु के नर रूप धारण करने की सूचना मिलती है। फिर मनु और शतरूपा की तपस्या की सिद्धि और प्रभु को पुत्र रूप में पाने की उनकी वरयाचना का मनोरम वर्णन है। इस प्रकार भगवान के पहले नर रूप में और फिर दशरथ-कौशल्या के पुत्र के रूप में अवतार लेने के लिए प्रतिश्रुत हो जाने के अनन्तर रावण के आविर्भाव की कथा कही गई है। वह ब्राह्मणों के शाप से राक्षस के रूप में रावण हुआ। अब आगे प्रबन्ध-काव्य का प्रभावशाली उत्थान आरम्भ होता है। रावण के अत्याचार से पृथ्वी के त्रास और उसके निवारण करने में देवताओं की असामर्थ्य का जीता-जागता रूप प्रत्यक्ष रूप में साक्षात होता है। इस प्रकार पहले राम के प्रकट होने के प्रयोजन बतलाकर, फिर उनके अवतार लेने के समय विश्व की भीषण स्थिति का वर्णन किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि उस परिस्थिति में राम का आविर्भाव कितना आवश्यक एवं उपयुक्त था। राम के अवतरण के लिए वनचर, देहधारी, देवता लोग उत्सुकता से आशा लगाए बैठे थे। सम्पूर्ण विश्व राम के स्वागतार्थ उत्कण्ठा में आशा की ज्योति जगाये बैठा था। चिर-काल तक सन्तति का मुँह न देख सकने के कारण अयोध्या के स्वामी दशरथ भी ग्लानि से भरे हुए थे और राजा के दुःख-सुख के समभागी भी राम के आगमन के मार्ग पर पलकों के पाँवड़े बिछाए बैठे थे। इस प्रकार लोक, परिवार और पुर को राम के स्वागत के लिए प्रस्तुत करके तुलसीदास ने उनके जन्म-समय के उत्सव और कौतूहल का विशद वर्णन करके रामचरितमानस की कथा

आरम्भ की है। कथा का प्रवाह आदि से अन्त तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है।

कथा के अतिरिक्त कवि ने कुछ ऐसे मार्मिक स्थलों का चयन किया है जिनमें भावुकता का रसोद्रेक हो सके। इसी कारण उन्होंने कथा में जो कुछ हेर-फेर किया है वह क्रम-परिवर्तन शोभा-वृद्धि का ही प्रेरक बन सका है। उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं आने पाई है। राम का अयोध्या-त्याग और वन-गमन, चित्रकूट में भरत और राम का मिलन, वन में सीता-हरण के पश्चात् राम का विलाप, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का साधारण मनुष्य की भाँति रोना और पश्चात्ताप करना, आदि स्थल ऐसे हैं जहाँ तुलसीदास ने तीव्रता और वेग के भावों और मनोभावों का मार्मिक चित्रण किया है।

वन-गमन के प्रसंग में ग्राम-वधुओं का चित्रण भावुकता की दृष्टि से उच्च कोटि का है। ग्राम-वधुओं की सरलता और भोलेपन का जो चित्रण तुलसी ने किया है वहाँ उनकी भावुकता चरम सीमा पर पहुँच जाती है। चित्रकूट में जो सभा आयोजित की गई है उसमें पारिवारिक और सामाजिक मर्यादा का आदर्श उन्होंने उपस्थित किया है। भरत ने उस सभा में जो अश्रु-सरिता प्रवाहित की है उसमें समस्त जड़-चेतन डूब जाते हैं। कैकेई के परिताप की तो कोई सीमा ही नहीं रहती। पश्चात्ताप की अग्नि उसके हृदय में धधक रही है, ग्लानि से उसका तन गला जा रहा है। मन चुनौती देता है और वह दोनों सरल भाइयों को सीता जी के साथ देखकर विचार करती है कि पृथ्वी फट जाय और वह उसमें समा जाय अथवा यम ही उसकी सहायता करे परन्तु उसकी याचना से न तो पृथ्वी ही फटती है और न मृत्यु ही आती है—

"लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।
अवनि जमहि जाचति कैकेयी। महि न बीचु, बिधि मीचु न देई॥"

आचार्य शुक्ल ने इस सभा को आध्यात्मिक घटना कहा है। वास्तव में यह उपयुक्त भी है, क्योंकि धर्म के इतने स्वरूपों की एक साथ योजना अन्यत्र अप्राप्य है। इसमें राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्र, पिता और पुत्री, श्वसुर और जामाता, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण

और शूद्र, सभ्य और असभ्य के पारस्परिक व्यवहारों का, उपस्थित प्रसंग के धर्मगाम्भीर्य और भावोत्कर्ष के कारण अत्यन्त मनोहर रूप प्रस्फुटित हुआ है।

राम सीताहरण पर विरह-व्याकुल होकर जब 'खग-मृग' और 'मधुकर-स्रेनी' से सीता का पता पूछते हैं, तब कौन सहृदय होगा जो उनके आँसुओं में अपने हृदय के रस को न मिलाए। उनकी इस करुण दशा पर कौन अपने हृदय की पीड़ा की धारा को रोक सकता है। ऐसे ही जिस भाई लक्ष्मण ने घर, वन में कभी-भी साथ न छोड़ा हो उसके शक्ति लगने पर राम का अपने महान् व्यक्तित्व के गाम्भीर्य को भुलाकर अयोग्य बातें कहकर प्रलाप करना कितना मर्मस्पर्शी है। इसी प्रकार रावण में पराक्रम और अदम्य निश्चय तथा राम के अडिग और निर्भय पुरुषार्थ का लोमहर्षक विस्तृत वर्णन भी मानव हृदता का ऐसा चित्रण है जिसके सुनते वा पढ़ते ही हृद्‌गति स्वत: अवरुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार अनेक ऐसे उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनमें कवि-कुल-गुरु तुलसी की भावुकता का सार है। शृङ्गार के क्षेत्र में तुलसी का अपना अलग ही महत्व है। वहाँ भी मर्यादा की सीमा में रहकर तुलसी ने दक्षतापूर्ण चित्राङ्कन किया है। रसों में शृङ्गार रस का मर्यादित चित्रण वास्तव में कठिन होता है, परन्तु तुलसी ने लेखनी पर बँधन स्वीकार करते हुए उसका मर्यादापूर्ण वर्णन किया है। सीता, राम और लक्ष्मण वन जा रहे हैं। मार्ग में ग्राम-बधुएँ उनके दर्शनार्थं एकत्र हो जाती हैं। वे सीता से राम के विषय में पूछती हैं कि उनका उनसे क्या नाता है। सीता की उस समय की मनोदशा का मनोवैज्ञानिक रूप से चित्रण करते हुए कवि कहता है—

> **सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी।**
> **तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहूँ संकोच सकुचत बरबरनी॥**
> **सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥**
> **सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥**
> **बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितै भौंह करि बाँकी॥**
> **खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निजपति कहेउ तिन्हहि सिय सैननि॥**

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि तुलसी कुशल मनोवैज्ञानिक थे। इसी से उन्होंने सर्वत्र ऐसे ही स्थलों का विस्तार के साथ चित्राङ्कन किया है जो

नहीं चाहिए—'न रसादृते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते।' अत: रस काव्य का एक आवश्यक तत्त्व है।

इसी से काव्य-प्रणेताओं ने परिस्थिति और विषय के अनुसार भावोद्-बोधन के समय अपनी वाणी और लेखनी द्वारा सरस काव्यों की रचना की है। रसिक शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने तो नवरसों की मन्दाकिनी अपने काव्य में प्रवाहित की है। सहृदय पाठक जन अपनी वृत्ति और इच्छानुसार किसी भी रस धारा में डुबकी लगा कर काव्यानन्द लूट सकते हैं। गोस्वामीजी भावों के शुष्क मनोवैज्ञानिक विश्लेषक न थे, उन्होंने उनके हल्के और गहरे रूपों को संश्लिष्टावस्था में जुटाया और रामचरितमानस की विस्तीर्ण भूमि में इन्हीं के स्वाभाविक संयोग से उनकी रस-प्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा प्रवाहित करने में समर्थ हुई। रामानुजाचार्य की परम्परा में दीक्षित होने के कारण तथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम को अपने काव्य का प्रतिपाद्य विषय बनाने से तुलसी की काव्य परिधि भी मर्यादा की सीमा में बँधी हुई है। इष्टदेव के प्रति दास्य की भावना होने के कारण भक्त उसके घनिष्ठ सान्निध्य में नहीं रहता और इसीलिए गोस्वामीजी की वाणी से जितने भी भाव प्रस्फुटित हुए, सभी में मर्यादा का यथासाध्य ध्यान रखा गया है। यहाँ तक कि तुलसी सीता के सौन्दर्य वर्णन, विरह और संयोग की अवस्थाओं में भी मर्यादा की काव्य-भूमि पर खड़े रहे, जो अन्य कवियों के पैरों तले से फिसल गई है।

परन्तु दूसरी ओर सूर तुलसी से वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों में आगे बढ़ गए हैं। सूरदास का क्षेत्र संकुचित होने के कारण वे वात्सल्य और शृंगार वर्णन में अधिक व्यापकता ला सके हैं। सूर ने भागवत पुराण में वर्णित कृष्ण के रूप को अपने पदों में आधृत किया है। उन्होंने अपनी रुचि और गुरु वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण के लोकरंजक रूप को ही ग्रहण किया है। जिसके कारण कृष्ण का सौन्दर्य और प्रेम वर्णन ही स्वाभाविक था। सूर साहित्य में रसराज के प्रत्येक अंग का स्पष्ट वर्णन किया गया है। कृष्ण के बाल और यौवन रूप को आधार मानकर सूर ने वात्सल्य और शृंगार की विमल धारा प्रवाहित की है। शृङ्गार के दोनों पक्षों संयोग और वियोग की

सभी सम्भावित दशाओं और अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण किया है। वात्सल्य रस के क्षेत्र में तो सूर हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, वरन् विश्व साहित्य में भी सबसे आगे बढ़े हुए हैं। उन्होंने वात्सल्य-रस का अत्यन्त काव्यांगपूर्ण और भावुक वर्णन किया है। वास्तव में सूर और वात्सल्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सूर ने वात्सल्य रस की ऐसी मन्दाकिनी प्रवाहित की है जैसी 'न भूतो न भविष्यति' सम्भव है। उन्होंने केवल शैशवकालीन विविध दशाओं का ही वर्णन नहीं किया है वरन् उसमें बालकों की सजीव अन्तःप्रकृति का भी दिग्दर्शन कराया है। इसी अन्तःदर्शन से ही उनके चित्र इतने आकर्षक हो गए हैं। वात्सल्य के क्षेत्र में बिहारी तो आए ही नहीं पर तुलसीदास ने गीतावली के प्रारम्भिक ४२ पदों में तथा रामचरितमानस में भी वात्सल्य-रस का यत्र-तत्र वर्णन किया है। परन्तु यह वर्णन अभिनायक नहीं हुआ है, समस्त सौन्दर्य एक प्रेक्षक की भाँति ही कवि के मुखारविन्द से वर्णित है। तुलसीदास ने अधिकतर राम की छवि का ही वर्णन किया है और अनेक बार कामदेव को लज्जित होने का भी आदेश दिया है, परन्तु उन्होंने सूरदास की भाँति बालक की मनोवृत्तियों में प्रवेश नहीं किया है। सूरदास के अभिनयात्मक वर्णन के अन्तर्गत—

> "मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
> किती बार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी।"

के सामने मनोवैज्ञानिक भावनाओं को पात्रों के अभिनय का रूप देकर वर्णन करने की अपेक्षा तुलसीदास पात्रों का सीधा-सादा वर्णनात्मक चित्र खींच देते हैं—

> "सुभग सेज सोभित कौसिल्या, रुचिर राम सिसु गोद लिये।
> बार-बार विधु बदन विलोकति, लोचन चारु चकोर किये॥"

गीतावली में बाल-वर्णन के अधिकतर ऐसे ही चित्र प्रस्तुत किए गए हैं, जिसमें अभिनयात्मक तत्व अथवा सम्भाषण का प्रायः अभाव है। अतः राम कृष्ण की भाँति उतने चपल, स्वतन्त्र और चंचल बालोचित स्वाभाविक रूप से क्रीड़ा-मग्न नहीं दिखाई पड़ते। उनमें इतनी नैसर्गिकता नहीं जितनी कृष्ण में है। अन्तः तुलसी का वात्सल्य वर्णन उतना स्वाभाविक नहीं बन पड़ा है जितना सूर का। क्योंकि सूर ने ग्राम-जीवन के स्वाभाविक वातावरण में

पालित कृष्ण को अपने वर्णन का विषय बनाया है। सूर की भक्ति सख्य भाव की थी, अतः उसमें किसी प्रकार का दुराव, छिपाव अथवा हिचक नहीं। दास्यभाव की भक्ति होने के कारण तुलसी को मर्यादा का अधिक ध्यान रखना पड़ता है। इसी कारण उनके पदों में माधुर्य भाव का प्रायः प्रभाव पाया जाता है। शृङ्गार वर्णन में भी गोसाईं जी ने पाठों को आलुप्त करने में कोई कमी नहीं रखी है। उनका शृङ्गार रस रीतिकालीन शृङ्गारिक कवियों की भाँति कामुकता और उपभोग का नग्न रूप न होकर मर्यादित है। शृङ्गार रस का क्षेत्र यदि अश्लीलता की परिधि से दूर पवित्रता की उच्च भूमि में कहीं उठा है तो केवल तुलसी में जहाँ भक्त कवि सूरदास भी अश्लीलता के पंक में पड़ गए हैं—

"झूठे मोहि लगावति ग्वारी—
खेलत मोहि बोल लियौ है दोनों भुजभरि दीनी अँकवारी।
अपने कुच मेरे कर धारति आपुहिं चोली फारी॥"

वहाँ गोसाईं जी ने अपनी कविता में लेशमात्र भी दुर्भावना नहीं आने दी है—

करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरन्द छवि करइ मधुप इव पान॥
देखन मिस मृग विहग तरु, फिरइ बहोरि-बहोरि।
निरखि-निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

गोसाईं जी के विप्रलम्भ शृङ्गार की मृदुल कठोरता सीता के हरण के समय भगवान राम के विलाप में पूर्णतया प्रत्यक्ष हो जाती है और करुण रस की धारा राम के वनवासी होने पर और लक्ष्मण के शक्ति लगने पर फूट पड़ती है। राम वन-गमन के समय शोक और विषाद की घनीभूत छाया मनुष्यों पर ही नहीं पशुओं पर भी पड़ी है। जिस रथ पर राम को सुमन्त कुछ दूर तक पहुँचा आया था, लौट आने पर उसमें जुते हुए घोड़ों की आकुलता का मर्मभेदी चित्र दृष्टव्य है—

"देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहँग अकुलाहीं॥
नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जल, मोचहिं लोचन बारि।"

इसी प्रकार लंकाकाण्ड में तुलसी ने वीर, रौद्र, वीभत्स आदि सभी रसो का सुन्दर परिपाक किया है। सूरवर्णित कृष्ण के मथुरा-प्रवास के समय गायों की भी वही दशा होती है जो राम के वन-गमन के समय घोड़ों की होती है। वे भी रँभा-रँभा कर हार जाती हैं। बार-बार कृष्ण के मुरली-वादन के स्थानों को जा-जाकर सूँघती हैं। परन्तु कृष्ण को न पाकर, निराश होकर असहाय और विवश सी इधर-उधर देखने लगती हैं। निरन्तर उपवास के कारण वे भी अब कृशगात हो गई हैं। यदि पशुओं की यह दशा थी तो फिर पुरवासियों और उनके कुटुम्बी-जनों की क्या दशा रही होगी।

इस प्रकार श्रृंगार के संयोग और वियोग उभय पक्षों का दोनों कवियों ने अत्यन्त मार्मिक वर्णन किया है। तुलसी में मर्यादा है परन्तु सूर सख्य भाव में ही सब कुछ कह डालते हैं। तुलसी ने वाटिका-दृश्य में राम और सीता का मिलन कराते समय मर्यादा का बहुत ध्यान रखा है पर सूर के कृष्ण और राधा का मिलन चपल बालक-बालिका का सा मिलन है। प्रथम मिलन में ही छेड़-छाड़ आरम्भ हो जाती है। कृष्ण राधा को जानते हुए भी पूछते हैं "कौन तू गोरी"। तुलसी ने अपने सर्वश्रेष्ठ श्रृंगार-स्थल विवाह-वर्णन में भी मर्यादा का पूर्ण पालन किया है। मर्यादा के भय के कारण ही सीता राम का वर-वदन अँगूठी में पड़ते हुए प्रतिबिम्ब में देखती हैं। परन्तु सूर दानलीला में राधा-कृष्ण को परकीया नायिका के रूप में छेड़-छाड़ करते हुए देखते हैं— "यदुराई ने ललित नीबी गही।" जब श्रीफल पर कर सरोज रखा उसी समय यशुमति आ गई—

> "नीबी ललित गही जदुराई।
> जबहि सरोज धर्यौ श्रीफल पर, तब जसुमति गई आई॥
> तत छन रुदन करत मनमोहन, मन में बुधि उपजाई।
> देखौ ढीटि देति नहिं माता, राख्यौ गेंद चुराई॥"

परन्तु सीता इतनी मर्यादित हैं कि ग्राम-बधुओं द्वारा यह विनोदपूर्ण प्रश्न करने पर कि "साँवरे से सखी रावरे को हैं ?" के प्रत्युत्तर में व्यंजना से काम लेती हैं। सीता नतमुखी होकर तिरछी चितवन से राम की ओर निहार कर फिर मुस्कराकर आगे चल देती हैं। इस प्रकार सीता सुन्दर और

स्वाभाविक ढंग से मर्यादा का पालन करते हुए संकोच और प्रेम की अभिव्यक्ति करती हैं।

परन्तु दूसरी ओर रसिकशिरोमणि बिहारी का शृंगार रस नायिका-भेद और लक्षण-ग्रन्थों की सीमाओं को पार करता हुआ मौलिकता के सागर में जा मिलता है। उनका शृंगार मौलिक और भौतिक जीवन से सम्बन्धित है, जिसमें मर्यादा नाम का लक्षण भी नहीं मिलता। नायिका-भेद को प्रस्तुत करने में कवि की प्रवीणता दिखाई देती है। परम्परा की लकीर पीटते हुए कहीं-कहीं कवि ने विपरीत-रति तक के वर्णन प्रस्तुत किये हैं। उसमें प्रेम की अमोघ शक्ति का भी प्रभाव प्रदर्शित किया है। प्रेम की प्रभविष्णुता में प्रिय के सम्पर्क में आने वाली प्रत्येक वस्तु प्रेम का आलम्बन बन जाया करती है। प्रेम के भीतर प्रेमियों को सताने में जो एक प्रकार का आनन्द आया करता है, जो स्वाभाविक है, उसका भी बिहारी ने सुन्दर दिग्दर्शन कराया है। चित्त में प्रिय के स्पर्श-जन्य सुख की जो वासना होती है उसके परिणामस्वरूप वे थोड़े से कष्ट को भी सुखद मान लेते हैं। इस प्रकार के उदाहरण उनकी कविता में उसी प्रबलता के साथ मिलते हैं जिस प्रबलता के साथ नायिका-भेद के वर्णन किये गये हैं। किसी नायिका के पैर में काँटा गढ़ गया है। उसे काँटे के गढ़ने की परवाह नहीं, वह इसी कल्पना में सुखानुभव करती है कि प्रिय आकर अपने कर-कमलों से मेरे पैर से काँटा निकालेंगे—

"इहि काँटे मो पाइ गढ़ि लीनी मरति जिवाइ।
प्रीति जतावत भीति सों मीत जु काढ्यौ आइ॥"

संयोग शृंगार के अतिरिक्त वियोग शृंगार की भी प्रत्येक अवस्था व दशा का बिहारी ने वर्णन किया है। परन्तु उनके वियोग शृंगार में ऊहात्मकता का प्राधान्य है जिससे सहजानुभूति का भावोद्रेक होने की अपेक्षा वह हास्य का विषय बन जाता है। नायिका प्रिय के विरह में इतनी कृशगात हो गई है कि श्वास-प्रश्वास में आगे-पीछे झूले की तरह झूलती है—

"इत आवत चलिजात उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै लगी उसासन साथ॥"

तथा—**"औंधाई सीसी सुलखि, बिरह बरति बिललात।**
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छींटो छुयो न गात॥"

आदि में दुर्बलता, क्षीणता, विषाद और विरहाग्नि की संतप्तता इतनी अधिक बढ़ गई है कि वह सच्ची अनुभूति से कोसों दूर पड़ी है। इस प्रकार गाम्भीर्य की अपेक्षा ऊहात्मक होने के कारण हास्य का पुट अधिक आ गया है। मर्यादा का नितान्त अभाव होने के कारण काव्यगत शिष्टता तो आने ही नहीं पाई है। यहाँ तक कि उनका शृंगार वर्णन अश्लीलता की सीमा को स्पर्श करता है। उन्होंने त्रिबली वर्णन, रति लक्षिता वर्णन और गर्भवती की विधियों और चिन्हों का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। यहाँ तक ही नहीं—कवि ने विपरीत रति आदि का वर्णन करने में तनिक भी संकोच नहीं किया है। दूसरी ओर पुष्टिमार्गी होने के कारण सूरदास में भी मर्यादा का ह्रास दिखाई देता है। परन्तु सूर और बिहारी के मर्यादा-ह्रास में अन्तर है। सूरदास के शृंगार वर्णन में पाठक के मानस-पट पर वासना अथवा कामुकता के भाव अंकुरित नहीं होते जैसा कि बिहारी के शृंगार-वर्णन में पाया जाता है। उनका शृंगार भक्ति-सम्बन्धी भावों का ही उद्रेक करता है।

इस प्रकार पूर्णत:विवेचन करने से स्पष्ट होना है कि सूर का शृङ्गार-वर्णन तुलसी के शृंगार-वर्णन से अधिक व्यापक, विस्तृत, मनोरम और मधुर है। जहाँ तुलसी ने राम के सम्पूर्ण जीवन को लेकर उसमें अनेक रसों का संचार किया है, वहाँ सूर ने कृष्ण के केवल बाल और किशोर जीवन को ही लिया है. जिससे वात्सल्य और शृंगार रस का ही मार्मिक उद्रेक हुआ है। इस संकुचित क्षेत्र में सूर ने शृंगार वर्णन को ही अविक व्यापकता दी है। तुलसी को सम्पूर्ण जीवन का चित्र अंकित करना था और सूर को केवल जीवन के एक अंश का ही चित्र चित्रित करने की आवश्यकता थी। इसी कारण मूर अपने सीमित क्षेत्र में ही शृंगार रस को व्यापकता देकर प्रवाहित करते रहे और तुलसी ने नवरसों का उद्रेक किया।

सूर और बिहारी के शृंगार-वर्णन की विशेषता यह है कि उसमें छेड़छाड़, मनोविनोद आदि से सुन्दर प्रसंगों का सन्निवेश हो सका है। सूर ने मुरली को ही लेकर कृष्ण और गोपियों में अनेक वैदग्ध्यपूर्ण उक्तियाँ-प्रयुक्तियाँ चलती रहती हैं। मुरली को कृष्ण का अधरामृत पान करते देख गोपियों में सपत्नीक भाव से ईर्ष्या उत्पन्न हो उठती है। गोपियाँ ईर्ष्यावश मुरली को छिपाकर रख

देती हैं और इस प्रकार फिर छेड़छाड़ होने लगती है। बिहारी में भी मनो-विनोद, बहाना और आँख-मिचौनी का अच्छा क्रीड़ास्थल बनता है। नायिका प्रिय से छेड़छाड़ करने के बहाने लेट जाती है और प्रिय को जागते हुए भी सोया हुआ समझकर उससे प्रेम सम्बन्धी क्रियाकलाप करने लगती है और अन्त में दोनों आलिंगन के पाश में बँध जाते हैं—

मैं मिसहा सोयौ समुझि, मुँह चूम्यौ ढिग जाइ।
हँस्यौ खिस्यानी गल गह्यौ, रही गरै लपटाइ ॥

सूरदास के शृंगार वर्णन में भी राधा और कृष्ण तथा कृष्ण और गोपियों में इसी प्रकार का प्रेमालाप चलता है। परन्तु सूर का शृंगार-वर्णन स्वाभाविक, सुन्दर, सरस और प्रांजल है। उसमें रमणीयता, लावण्य और तल्लीनता तथा मादक रसोद्रेक है और इसीलिए उनका स्थान इस क्षेत्र में अद्वितीय और अनन्य है।

प्रश्न २५—अन्तःप्रकृति के निरीक्षण की दृष्टि से तुलसी, सूर और बिहारी की तुलना कीजिए।

उत्तर—कवि सृष्टि के गुह्यतम, अगम्य और निरान्वेषित स्थलों में पहुँचकर अपनी काव्यप्रतिभा की ज्योति से रहस्यमयी समस्याओं को प्रकाश में लाता है, मानव-हृदय में प्रस्फुटित होने वाले भाव-अंकुरों को सींचकर उनको उसी कौशल से अभिव्यक्त करता है जिस प्रकार भावों का भोक्ता उनका अनुभव करता है। कवि उस गुफा को भेद कर बाहर निकल आता है जहाँ प्रकृति की कोई भी शक्ति नहीं पहुँच पाती, वह ऐसे मानस-मुक्ताओं को अन्तरतम से ढूँढ़कर लाता है, जिनको नीर-क्षीर-विवेकी हंस भी नहीं चुन पाता। वास्तव में कवि के लिए यह उक्ति यथासंगत ठहरती है "जहाँ न पहुँचे रवि तहाँ पहुँचे कवि।" असूर्य-पश्याओं के मुख-दर्शन का तो कहना ही क्या, उनके अन्तःकरण के भावों तक को जान लेने की क्षमता कवि में होती है। कवि प्रकृति का पुरोहित होता है, अर्थात जिस प्रकार पुरोहित यजमान के प्रत्येक घटना-चक्र से अवगत रहता है, उसके प्रति उसके मन में रहस्य और भेदत्व की कोई भावना ही नहीं रहती, उसी प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति के अन्तर-वाह्य से कवि परिचित रहता है। प्रकृति नटी अपने प्रियतम कवि के सम्मुख मानो अपनी हृदय-वाटिका खोल कर रख

देती है और कवि उसमें से भाव-कलिकाओं का चयन कर उनके रसोद्रेक का आनन्द लूटता है। अन्तःप्रकृति के कोने-कोने से परिचित होता है। बिहारी और सूर अन्तःप्रकृति के निपुण निरीक्षक हैं। तुलसी भी मनोविज्ञानवेत्ता हैं। मानस की गुह्यतम भाव-कलिकाओं को सुमधुर वाणीन्द्रिय द्वारा प्रस्फुटित करके रख देते हैं। निश्चय ही उनके काव्य में अनुभूति की गम्भीरता और अन्तः-प्रकृति की सूक्ष्म-दर्शिता है।

कवि को मानव के साक्षात् तत्व की खोज की आवश्यकता नहीं रहती। उसका मानव प्रकृति से स्वतः परिचित हो जाता है। वह अपनी जन्म-जात प्रतिभा और कल्पना के सहारे लाखों वर्ष पूर्व मानव-हृदय में प्रस्फुटित होने वाले भावांकुरों का उसी सफलता के साथ चित्रण करता है जिस सफलता के साथ अपने समकालीन मानव-हृदय में जाग्रत होने वाले भावों का। १६ वीं शताब्दी में होने वाले कवि-कुल-गुरु तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा और कल्पना के सहारे लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम के हृदय में उद्‌बुद्ध हुए भावों का जैसा सुन्दर यथानुरूप वर्णन किया है वैसा उन भावों का रूप चतुर्दिक खड़े हुए व्यक्तियों को कहीं भी दिखाई नहीं दिया होगा।

सूर ने मानव-प्रकृति के मुख्यतः तीन भागों का ही चित्रण विशेष रूप से किया है। सूरसागर में शृंगार और वात्सल्य की त्रिवेणी प्रवाहित होती है और तदनुरूप दैन्य रति और वात्सल्य भावों का ही अधिक प्रकाशन हुआ है। सूर ने अपनी अन्तर्दृष्टि से इन्हीं भावों से सम्बन्धित सूक्ष्मदर्शिता प्रगट की है। परन्तु बिहारी सदा एकोन्मुखी ही रहे हैं। उनकी वाणी का प्रवाह नाना प्रकार के विप्लवों के योग की अशान्त परिस्थिति को चीरता हुआ अब भी ज्यों का त्यों रसिकों को रसस्नान करा रहा है। जिसकी कविता में बूढ़ने वाले तो पार लग सके पर जो ऊपर ही हाथ-पैर फेंकते रहे वे डूब गये। उनकी वाणी शृंगार रस में छलकती हुई सहृदय रसिकों के हृदय कमल को खिला देती है और तदनन्तर्गत मकरन्द का प्रकाशन अपने सूक्ष्म पर्यवेक्षण की शक्ति से कर देती है। उनकी वाणी में वह शक्ति है जो अंतःकरण के अन्तस्तल की गहराई को नाप कर सूक्ष्मातिसूक्ष्म हाव-भावों का प्रकाशन करती है। ऊख का

जीवन के वास्तविक चित्र है और जिनको देखने के लिए दर्शक सदैव उत्कण्ठित रहते हैं।

गोस्वामीजी ने 'मानस' की सरस कथा-धारा में बाधक अथवा अरोचक वर्णनों की सदा उपेक्षा की है। अयोध्या में बरात के सुसज्जित रूप का वर्णन तो विस्तारपूर्वक किया परन्तु वहाँ से चलकर जनकपुर पहुँचने तक की बातों की सूचना-मात्र है; फिर जनकपुर में बरात के अभिनन्दन का वर्णन भी विस्तृत है। किन्तु केवल 'गये बीति कछु दिन यहि भाँती, प्रमुदित पुरजन सकल बराती' कहकर, कथा आगे बढ़ाई है। विवाह के उपरान्त जनक के प्रासाद में जो ज्यौनार हुई थी उसमें भी कवि ने अपने पाकशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव का लेखा देना उचित नहीं समझा। केवल पकवानों का उल्लेख-मात्र कर दिया है। जिस प्रकार जायसी ने पद्मावत में और सूरदास ने सूरसागर में प्रत्येक प्रकार के भोजनीय पदार्थ की लम्बी सूची दी है, वैसा तुलसी भी इच्छानुसार कर सकते थे परन्तु कथा-सौष्ठव में व्याघात न डालने का विचार कर उन्होंने इसकी उपेक्षा की है।

तुलसीदास के मानस के कथानक की एक विशेषता यह भी है कि उसमें निरर्थक आवृत्ति से अरुचि उत्पन्न नहीं की गई। घटनाओं के वर्णन का पुन: अवसर आने पर कवि ने उनका उल्लेख-मात्र कर दिया है जिससे श्रोता के मन में कथा के प्रति अरुचि उत्पन्न नहीं होती। जब भरत के बाण से घायल होकर हनुमान द्रोणाचल सहित गिर पड़े थे, तब उनके मुख से 'राम राम' शब्द सुनकर भरत उनके पास पहुँचे थे। फिर स्वस्थ होने पर हनुमान ने भरत की जिज्ञासा शान्त करने के लिए राम-चरित सुनाया था। तुलसीदास ने इसकी सूचना-मात्र दी है—"कपि सब चरित समास बखाने।"

इस प्रकार उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि गोस्वामीजी ने राम-चरितमानस में कथानक के निर्वाह के साथ जीवन के मार्मिक चित्र का विशद चित्रण किया है। परन्तु अप्रिय बातों का स्पष्टत: उल्लेख न कर संकेतों द्वारा ही काम चलाया है और कथा की सरसता को धारावाहिक रूप में प्रवाहित करने के निमित्त अरोचक प्रसंगों की उपेक्षा की है। फलस्वरूप मानस का

कथानक सुगठित, प्रभावशाली और सरस है। इसी कारण वह सहृदय भक्तों के हृदय का हार बना हुआ है।

मानस में कवि ने नाटककार की भाँति चरित्र-चित्रण का क्रमशः परिवर्तन दिखाया है। मानस में चरित्र उत्तरोत्तर उत्तमोत्तम रूप में पाये जाते हैं। दशरथ में सत्य-संधता के साथ पुत्र-वत्सलता की कितनी सुन्दर प्रतिद्वन्द्विता दिखाई देती है। पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर दशरथ कैकेयी की कुटिलता का विश्वसनीय नहीं समझते। वे कितने दीन भाव से कहते हैं—

प्रियाहास रिस परिहरहु, माँगि बिचारि बिबेक।''

फिर वे असमंजस के जाल में पड़े हुए व्यक्ति की भाँति महादेव जीसे विनय करते हैं—

सुमरि महेशहिं कहहि निहोरी, बिनती सुनहु सदा शिव मोरी।
आशुतोष तुम औढर दानी, आरत हरहु दीन जन जानी॥

एक सफल नाटककार की भाँति चरित्र-चित्रण करते हुए तुलसी ने अन्त-र्द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनके चरित्रों में भी मानसिक संघर्ष तीव्रगति से कार्य करता है। कौशल्या माता का असमंजस और भाव-संघर्ष गोस्वामीजी ने कितने सुन्दर रूप में चित्रित किया है—

"राखि न सकहि न कहि सक जाहू, दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू।
धरम सनेह उभय मति घेरी, भइ गति साँप छछूँदर केरी॥
राखउँ सुनहि करउँ अनुरोधू, धरम जाइ अरु बंधु-विरोधू।
कहउँ जान बन तो बड़ हानी, संकट सोच विकल भइ रानी॥"

इसी संशय की आँधी में निश्चिन्तता की ज्योति जगमगाने लगती है जिसमें धर्म की अटलता और सत्यता का साक्षात् रूप दिखाई देता है। "बहुरि समुझ तिय धरमु सयानी, राम भरत दोउ सुत सम जानी।" और वह अन्त में कह देती है कि 'पितु आयसु सब धरमक टीका।'

सुमित्रा का त्याग लक्ष्मण की भ्रातृभक्ति के सर्वथा अनुकूल है—'तुम्हरे भाग रामु बन जाहीं, दूसर हेत तात कछु नाहीं।' कैकेयी-मन्थरा सम्वाद में

गोस्वामीजी ने मनोवैज्ञानिकता का सूक्ष्म परिचय दिया है। बड़े ही कौशल तथा चातुर्य से उन्होंने कैकेयी के भावों में परिवर्तन दिखाया है। मन्थरा कुछ कहती नहीं है, सिसकती है। जब सिसकना बन्द नहीं होता तो उसे शंका होती है और वह राम की कुशल पूछती है। मन्थरा बड़ी चतुरता से उत्तर देती है "रामहिं छाँड़ि कुशल केहि आजू" और सौतिया डाह को जाग्रत करती है—

'पूत विदेस न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाह तुम्हारे।'

कैकेयी इस भ्रमजाल में फँसकर नीति का आश्रय लेती है। कहती है—"जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥" इस पर मन्थरा उपेक्षा भाव प्रदर्शित करती हुई अपनी निःस्वार्थता प्रकट करती है। उसकी ओर से कोई भी राज्य का अधिकारी हो उसे क्या, क्योंकि वह 'चेरी छाँड़ि न होउब रानी'। उसकी इस उदासीनता की मुद्रा में निःस्वार्थ भाव प्रकट करना रानी को संशय में डाल देता है। वह बार-बार मन्थरा से उसकी बात का वास्तविक अर्थ जानना चाहती है परन्तु वह भी अब हठीली बन दिखावटी संकोच करती है और अन्त में फिर अपना वाग्जाल बिछाती है। इस प्रकार क्रमशः कैकेयी में परिवर्तन होता जाता है।

तुलसी ने 'मानस' के नायक राम के तो यत्र-तत्र-सर्वत्र दर्शन कराये हैं। वे तो महाकाव्य के केन्द्र हैं जिनके चारों ओर अन्य पात्र उसी प्रकार भ्रमण करते हैं जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर अन्य ग्रह। तुलसी के राम परात्पर ब्रह्म के सगुण रूप हैं। मानस में उनके दिव्य और अदिव्य, दैवी और मानवीय दोनों रूपों का दर्शन होता है। जहाँ मानव-चरित्र दिखाया गया है वहाँ तत्काल उनके दैवी रूप की ओर भी ध्यान दिया है। मानव का एक आदर्शमय रूप राम के चरित्र में समाहित मिलता है। उन्हें भव्य शारीरिक गठन प्राप्त है परन्तु उससे भी कहीं अधिक प्रभावोत्पादक है उनका चरित्र, उनकी सत्य-प्रियता, उनकी दृढ़ता, उनकी क्षोभहीनता, उनका अदम्य उत्साह, उनकी अन्तः-करण की पवित्रता, सुशीलता, गम्भीरता, धीरता और उनकी क्षमाशीलता। धार्मिकता और आस्तिकता का संस्थापन करने के लिए ऐसे ही पूर्ण चरित्र की

मानव के रूप में आवश्यकता थी। इसी पूर्ण चरित्र में जैसे और भी पूर्णता भरने के लिए तुलसीदास ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। इसी प्रकार कवि ने महाकाव्य के प्रायः सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। उनके चरित्र-चित्रण की सुषमा और वैचित्र्य को देखकर ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में कवि की कला और भी विकसित हुई है। साधारणतः उसने चरित्रों का चित्रण एक सुकुमार तूलिका से किया है। उसमें उनके मानवीय जीवन की अन्तरंग परख भी तीक्ष्ण रूप में प्रस्फुटित होती दिखाई देती है।

मानव-प्रकृति के पारखी तुलसी ने मानसिक दशाओं का मार्मिक चित्रण करने के अतिरिक्त प्रकृति की सुषमा का भी आंख खोलकर और आँख भरकर दर्शन किया है। उनका प्रकृति-चित्रण स्वतन्त्र रूप से दिखाई नहीं देता वरन् उद्दीपन रूप में ही अधिकांश रूप से लक्षित होता है। उनकी प्रवृत्ति राम को छोड़कर दूसरी वस्तुओं में कम रमी है। राम के वन-गमन के समय पुरवासियों की तो क्या, पशु-पक्षियों की भी दीन दशा हो जाती है। वे भी विरहातुर हो जाते हैं। जानकी ने जनकपुर में शुकसारिका रखे थे। उनके वहाँ से अयोध्या जाते समय उनकी क्या दशा हुई थी। इसका चित्रण कवि ने अत्यन्त मार्मिक ढङ्ग से किया है—

> सुक सारिका जानकी ज्याये। कनक पिंजरन्हि राखि पढ़ाये॥
> ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही॥

राम की भी वियोग दशा का चरमोत्कर्ष उस समय प्रदर्शित किया गया है जिस समय वे लता-तरु-पातों से पूछते चलते हैं कि—

> हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥
> खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रवीना॥
> कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहिभामिनी॥
> बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
> सुनु जानकी तोहि बिन आजू। हरष सकल पाइ जनु राजू।

तुलसीदास रस-सिद्ध कवीश्वर थे। 'मानस' में नव रसों का उद्रेक सफलता के साथ हुआ है। प्रत्येक काण्ड अनेक रसों से आप्लावित है। सभी

काण्डों में रस-वैचित्र्य है। वीभत्स रस केवल लंका काण्ड में ही परिमित है। रसों की व्यापकता को बढ़ाने के हेतु उनके साथ प्रत्येक संचारी भाव का संकेत भी कर दिया गया है। संचारी भावों के सहयोग से रसोद्रेक और भी तीव्र हो जाता है। नायक के सौन्दर्य की अनुभूति से—क्योंकि सौन्दर्य और रति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है—नायिका कभी अपने पिता पर खीझती है और कभी उनके परामर्श-दाताओं पर और कभी परीक्षा की कठोरता पर विचार करते हुए अधीरता की सजीव मूर्ति-सी बन जाती है। नायिका की यह अधीरता उसको इतना व्यथित कर देती है कि यदि समाज का संकोच न होता तो वह सस्वर रुदन करने लगती। किन्तु दूसरे ही क्षण उसको अपनी इस व्याकुलता पर लज्जा आती है, और वह सँभल जाती है—

**"गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रकट न लाज निसा अवलोकी॥
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना॥
सकुची व्याकुलता बढ़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी॥"**

इस प्रकार तुलसीदास ने 'मानस' में काव्य के सभी गुण सुसज्जित कर दिये हैं। अलङ्कारों का प्रयोग भाव-प्रवणता और काव्य-सौंदर्य के लिए यथा-स्थान किया है। अलङ्कारों का प्रयोग स्वाभाविकता और सौन्दर्य के साथ हुआ है। अलङ्कारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे स्वाभाविक सौन्दर्य के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। उससे उनका वर्ण्य विषय और प्रभविष्णुता तीव्र हो उठती है। उनके कारण कथा का प्रवाह अवरुद्ध नहीं होता, स्वच्छन्द रूप से बहता चला जाता है। तुलसीदास ने शब्दालंकारों में एकाध स्थान पर ही चमत्कार-प्रधान श्लेष का प्रयोग किया है—

'सन्तत सुरा नीक हित जेही।'

अथवा

रावन सिर सरोज बन चारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी॥

अनुप्रास की स्वाभाविक छटा भी तुलसी ने मानस में स्थल-स्थल पर बिखेरी है—'धर्म धुरीन धीर नय नागर, सील सनेह सत्य सुख सागर।' रूपक अलंकार तो मानों गोस्वामी जी की अपनी प्रिय-वस्तु थी। मानस में अगण्य

परम्परित रूपक से अलंकृत वर्णन भरे पड़े हैं। सुमन्त्र राम के वियोग से व्याकुल होकर कहते हैं—

"हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतम नीरु।
जानत हों मोहिं दीन्ह विधि, यहु जातना सरीरु॥"

वर्षा के अनन्तर नदी का पानी घटने लगता है। कीचड़ निकल आती है और फिर दिवाकर अपने प्रताप से पानी को भी सुखा देता है। मिट्टी फट जाती है। अपने प्रीतम पानी के वियोग से मानों उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। कीचड़ की छाती तो प्रीतम के वियोग से फट जाती है परन्तु सुमन्त्र की छाती राम के वियोग से नहीं फटती। उनके वियोग का कितना सजीव चित्रण है।

इस प्रकार गोस्वामी जी ने मानस में अगणित अलंकारों का प्रयोग किया है जिससे प्रबन्ध-काव्य होने के नाते कथा का प्रवाह स्वच्छन्द रूप से सुन्दरतम गति में चलता जाता है।

'मानस' में तुलसी ने अवधी भाषा में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। उनमें सबसे प्रधान चौपाई और दोहा छन्द हैं। यही दो छंद मानस के सर्वप्रधान छन्द हैं। इन छन्दों के बीच में कभी-कभी हरिगीतिका छन्द का प्रयोग भी दिखाई देता है। शिव-पार्वती और राम-सीता के विवाह के समय इसी प्रकार की छन्द-योजना पाई जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि छन्दों के क्षेत्र में तुलसी ने अपनी रचना चातुरी दिखाने की चेष्टा नहीं की, सर्वत्र ही प्रवाह के लिए छन्द योजना प्रायः एक-सी रखी है, कहीं-कहीं अवश्य ही उसमें नवीनता का समावेश किया है, परन्तु प्रवृत्ति विशेष रूप से कथा-प्रवाह की ओर ही अधिक रही है।

इस प्रकार तुलसी ने रामचरितमानस की रचना करके उसमें जीवन के प्रत्येक रस का संचार किया और लोक-रक्षा की भावना का सुन्दर समावेश भी उसमें समन्वित किया। तुलसीदास की दिव्य वाणी पतित-पावनी गंगा की धारा की भाँति सबको पवित्र और सबका कल्याण करने वाली है। तुलसी के इस मानस में भक्त जन और सहृदय रसिक अवगाहन कर अपने को कृतकृत्य समझते हैं। श्री रामनारायण दत्त शास्त्री 'राम' के शब्दों में तो—

इस रामचरित के मानस की, उस मानस से तुलना है कहीं।
वहाँ डूबता जो मर जाता, यहाँ डूबता जो तर जाता वहीं॥

प्रश्न २७—महाकवि तुलसी के काव्य का विवेचन करते हुए हिन्दी साहित्य में उनका स्थान निश्चित कीजिए।

उत्तर—भारत-भारती के कंठहार कविकुल चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास ने वैष्णव-काव्य के क्षेत्र मे अवतरित होकर राम भक्ति की सुशीतल पावन धारा प्रवाहित की जिसमें अवगाहन कर अनेक सहृदय भक्तों ने अपने को कृतार्थ समझा। इस पावन आत्मा के अवतरण से पूर्व कृष्ण-काव्य में राधाकृष्ण को लेकर ऐसे एकान्तिक प्रेम का चित्रण किया गया था जो नैतिक आदर्शों एवं समाज और संयम की अवहेलना करता हुआ भाव-भूमि की ओर बढ़ रहा था। राधा-कृष्ण की उस पावन धारा में भक्ति के उज्ज्वल रूप के साथ कुछ विलासिता और कामुकता की दुर्गन्ध आने की सम्भावना भी थी। समाज अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल वस्तु पाकर संतुष्ट तो हुआ हो और उसने रसास्वादन तथा आनन्दानुभूति भी इच्छित रूप में की, और इससे लोकरंजन भी हुआ परन्तु लोकरक्षण की भावना की अपूर्णता को पूर्ण करने के लिए जनता अब किसकी खोज करती! समाज की गम्भीर परिस्थितियाँ, पारिवारिक जीवन की समस्याओं के कारण विरोध भावना और फलतः अशान्त वातावरण, वैष्णवों, शैवों, शाक्तों के दृष्टिकोणों में अन्तर होने के कारण ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य की अग्नि—ये सब समस्यायें प्रचण्ड रूप धारण कर देश की निराश जनता को पतोन्मुख कर किसी अज्ञात पथ पर, जहाँ कंटकों की वेदना थी, निस्सहाय धकेल रही थी। प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदास ने इस कार्य के लिए भगवान राम के मर्यादाशील जीवन को अपनी वाणी का विषय बनाकर जीवन की व्यापक अभिव्यंजना की और आदर्श और कर्तव्य का भक्ति में इस प्रकार समावेश किया कि हिन्दू धर्म, हिन्दू जाति, हिन्दू सभ्यता एवं समग्र हिन्दुत्व की भावना एकदम सजग हो उठी। जीवन की कटुता और पीड़ित जन-समुदाय के सन्ताप सागर की उत्ताल तरङ्गों से उनका हृदय इतना भयभीत हो गया था कि वे आत्मबोध के लिए की गई साधना को लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए उपयोग करने को बाध्य हो गये। उनके साहित्य

से जीवन की जो व्यापक और गम्भीर अनुभूति मिलती है उसका कारण उनका यही लोक-धर्म और समाज की मर्यादा को पुनर्जीवित करने की भावना है, जिसके लिए उन्होंने जीवन की सम-विषम अवस्थाओं को पार कर 'सियाराम मय सब जग जानी, करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी' की टेक निभाई और भारतवर्ष की मृतप्राय: निराश हिन्दू जनता को अमृत पिलाकर युग-युग के लिए अमर कर दिया। इसी सामाजिक कल्याण और संयम की भावना ने रामकाव्य में हिन्दू गृहस्थ जीवन और दाम्पत्य प्रेम के अन्यतम चित्र उपस्थित किये। सारे हिन्दी साहित्य में प्रेम का ऐसा सुन्दर, संयत और दाम्पत्य भावपूर्ण चित्रण अत्यत्र कहीं नहीं है जैसा कि तुलसीदास के रामचरितमानस में। रामचरितमानस वह मदोदधि है जिसमें अनेक रत्न भरे पड़े हैं। राम की भक्ति-मणि प्राप्त कर भक्त-जन इस भव-सागर को बिना किसी कष्ट-कण्टक के पार कर अमर हो जाते हैं। गोस्वामीजी ने इसमें भक्ति का ऐसा समन्वित रूप उपस्थित किया है जिसके बल पर हिन्दू धर्म दूसरों की प्रतिद्वन्द्वता में खड़ा हो सकता है। उन्होंने भक्ति, ज्ञान और वैराग्य का समन्वय करके धर्म के लोक-व्यवहार के लिए उपयोगी पक्ष की प्रतिष्ठा की है। उनकी भक्ति एकान्त साधना द्वारा जीव के उद्धार का उपाय-मात्र नहीं है, वह विषम परिस्थितियों के बीच होकर जीवन की यात्रा के लिए आवश्यक आचरण की प्राप्ति में सहायक और सम्बल भी है। तुलसी यद्यपि राम के अनन्य भक्त हैं तथापि उनकी भक्ति किसी विशेष सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं है। अनेक स्थलों पर कवि ने समन्वय बुद्धि का अत्यन्त सुन्दर परिचय दिया है। इसी कारण प्रत्येक सम्प्रदाय मानस को अपने ढङ्ग पर अपनाता है और अपने मत का उस पर आरोप करता है। उनकी कृतियों में वर्णाश्रम धर्म का उत्कृष्ट एवं व्यावहारिक रूप दिखाई पड़ता है, भक्तिमार्ग की अनन्य साधना प्रत्यक्ष होती है, राजधर्म का लोक-कल्याणकारी दर्शन होता है और साथ ही वेद-शास्त्र निरूपित सिद्धान्तों का सुबोध रीति से प्रतिपादन मिलता है। इस प्रकार उसमें साधु-धर्म, लोक-धर्म, राजनीति और वेदमत का अपूर्व समन्वय हुआ है। उन्होंने जन-सुलभ सगुणोपासना को निर्गुणोपासना से अभिन्न माना है। उनके अनुसार "सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेदा" का सिद्धान्त ही मंगलमय विधान है। उन्होंने बहुदेवोपासना की असारता

प्रदर्शित करके एक देवोपासना की प्रतिष्ठा की। शिव और राम की अन्योन्याश्रित भक्ति का प्रतिपादन कर शैव और वैष्णव मतों के अज्ञानजन्य भेद की जड़ पर कुठाराघात किया। व्यक्तिगत साधना के मार्ग को समष्टि के लिए उपयोगी बना उपयुक्त धर्म का पथ उद्‌घाटित किया। इस प्रकार ऐसे धार्मिक सिद्धान्त पल्लवित किये जो श्रुति-सम्मत थे। इस प्रकार उन्होंने 'मानस' में वेदों, शास्त्रों, पुराणों आदि के सिद्धान्तों का उल्लेख करके उसे भारतीय धर्म और नीति का सर्वमान्य ग्रन्थ बना दिया। तभी आज उसी के द्वारा लोग अपनी पुरातन संस्कृति की रक्षा करने में समर्थ हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तुलसी के मानस की आधार भूमि भक्ति ही है। उसे दर्शन से पुष्ट किया गया है। उस पर सम्वादों की दीवार उठाकर कथावस्तु से राम-सीता मन्दिर की संस्थापना की गई है। छन्द, रस, अलंकार, संवाद, स्तुतियों और गीताओं का उपयोग इस विशाल मन्दिर की अलंकरण सामग्री के रूप में हुआ है। काव्य की सुन्दर मीनाकारी से यह मन्दिर विभूषित है। आदर्श चरित्रों से मंडित तुलसी की राम-कथा ने जनता के लिए एक साथ प्रार्थना-भवन और शिक्षा-गृह का निर्माण किया है। तुलसी ने जीवन के कौने-कौने को झाँककर उसका चित्रण किया है। जीवन की प्रत्येक समस्या के हल का मूल साधन रामचरितमानस है। रामनाम स्मरण से जीवन की सम्पूर्ण समस्याएँ स्वतः हल हो जाती हैं।

भारतीय विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रतिष्ठापक गोस्वामी तुलसीदास ने उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि कर कविता का आदर्श उपस्थित कर दिया है। हिन्दी साहित्य में तुलसी ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने अपने समय की प्रचलित विविध शैलियों का समान अधिकार से प्रयोग करके उनसे कविता का शृंगार किया है। उनके साहित्य में लोक और परलोक, काव्य और धर्म, मृत्यु और अमृत्यु की सीमाएँ आ जुड़ी हैं। तुलसी हिन्दी-साहित्य के महाकवि हैं, भक्त-शिरोमणि हैं और नैतिक क्षेत्र में धर्म-गुरु हैं। तुलसी ने अवधी के सहज माधुर्य की रक्षा करते हुए उस पर अपने पाण्डित्य से संस्कृत का पानी चढ़ाकर उसे निखार दिया है। पूर्ववर्ती सूफी कवियों की भाषा से 'मानस' की भाषा की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी ने उसे उसी प्रकार संस्कृत

का पुट देकर विकसित किया है, जिस प्रकार सूर ने पूर्ववर्ती ब्रजभाषा को किया था। संस्कृत शब्द-कोष और संस्कृत काव्य-मंजूषा ने तुलसी के मानस को इतना पुष्ट कर दिया है कि उनके परवर्ती कवि किसी भी दिशा में उनका विकास नहीं कर सके। इस प्रकार उन्होंने एक साधारण लोकभाषा को काव्य की ही नहीं, राजधर्म की भाषा बना दिया और फलस्वरूप उनके पश्चात् आधुनिक काल तक प्रायः सारा राम-काव्य इसी भाषा में लिखा गया।

कविवर तुलसी ने मौलिकता का प्रदर्शन करते हुए भी संस्कृत ग्रन्थों का मंथन करने के साथ-साथ हिन्दी-ग्रन्थों का भी अनुशीलन किया और छन्द और भाषा की दृष्टि से अपने क्षेत्र की सारी सामग्री एकत्र कर राम के चरणों में रख दी। चन्द के पिंगल-काव्य की छटा भी उनके काव्य में लक्षित हो रही है। कबीर का सन्त-ज्ञान प्राय: उसी भाषा में 'वैराग्यसंदीपनी' में मिलता है। वीररस-पूर्ण कवित्त-सवैयो की परम्परा में कवितावली का विशिष्ट स्थान है। विशेषकर उसके सुन्दरकाण्ड का-सा शौर्य और ओज भूषण के कवित्तों में भी दुर्लभ है। सूर के काव्य का तुलसी ने विशेष अध्ययन किया था। सूर ने अपनी काव्य-प्रतिभा और भक्ति-रस का निरूपण विनय सम्बन्धी पदों और कृष्ण-कथा में प्रदर्शित किया है। तुलसी ने विनयावली के स्थान पर अधिक पुष्टता और सौष्ठवता से पूर्ण विनय-पत्रिका की रचना की। सूर की कृष्ण कथा के समकक्ष में राम की अमर-गाथा को स्वर्णाक्षरों में लिखा है। हाँ, पद-लालित्य, रस और वात्सल्य रस की दृष्टि से उन्हें सूर का आश्रित अवश्य होना पड़ा है। वस्तुतः इसका मुख्य कारण तो यह था कि तुलसी की राम के प्रति दास्य भाव की भक्ति भावना थी, जिसमें उन्हें मर्यादा की परिधि के अन्दर रहकर अपनी लेखनी को भी बंधन में बाँधना पड़ा था। सूर का एक-मुखी क्षेत्र तो था ही, परन्तु उसमें उन्होंने सख्य-भाव की भक्ति का प्रतिपादन करते हुए दूर तक दौड़ लगाई थी। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि तुलसी सूर के क्षेत्र में असफल हुए हैं वरन् वे उनकी ही वाणी को प्रतिध्वनित कर रहे हैं। सतसई परम्परा में तुलसी ने सतसई लिखकर योग दिया और खंड-काव्य की परम्परा में 'जानकी मंगल' और 'पार्वती मंगल' काव्यों की सृष्टि की। दोनों काव्यों की रचना विवाह-समय के गीतों का स्थान लेने के लिए की गई है।

इससे स्पष्ट है कि तुलसी की तीव्र दृष्टि जन-समाज के विचार-क्षेत्र में भी रमी है। जहाँ उन्होंने पण्डित-वर्ग का ध्यान रखा है वहाँ निम्न वर्ग के संस्कारों और रीति-रिवाजों को भी राम-धर्ममय बनाया है। 'रामलला-नहछू' की चरम शृङ्गारिकता कवि के जन-हृदय तक पहुँचने की जीवित चेष्टा-मात्र है। इसमें रामकथा को ढाल कर तुलसी ने जनता के हृदय को स्पर्श किया है। रामाज्ञा प्रश्न और रामशलाका में कवि ने अपने युग का कार्य पूर्ण किया है।

परन्तु तुलसी के समय में जो काव्य-प्रवृत्ति बलवती होकर अपने वेग से तट को तोड़ती-फोड़ती उछलने-कूदने लगी थी और जिसकी सहज चंचल किशोरी प्रकृति ने जनता का ध्यान हठात् अपनी ओर आकर्षित किया था वह थी विलास की प्रवृत्ति। इस विलास काव्य अर्थात् रीतिकाव्य की प्रवृत्तियों की भी तुलसी पर अनेक रूपों में प्रतिक्रिया हुई थी।

उन्होंने 'बरवै रामायण' की रचना अलंकारों के आधार पर की है। सम्भवत: अलंकार-कौशल प्रदर्शन-मात्र के लिए ही इसके कथा भाग की रचना की गई है। उनकी विलास प्रवृत्ति 'रामलला नहछू' और 'बरवै' में स्पष्टत: लक्षित होती है परन्तु तुलसी ने इस युग की विलासिनी प्रवृत्ति के प्रति विरोध ही प्रगट किया है। अत: उक्त विवेचन से यह लक्षित होता है कि तुलसी ने अपनी पूर्ववर्ती और समकालीन सभी प्रवृत्तियों और शैलियों का प्रयोग किया है। केशव, बिहारी आदि के साथ इस महान् कवि की तुलना करना तो बिल्कुल ही असम्भव है। यद्यपि केशव ने भी अपने काव्य का विषय राम ही लिया है, तथापि उसमें हृदय का तो लेशमात्र भी स्थान नहीं है। उनकी 'रामचन्द्रिका' में प्रबन्ध-पटुता का कोई विधान नहीं है, वह केवल फुटकर पदों का संग्रह-मात्र प्रतीत होती है। बिहारी ने रीति-ग्रन्थों के आधार पर दोहा में शृङ्गारिकता कूट-कूटकर भरी है। केवल प्रेमस्रोत स्वरूप भक्तवर सूरदास का नाम गोस्वामी जी के समकक्ष रखा जा सकता है। परन्तु भाव, भाषा शैली सभी दृष्टियों से गोस्वामी तुलसीदास का क्षेत्र व्यापक और विस्तीर्ण है। ऐसा जान पड़ता है कि किसी ने यमक के सौन्दर्य को प्रस्फुटित करने के प्रलोभन-मात्र से 'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास' का समन्वय किया हो।

इस प्रकार धर्म-प्रतिष्ठापक और काव्य-स्रष्टा तुलसी ने जो कुछ किया अपने मन के सुख और विश्राम के लिए किया किन्तु उनकी वाणी सुनकर लोक के मन को शान्ति मिली। इसी से वह लोकवाणी होकर जनता का कण्ठहार बन गई। आत्म-कल्याण के साधक उसके आश्रय से आत्मोन्नति के मार्ग में बढ़े। धर्म तत्त्व के जिज्ञासुओं को उसमें सनातन, वैदिक धर्म का साक्षात्कार हुआ। काव्य रसिकों को उसके रससिक्त वर्णनों में ब्रह्मानन्द-सहोदर की प्राप्ति हुई। इस प्रकार उसमें लोक के सभी वर्गों को अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार रुचि को तृप्त करने वाली सामग्री प्राप्त हुई। उसमें मतिराम की नायिका की भाँति "ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई" का सा सौन्दर्य और नवीनता मिलती है। उनकी वाणी में लोक-कल्याण का सच्चा विधान हुआ है। उनके अनुसार कविता का आदर्श सुरसरि के समान सर्व-हितकारी होना चाहिए, तभी तो उन्होंने कहा भी है—

कीरति भनिति भूति भल सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥

इसी प्रकार की काव्य-रचना करके तुलसी ने अपने समय में फैले कलि के कुशासन-चक्र को काट कर उस क्षणिक माया-अन्धकार को दूर किया और जनता को सच्चे ज्ञान का आलोक प्रदान किया। इतना ही नहीं, उन्होंने भग्न-हृदय हताश हिन्दू जनता को आत्मबल प्रदान किया और निराशापूर्ण जीवन के लिए आशा से प्रफुल्ल जीवन का उदात्त रूप रखा, जिससे वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के संकटों का सामना करने में समर्थ हुआ। इसीलिए तो ये हिन्दी काव्य-गगन के सुधाकर माने गये हैं। ये ऐसे शशि हैं जिनकी कला कभी क्षीण नहीं होती और जिनकी अमर रचनाओं की नित्य नवीन छटाएँ पूर्णता में नवीनता उत्पन्न कर सदा मन को मोद, बुद्धि को प्रबोध और हृदय को सन्तोष देती रहती हैं।

सूरदास

[आलोचनात्मक अध्ययन : प्रश्नोत्तर में]

संशोधित एवं परिवर्द्धित आठवाँ संस्करण

लेखक

श्री वासुदेव शर्मा शास्त्री

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

संशोधक की बात

'सूरदास' प्रश्नोत्तरी का अष्टम् संस्करण आपके सामने है। प्रस्तुत प्रश्नोत्तरी की उपादेयता तो इसके एकाधिक संस्करणों द्वारा ही सिद्ध हो जाती है। इस संस्करण में यथास्थान मुद्रण की अशुद्धियों को दूर करने की तथा कुछ पहले के प्रश्नों में विषय की आधुनिकतम प्रगति सम्बन्धी तथ्यों को जोड़ देने की चेष्टा कर प्रश्नोत्तरी को 'अपटूडेट' बनाया गया है। इस प्रयत्न में कहीं-कहीं अन्य लेखकों के 'मैटर' का भी उपयोग किया गया है कथा कहीं-कहीं पर संशोधक का अपना भी है। कुछ अन्य आवश्यक प्रश्न भी आकलित कर दिए गए हैं। अन्य नवीन प्रश्नों के उत्तर तथा सम्बद्धित उत्तरांशों में सर्वत्र यही ध्यान रखा गया है कि वे पुस्तक के मूल लेखक की विचार-परम्परा से पृथक् न हो पाएँ।

आशा ही नहीं एवं विश्वास है कि यह संशोधित, परिष्कृत एवं परिवर्द्धित संस्करण विद्यार्थियों एवं इस विषय के अध्येताओं के लिए विचारणीय होगा।

स्वतन्त्रता दिवस
१९६५

कुन्दनलाल उप्रेती
बारहसेनी कालेज
अलीगढ़

दो शब्द

आजकल प्राय: सभी विश्वविद्यालयों की एम० ए० (हिन्दी), प्रयाग हिन्दी विश्वविद्यालय की साहित्यरत्न एवं साहित्यालङ्कार (बिहार) की परीक्षाओं में सूरदास और अन्य भी कई कवि विशेष अध्ययन के लिए निर्धारित हैं। छात्रगण प्राय: सूरदास को ही निर्वाचित करते हैं।

यद्यपि सूर पर बहुत सा साहित्य उपलब्ध है तथापि परीक्षोपयोगी दृष्टि-कोण से अत्यल्प है। हमने प्रस्तुत "एक अध्ययन" प्रश्नोत्तर रूप में परीक्षोप-योगी दृष्टि से ही लिखा है।

सूर के सम्बन्ध में आलोचनात्मक एवं व्याख्यात्मक दो प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं। व्याख्या का ढंग या उसके पद हमने नहीं दिए। केवल आलोचना से सम्बद्ध सभी प्रश्न जैसे—जीवनी, रचनाएँ, सिद्धान्त, भक्ति-भावना, चरित्र-चित्रण, लीला-रहस्य व काव्य-समीक्षा आदि दिए हैं। प्राय: यही प्रश्न परीक्षाओं में पूछे भी जाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में हमने श्री पं० मुन्शीराम शर्मा "सोम", डा० ब्रजेश्वर वर्मा, श्री प्रभुदयाल मीतल, श्री रामरतन भटनागर एवं आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित सूर-सम्बन्धी पुस्तकों से पूर्ण सहायता ली है, अत: उन सभी महानुभावों के प्रति हम अपनी विनम्र कृतज्ञता प्रकट करते हैं। साथ ही हम विनोद पुस्तक मन्दिर के संचालकों का विशेष आभार स्वीकार करते हैं जिनकी प्रेरणा से हम इस कार्य को पूर्ण कर सके।

हमें आशा है कि "सूरदास" के विद्यार्थियों को इससे पूर्ण लाभ प्राप्त होगा।

दिल्ली
दीपावली, २०११

-वासुदेव शर्मा

प्रश्न-सूची

प्रश्न		पृष्ठ
१.	महाकवि सूरदास के जीवन के सम्बन्ध में जो सामग्री प्राप्त है, उस पर पूर्ण प्रकाश डालिए।	१
२.	सूरदास की जन्मांधता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट कीजिए।	६
३.	सूरदास जी की रचनाओं पर प्रमाणिकता तथा विषय की दृष्टि से विचार कीजिए।	
	या	
	सूरदास की रचनाओं की प्रमाणिकता पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।	१२
४	क्या सूरसागर भागवत् का अनुवाद है? सप्रमाण बताइए। साथ ही सूर की मौलिकता का निर्देश भी कीजिए।	१४
५.	साहित्य-लहरी के विषय का विश्लेषण करते हुए सिद्ध कीजिए कि वह सूर की ही रचना है	१७
६.	भ्रमरगीत के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए सूर के भ्रमरगीत पर एक विद्वतापूर्ण लेख लिखिये।	२१
७.	भ्रमरगीत की व्याक्या करते हुए उसके अर्थ-विस्तार की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।	२८
८	"सूर के भ्रमरगीत में विप्रलम्भ शृङ्गार" शीर्षक से एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।	३२
९	"सूरदास में जितनी सहृदयता एवं भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी"—'भ्रमरगीतसार' से उपयुक्त उद्धरण देते हुए इस कथन को स्पष्ट कीजिए।	४३

१०.	"वात्सल्य के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं वे इसका कौना-कौना झाँक आये हैं।" इस उक्ति से आप कहाँ तक सहमत हैं ?	५२
११.	भारतीय साहित्य में राधा के व्यक्तित्व के निकास पर अपने समीक्षात्मक विचार प्रगट कीजिए।	५६
१२.	सूरदास के दार्शनिक विचारों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालिए।	६२
१३.	सिद्ध कीजिए कि सूरदास ने प्रकृति के विशुद्ध रूप का चित्रण किया है।	६७
१४.	सूरदास की रचानाओं के मूल स्रोसों का निर्देश कीजिए।	७२
१५.	सूरदास की भक्ति पद्धति का सामान्य परिचय दीजिए।	७४
१६.	सूर साहित्य में रसराज (शृङ्गार) के प्रत्येक अंग को स्पर्श किया है।" इस उक्ति की समीक्षा कीजिए।	८१
१७.	काव्य कला की दृष्टि से सूर काव्य की समीक्षा कीजिए। सूरदास के काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।	८८
१८.	सूरसागर में प्राप्त यशोदा व नन्द का चरित्र चित्रित कीजिए।	९५
१९.	सूरसागर की मुख्य नायिका राधा का चरित्र चित्रित कीजिए।	९८
२०.	विवेचन कीजिए कि सूर काव्य के मुख्य नायक श्रीकृष्ण का चित्रण अनेक दृष्टियों से हुआ है।	
२१.	दृष्टकूट किसे कहते हैं! सूर के दृष्टकूट किस प्रवृति के सूचक है ? क्या सूरसागर और साहित्य लहरी के दृष्टकूट विभिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ हैं ?	१०८
२२	हिन्दी काव्य में पद-साहित्य के विकास को देखते हुए उसमें सूर का स्थान निर्धारित कीजिए।	११३
२३.	सूर की भाषा पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।	११८
२४	"दैन्य भाव सूरदास के मानस का एक स्थायी भाव है, जो उनकी श्रद्धा, विनय-शीलता, भक्ति भावना की तीव्रता तथा	

सहज द्रवणशीलता का परिचायक है।" इस कथन की यथार्थता पर प्रकाश डालिए। १२२

२५. "कृष्ण लीला का सम्पूर्ण वातावरण सौन्दर्य और माधुर्य से ओत-प्रोत है।" आप इस उक्ति से कहाँ तक सहमत हैं ? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए। १२९

४६. "भक्त कवि होने के कारण सूरदास ने नायिक-भेद का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत नहीं किया, किन्तु उनके शृङ्गारिक कथन में नायिका-भेद का स्वाभाविक विकास है।" इस कथन की सत्यता सिद्ध कीजिए। १३६

२७. "सूर-सूर तुलसी ससी' इस युक्ति की समीक्षा कीजिए। १४२

२८. सूरदास की विनय भावना का परिचय दीजिए। १४६

२९. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—वेणु गोपियाँ, माया, पुष्टि-मार्ग, राधा एवं रास। १५१

३०. हरिलीला क्या है ? इसकी तात्विक मीमांसा कीजिए।

अथवा

"सूर ने प्रत्येक लीला के पहले उसका अध्यात्मिक संकेत उपस्थित कर दिया है। इसको न समझ कर सूर पर उच्छृङ्खल शृङ्गार का दोष लगाना अनुचित है।" इस कथन को सिद्ध कोजिए। १६२

कुछ अन्य सामान्य प्रश्न

३१. "सूरसागर के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक स्थित पर क्या प्रकाश पड़ता है ? १६७

३२. कृष्ण-भक्ति के विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये। १७३

३३ 'सूर की कल्पना उच्चकोटि की भाव-सृष्टि करने वाली है, एवं अलङ्कारों से सुसज्जित होकर वह और भी आकर्षक बन जाती है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए। १७९

३४. सूरसागर के पदों को आप किन प्रमुख शीर्षकों में वर्गीकृत करेंगे, काव्य की दृष्टि से आप किसे श्रेष्ठ समझते हैं, कैसे और क्यों ? १८५

३५. क्या सूरसागर में रहस्यवाद है ? सप्रमाण उत्तर दीजिए। १८६

३६. सूरदास एक कुशल कवि होने के साथ-साथ अद्‌भुत संगीतज्ञ भी विवेचन कीजिए। १९०

३७. सूर के अप्रस्तुत विधान का विवेचन करते हुए सिद्ध कीजिए कि सूर ने इसका प्रयोग कर अपनी काव्य-शक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया है। १९६

३८. सूर काव्य के महत्व पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। २०३

सूरदास

प्रश्न १—महाकवि सूरदास के जीवन के सम्बन्ध में जो सामग्री प्राप्त है, उस पर पूर्ण प्रकाश डालिए।

उत्तर—भारतीय ऋषि परामर्थ प्रिय थे। वे प्रत्यक्ष से नहीं, अपितु परोक्ष से प्रेम करते थे। इसलिए कुछ रचना करके भी अपना स्वयं का परिचय देने की परिपाटी उनमें न थी एवं न ही उन्होंने इसकी आवश्यकता समझी, क्योंकि वे नम्र थे, तत्वदर्शी थे। वे अवतारों या चरित्रों की गाथा गाते-गाते उसी में इतने निमग्न हो जाते थे कि उन्हें अपनी विज्ञप्ति की बात ही न सूझती थी। महाकवि सूरदास के विषय में भी यह कथन अक्षरशः ठीक है।

किसी कवि का जीवन वृत्त जानने के दो साधन हैं—(१) अन्तः साक्ष्य, अर्थात् कवि ने अपनी रचनाओं में अपने सम्बन्ध में परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में जो कुछ कहा है; (२) बाह्य साक्ष्य अर्थात् कवि के सम-सामयिक तथा परवर्ती विद्वानों ने उसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा है। इन दोनों साधनों में अन्तः साक्ष्य का अधिक मूल्य है। बाह्य साक्ष्य में सम-सामयिक विद्वानों का कथन ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है

अतः यदि हम सूरदास की जीवनी का परिचय पाने के लिए कुछ अन्वेषण करते हैं तो हमें भी निम्न आधारों की शरण लेनी पड़ती है—

१—आत्म-निवेदन सम्बन्धी पद। **२—सूरदास के कूट पद।**	**अन्तः साक्ष्य**
३—किम्वदन्तियाँ। **४—इतिहासकारों तथा अन्य समकालीन लेखकों की रचनाओं के उल्लेख।**	**बाह्य साक्ष्य**

अन्तः साक्ष्य

अब हम इन आधारों को ध्यान में रखकर सूर के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विचार प्रगट करेंगे। अन्तः साक्षियों में सूर-सारावली का एक पद, साहित्य-लहरी के दो पद तथा सूर-सागर के कई पद सूर के जीवन वृत्त पर प्रकाश डालते हैं। इन पदों से सूर के जीवन के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात हो जाती हैं। सूर-सारावली की निम्नलिखित पंक्तियों पर विचार कीजिए—

"गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप करयो बहुत दिन तऊँ पार नहिं लीन।"

इन पंक्तियों में से प्रथम पंक्ति को लेकर प्रायः सभी आधुनिक विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सूर-सारावली रचने के समय सूरदास की आयु ६७ वर्ष की थी और महाप्रभु वल्लभाचार्य से मिलने से पूर्व वे शैव थे।

अन्तः साक्षियों में साहित्य-लहरी के दो पद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। एक पद साहित्य-लहरी के निर्माण के समय पर निश्चित रूप से प्रकाश डालता है, और दूसरा पद सूर के वंश तथा उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक बातों को प्रकट करता है। प्रथम पद इस प्रकार है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नन्द को लिखि, सुवल सम्वत् पेख॥
नन्द नन्दन मास, छै ते हीन तृतीयाबार।
नन्दन जन्म ते हैं बान सुख आगार॥
तृतीय ऋक्ष, सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन।
नन्द-नन्दन-दास-हित साहित्यलहरी कीन॥

सूरदास जी इस पद में साहित्य-लहरी का निर्माण काल बता रहे हैं। नीचे की पक्ति से यह भी प्रकट हो रहा है कि साहित्य लहरी भगवान कृष्ण के भक्तों के लिए लिखी गई है। साहित्य लहरी कब लिखी गई, इस बात का उल्लेख ऊपर के पद की पंक्तियों में इस प्रकार है, मुनि=७, रसन अर्थात् रसना =१ या कार्यों की दृष्टि से=२, रस=६, दसन गौरीनन्दन=१। "अङ्कानां वामतो गति" के अनुसार उलट कर पढ़ने से सम्वत् निकला—१६१७ या १६२७। नन्द-नन्दन मास से अभिप्राय है, बैसाख का महीना; क्षय से हीन तृतीया

अर्थात अक्षय तृतीया। तृतीया ऋक्ष अर्थात कृत्तिका नक्षत्र। उस दिन सुकर्म योग था; नन्दनन्दन (कृष्ण) का जन्म बुधवार से बाण अर्थात पाँचवाँ दिन रविवार हुआ। सुबल सम्वत् का नाम था। इस पद में वर्णित सम्वत् के विषय में भी मत भेद है। यह मत भेद 'रसन' शब्द को लेकर हुआ, क्योंकि 'रसन' का कुछ कवियों ने 'एक' अर्थ लिया है और कुछ ने 'दो'। श्री मुन्शीराम शर्मा 'सोम' के मतानुसार उसका अर्थ 'दो' ही समीचीन है।

डा० ब्रजेश्वर वर्मा इसका अर्थ १६०७ लेते हैं, किन्तु साथ ही उन्होंने कहा है कि यह पुस्तक सूर कृत नहीं हो सकती ; क्योंकि इसमें आत्म विज्ञापन की भावना है जो सूर की प्रवृत्ति के विरुद्ध है और इसमें केवल युगल रूप के दर्शन का ही उल्लेख है। इससे उनकी जन्म-तिथि नहीं निकाली जा सकती।

साहित्य-लहरी के इस पद के अनुसार सूर १६२७ सम्वत् तक अवश्य जीवित थे। इसी सम्वत् के आस-पास ही उनकी अकबर से भेंट हुई होगी। वे सम्वत् १६४२ के पूर्व निश्चय ही स्वर्गधाम सिधार चुके थे, जैसा कि आगे उद्धृत "चौरासी वार्ता" के साक्ष्य से प्रमाणित होता है।

साहित्य-लहरी का दूसरा पद सूरदास जी के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। वह पद बहुत लम्बा है। उसमें वर्णित भाव संक्षेप में इस प्रकार हैं—

सूर पृथ्वीराज के कवि चन्दबरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट थे। चन्दकवि के कुल में हरीचन्द हुए, जिनके सात पुत्रों में से सबसे छोटे सूरदास या सूरजदास थे। शेष ६ भाई जब यवनों से युद्ध करते हुए मारे गये तब अन्धे सूरदास बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकते रहे। एक दिन वे कुएँ में गिर पड़े और ६ दिन तक उसी में पड़े रहे। सातवें दिन भगवान् कृष्ण उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें दृष्टि देकर अपना दर्शन दिया। भगवान ने कहा, दक्षिण के एक प्रबल ब्राह्मण कुल द्वारा शत्रुओं का नाश होगा और तू सब विद्याओं में निपुण होगा। इस पर सूरदास ने वर माँगा कि जिन आँखों से मैंने आपका दर्शन किया उनसे और अब कुछ न देखूँ तथा सदा आपका भजन करूँ। कुएँ से भगवान् ने जब इन्हें बाहर निकाला तब वे ज्यों के त्यों अन्धे हो गए और ब्रज में आकर भजन करने लगे। आचार्य वल्लभ के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने सूरदास को अष्टछाप में प्रमुख स्थान दिया।

इसके सम्बन्ध में भी डा० ब्रजेश्वर वर्मा का मत है कि "इस पद में अपना परिचय देने वाला कोई सूरजचन्द नामक ब्रह्मभट्ट है। उसने एक ओर अपने को चन्दबरदाई का वंशज घोषित किया है और दूसरी ओर सूरदास से अभिन्न सिद्ध करना चाहा है, किन्तु सूरजचन्द का सूरसागर में कहीं प्रयोग नहीं हुआ है, इसलिए उसने कहा कि श्रीकृष्ण ने स्वयं उसका नाम सूरजदास और सूर स्याम रखा। यह सूरजदास नामक कवि अनुमानतः रीतिकाल के पूर्व नहीं हुआ होगा, क्योंकि उसकी प्रवृत्ति रीतिकालीन कवियों का अनुकरण भर करने की है। उनका पूर्ववर्ती वह नहीं हो सकता, भले ही "मुनि पुनि रसन के रस लेप" आदि में कोई भी तिथि निकलती हो उस पद का उद्देश्य तो साहित्य-लहरी को सूर-कृत के रूप में प्रसिद्ध करना है।"

इसके अतिरिक्त 'सूरसागर' में भी कुछ ऐसी अन्तः साक्षियाँ हैं जिनसे सूर के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सूर के गार्हस्थ्य जीवन के सम्बन्ध में निम्न पद विचारणीय हैं—

(१) कितक दिन हरि सुमिरन बिनु खोये।
परनिन्दा रसना के रस में अपने पर-तर बोये॥

× × ×

(२) अब के माधव मोहि उधारि।
मगन हों भव अम्बुनिधि में कृपा सिन्धु मुरारि॥
नीर अति गम्भीर माया, लोभ लहरि तरङ्ग।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनङ्ग॥

(३) अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहरि चोलना कण्ठ विषय की माल॥

(४) मेरी तो पति गति तुम अन्तहि दुख पाऊँ।
हों कन्हाई तिहारों अब कौन को कहाऊँ॥

× × ×

(५) सागर की लहर छाँड़ि खार कत अन्हाऊँ।
सूर कूर आँधरो हों द्वार परयो गाऊँ॥

इन पदों में उन्होंने अपने जीवन में किए विलास व पापों का वर्णन किया है। साथ ही इससे उनकी अन्धता के विषय में भी पता चलता है। इन अन्तः साक्षियों के आधार पर सूर के लौकिक जीवन की कतिपय बातें ज्ञात हो जाती हैं। "सूर के इन पदों में तत्कालीन स्थिति का ही अधिक ज्ञात होता है। सम्भवतः जनसाधारण की यही स्थिति उस समय थी।" ऐसा विद्वानों का मत है।

बाह्य साक्ष्य

नाभादास जी ने 'भक्तमाल' में सूरदास के सम्बन्ध में केवल एक ही छप्पय लिखा है, जो इस प्रकार है—

> **उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति अति भारी।**
> **वचन, प्रीति निर्वाह, अर्थ अद्भुत, तुक धारी॥**
> **प्रतिबिम्बित दिवि दृष्टि, हृदय हरि लीला भासी।**
> **जन्म, कर्म, गुन, रूप सबै रसना जु प्रकासी॥**
> **विमल बुद्धि गुनि और की, जो वह गुन स्रवननि धरै।**
> **श्री सूर कवित्त सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै॥**

इस छप्पय में सूर के अन्धे होने भर का संकेत है, जो परम्परा से प्रसिद्ध है। इसमे अतिरिक्त किसी भी बात का पता नहीं चलता।

पुष्टि सम्प्रदाय में ऐसा प्रसिद्ध है कि सूरदास जी महाप्रभु वल्लभ से केवल दस दिन छोटे थे। इसी जनश्रुति के आधार पर उनकी जन्मतिथि विक्रमी सम्वत् १५३५ बैशाख शुक्ल पंचमी मानी जाती है। विट्ठलनाथ जी के साथ गोकुल-निवास, अकबर से भेंट आदि घटनाओं मे भी इस तिथि की संगति बैठ जाती है। कुछ विद्वान् १५४० में उनका जन्म मानते हैं।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में—जो गो० विट्ठलनाथ जी के पुत्र गो० गोकुलनाथ ने लिखी है—उल्लेख मिलता है कि सूरदास गऊघाट के ऊपर रहते थे। यह घाट आगरा व मथुरा के बीच है। आचार्य वल्लभ से भेंट करने के पूर्व सूरदास संन्यासी हो चुके थे और इनके अनेक शिष्य इनकी सेवा में रहते थे। ये वैष्णव थे और गाना बहुत अच्छा गाते थे। एक बार महाप्रभु इनसे मिले, उन्होंने सूर को पद सुनाने के लिए कहा।

जहाँ तक सूरदास के जन्मस्थान का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में अभी तक कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सका है। कुछ विद्वान उनका स्थान आगरे के पास रुनकता बताते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य की पाँचवीं पीढ़ी में गोसाईं हरि-राय नाम के एक पुष्टि-मार्गीय विद्वान हुए। उनके कथानुसार दिल्ली से चार कोस दूर सीही नामक ग्राम सूर का जन्म-स्थान है। उन्होंने सूर को सारस्वत ब्राह्मण कहा है। कहते हैं कि ये छ: वर्ष की अवस्था में ही घर से निकल पड़े थे और गाँव से चार कोस दूर तालाब के किनारे रहने लगे। एक जमींदार ने उनके लिए झोंपड़ा बना दिया और खाने-पीने का प्रबन्ध कर दिया। वैराग्य भंग होने के भय से वह वहाँ से भाग खड़े हुए। ऐसा कहते हैं कि वे अलौकिक प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए थे। वे जन्म से न केवल अन्धे थे बल्कि उनकी आँखों के ठीकरे भी न थे। छ: वर्ष की अवस्था में उन्होंने पिता की दान में प्राप्त खोई हुई मोहरों का पता बता दिया था। इसी चमत्कार के कारण वे घर छोड़ने में समर्थ हुए। जमींदार भी उनका भक्त इसी कारण हुआ था कि उन्होंने उसकी खोई हुई गौएँ बता दी थीं। इस तालाब के पास रहते समय ही उनकी बहुत प्रसिद्धि हो गई थी और ये वैभव-सम्पन्न हो गये थे। उस समस्त धन को माता-पिता को सौंप ये आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर आकर रहने लगे। चमत्कारी और निपुण गायक होने के कारण वहाँ भी उनके अनेक सेवक हो गये। वे प्रसिद्ध सन्त रूप में विख्यात हो गये। (इसमें उनके विवाह आदि का कोई उल्लेख नहीं। अत: उनके पुत्र-कलत्र आदि सम्बन्धी कोई विवरण नहीं मिलता।

सूर के सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है कि वह सीही ग्राम की किसी रूपवती युवती पर मुग्ध हो गये थे और अन्त में उसी के द्वारा नेत्र फुड़वाकर कृष्ण के सौन्दर्य-चिन्तन में रत हो गए। किन्तु यह जनश्रुति हमारे चरित्र-नायक सूरदास के सम्बन्ध में न होकर बिल्व मङ्गल सूरदास के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। यही बात सूरदास मदनमोहन सूरध्वज के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध है, जो कुछ समय तक अकबर की सभा में रहे थे और दिल्ली के समीप किसी ग्राम के रहने वाले थे।

सूरदास जी की जाति के विषय में तरह-तरह के विवाद हैं। "चौरासी

वैष्णव की वार्ता" में इनकी जाति के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय में इन्हें सारस्वत ब्राह्मण स्वीकार किया गया है। इसका आधार भी गोसाईं हरिराय द्वारा रचित 'भावप्रकाश' है। "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" के लेखक डा० दीनदयाल गुप्त भी इन्हें "वार्ता" की किसी प्रति के आधार पर सारस्वत ब्राह्मण कहते हैं पर उन्होंने इनकी सत्यता नहीं मानी। "सूरदास प्रभु तुम्हरी भक्ति लगि तजी जाति अपनी"—सूर के इस पद के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति में लीन होने पर उन्होंने जाति-पाँति के झगड़े को त्याग दिया था। अन्तः साक्ष्य के आधार पर भी सूरदास की जाति के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं चलता। कई स्थलों पर सूरदास ने ब्राह्मण शब्द का तिरस्कृत रूप में प्रयोग किया है। जैसे—

बाँभन मारें नहीं भलाई।
जबहिं बाँभन हरि ढिग आयौ
महाराने हैं पाँडे आयो।

इसके आधार पर कुछ लोगों का विचार है कि यदि वे ब्राह्मण होते तो ब्राह्मण शब्द का ऐसा तिरस्कृत प्रयोग न करते किन्तु ऐसा प्रयोग उन्होंने केवल भक्तिहीन ब्राह्मण के लिये ही किया है। भक्ति में जाति की उच्चता का कोई महत्व नहीं, इसीलिए सम्भवतः वे जाति के विषय में उदासीन रहे। कुछ लोग उन्हें "साहित्य लहरी" के एक पद के आधार पर चन्दबरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट भी मानते हैं। यह पद प्रक्षिप्त माना जा चुका है। अतः वे ब्रह्मभट्ट नहीं थे। कुछ पदों में कवि ने कृष्ण-जन्म के आधार पर अपने को 'ढाढ़ी' और 'जगा' कहा है। यथा—

(क) हौं तो तेरे घर की ढाढ़ी, सूरदास मोहिं नाऊँ।
(ख) नन्द उदै सुनि आयो हो, वृषभानु कौ जगा।

इस प्रकार उनकी जाति के सम्बन्ध में कई कल्पनाएँ हैं, किन्तु प्रामाणिक कोई नहीं। वे महान भक्त थे, जाति चाहे उनकी कोई हो—अस्तु,

हम पहले कह चुके हैं कि सूरदास की महाप्रभु वल्लभाचार्य से सन् १५१० ई० के लगभग गऊघाट पर भेंट हुई। श्री वल्लभ ने इनसे कुछ पद सुनने की इच्छा प्रकट की। उस समय उन्होंने निम्न दो पद सुनाये—

प्रभु हौं सब पतिनन कौ टीको
और पतित सब दिवस चारि के हौं जनमत ही कौ

× × ×

मरियत लाज सूर पतितन में, मोहू तैं को नीकौ ।।

तथा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी ।
जेहि तनु दियो ताहि बिसारयौ ऐसौ नौन हरामी ।।

× × ×

इन पदों को सुन महाप्रभु प्रभावित तो अवश्य हुए पर उन्हें दैन्य की यह भावना रुची नहीं और उन्होंने कहा—"सूर ह्वै कै ऐसे काहे कौं घिघियात हो, कछु भगवत् लीला वर्णन करौ ।" इसके पश्चात उन्होंने सूर को पुष्टि मार्ग में दीक्षित किया तथा उन्हें श्रीकृष्ण लीला से परिचित कराया । फिर श्री वल्लभाचार्य जी उन्हें अपने साथ गोवर्धन पर श्रीनाथ जी के मन्दिर में ले गये तथा उन्हें "कीर्तन का मंडान" सौंपा । यहाँ उन्होंने श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं के सहस्रावधि पद बनाये और गाये ।

महाप्रभु के बाद उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी ने इस परम्परा को और अधिक विकसित किया । आठ प्रमुख कवियों का कीर्तन-मंडल बना । उन्होंने सूर को इस अष्टछाप का प्रमुख बनाया ।

कहते हैं कि सूरदास ने अकबर से भी भेंट की थी जो तानसेन द्वारा कराई गई ।

सूरदास को जब ज्ञात हो गया कि उनका अंतिम समय सन्निकट है, तो वे पारसोली के चन्द्र सरोवर पर आ गये और यहाँ श्रीनाथ जी की ध्वजा के सामने दण्डवत् लेट गये । उधर कीर्तन के समय जब विट्ठलनाथ जी को पता लगा कि सूर पारसोली की ओर गये हैं तो वे "राजभोग" के पश्चात् पारसोली गये । जब सूर को ज्ञात हुआ कि श्री विट्ठलनाथ आ गये तो वे गद्-गद् हो गाने लगे—

देखौ देखौ जू हरि कौ एक सुभाई ।
अति गम्भीर उदार उदधि हरि, जान सिरोमनि राइ ।

इसी अवसर पर चतुर्भुजदास ने सूर से कहा कि भगवान् का यश तो आपने गाया पर गुरु महाराज का नहीं गाया। यद्यपि भगवान के यश को ही उन्होंने गुरु यश बताया तो भी उन्होंने गाया—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।

श्री बल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझि अंधेरो॥

फिर गोसाईं जी ने पूछा—'सूरदास जी ! चित्त की वृत्ति कहाँ है ?' सूर ने यह पद गाकर उत्तर दिया—

बलि बलि हौं कुमारी राधिका, नन्द सुवन जासों रति मानी।

वे अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि, प्रीति करी कैसे होत है छानी।

गोसाईं जी ने फिर पूछा—'सूरदास जी ! चित्त की वृत्ति कहाँ है ?' इस पर उन्होंने गाया—

खंजन नैन सुरंग रस माते।

अतिसय चारु विमल चंचल ये, पल पिंजरा न समाते॥

× × ×

सूरदास अंजन-गुन अटके, नतरु कबै उड़ि जाते॥

इस पद को गाते ही सूरदास के प्राण उड़ गये, वे श्रीकृष्ण में लीन हो गये। इस प्रकार सूर की भक्ति, जो आरम्भ में सेवक के भाव की थी, क्रमश: सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की तन्मयता को अपनाती हुई राधा के परम भाव में समा कर परिपूर्ण हो गई।

प्रश्न २—सूरदास की जन्मांधता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—श्री सूरदास के अन्धे होने की बात उनके जन्म के साथ ही सम्बद्ध की जाती है। पुष्टि-मार्गीय विद्वान् गोसाईं हरिराय जी ने उन्हें न केवल जन्मान्ध बताया है; अपितु यहाँ तक कहा है कि उनके नेत्रों के ठीकरे तक नहीं थे, केवल भौंहें ही थीं; अत: वे सूर थे, अन्धे न थे। किन्तु गोसाईं हरिराय जी का उक्त कथन जनश्रुति पर ही आधारित है, उसके लिए ऐतिहासिक प्रमाण कोई नहीं। सूर जैसे श्रेष्ठ भक्त कवि के सम्बन्ध में जन्मान्ध होने की बात लोक-विश्वास और जन-श्रद्धा के लिये स्वाभाविक भी है। इसी प्रकार एक

कल्पना यह भी है कि वे एक बार कुएँ में गिर पड़े थे और श्रीकृष्ण ने स्वयं उनको बाँह पकड़कर निकाला था तथा सूर ने नेत्र प्राप्त होने पर भी पुनः अन्धे होने का वरदान माँगा था। यह निश्चय है कि सूर विषयान्ध मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर से भवकूप में पड़े देख व्यथित थे। स्वयं उनको परम करुणामय श्रीकृष्ण ने सम्बल देकर भवकूप से निकाला और उनका उद्धार किया। सूर की अत्युत्कट भक्ति एवं उनके द्वारा किये गये कृष्णरूप के असंख्य चित्र देख श्रद्धालुजनों के लिए यह विश्वास अनिवार्य सा हो गया है कि सूर ने श्रीकृष्ण के साक्षात् दर्शन किये थे और उन्होंने जिन नेत्रों से श्रीकृष्ण का सौन्दर्य प्रत्यक्ष कर लिया हो वह भला उस संसार को क्यों देखना चाहेंगे जिसकी निन्दा स्वयं उन्होंने की हो। अतः उनके द्वारा पुनः अन्धे होने का वरदान माँगना भी स्वाभाविक ही है। वैसे भी लोग यह कैसे प्रचलित कर देते कि श्रीकृष्ण ने शेष जन्म के लिए सूर को नेत्रयुक्त कर दिया ?

श्रद्धालु भक्त तो सदैव यह मानते रहेंगे कि सूर जन्म से अन्धे थे। यद्यपि

"जन्मान्धो सूरदासोऽभूत्"

ऐसा श्री प्राणनाथ भट्ट ने सूर के सम्बन्ध में कहा है, किन्तु यह धार्मिक विश्वास है और इस प्रकार के विश्वास को तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। यह ठीक है कि पुष्टिमार्गीय विद्वान् उन्हें जन्मांध ही मानने का आग्रह करते हैं और इस सम्बन्ध में गोसाई हरिराय के कथन को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यह भक्ति-महात्म्य के अतिरिक्त ऐतिहासिक तथ्य नहीं हो सकता। उधर 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता" में सूर के अन्धे होने का दो स्थानों पर उल्लेख हुआ है। एक तो वहाँ, जब आचार्य महाप्रभु से सूरदास जी की भेंट हुई। भेंट होने पर आचार्य जी ने कहा था—'सूर, कछु भगवत जस वर्णन करौ।' सूरदास जी ने विनय के पद सुनाये जिन्हें सुनकर आचार्य जी ने कहा—"सूर ह्वै कैं ऐसो काहे को घिघियात हो, कछु भगवत लीला वर्णन करो", इससे इतना तो प्रतीत होता है कि सूर वल्लभाचार्य जी के मिलने से पूर्व अन्धे थे; किन्तु उनके जन्मान्ध होने की बात की पुष्टि यहाँ भी नहीं होती। कुछ भी हो, यह तो निर्विवाद है कि सूरदास अन्धे थे। अन्तः साक्ष्य से भी इसका समर्थन होता है—

(१) रास रस रीति नहिं बरनि आवै ॥
यहै माँगों बार-बार, प्रभु, सूर के नयन है रहें, नरदेह पाऊँ ॥
(२) सूर कहै द्विविध आँधरो बिना मोल को चेरो।
(३) सूर कूर आँधरौ द्वार परयो गाऊँ।
(४) सूरदास की एक आँखि है ताहू में कछु काना।

उक्त उदाहरणों में तीन में श्री सूरदास ने स्वयं अपने को अन्धा कहा है। चौथे उदाहरण में "एक आँखि" होने का अर्थ काना नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि सूरदास के सम्बन्ध में न तो कोई इस प्रकार की जनश्रुति है, न किसी प्रकार की कोई भी साक्षी। सूरदास अन्धे कब हुए इस विषय में जानने का कोई भी साधन नहीं। कुछ समालोचकों ने कुछ पदों के आधार पर यह भी अर्थ लगाने की चेष्टा की है कि सूरदास वृद्धावस्था में शिथिलेन्द्रिय हो गये थे तभी से उनकी दृष्टि भी जाती रही होगी। वे पद ये हैं—

(क) इत उत देखत जन्म गयौ।
या माया झूठी के कारण दुहुँ दृग अंध भयौ ॥
× × ×
(ख) सबै दिन गये विषय के हेतु।
तीनों पन ऐसे ही खोए, केस भये सब सेत।
आँखिन अंध, स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगाजल तजि पियत कूप जल, हरितजि पूजत प्रेत ॥

किन्तु इन पदों को और इन्हीं के समान अन्य पदों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि इनमें सामान्य ढङ्ग से उस समय के जीवन का चित्रण किया गया है, जब मनुष्य बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक निरुद्देश्य जीवन बिताता था और जब उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती थीं तो पश्चाताप करता था। अस्तु, हम प्राप्त प्रमाणों के आधार पर केवल इतना ही कह सकते हैं कि सूरदास अन्धे अवश्य थे किन्तु वे किस अवस्था में अन्धे हुए यह नहीं कहा जा सकता। उनके जन्मान्ध होने की बात प्रमाणों द्वारा पुष्ट नहीं होती क्योंकि ऐसा करने से अपने विश्वास को तर्क और युक्ति की सीमा से बाहर ले जाना होगा। रूप और रंगों का वह सौन्दर्य-पूर्ण संसार, जिसकी सृष्टि सूर ने अपने

काव्य में की है, एक बार प्रत्यक्ष देखे बिना इतना यथार्थ रूप में कैसे चित्रित किया जा सकता था ?

प्रश्न ३—सूरदास जी की रचनाओं पर प्रामाणिकता तथा विषय की दृष्टि से विचार कीजिये ।

या

सूरदास जी की रचनाओं की प्रामाणिकता पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए ।

उत्तर—नागरी प्रचारिणी सभा काशी की खोज-रिपोर्ट के अनुसार सूरदास के १६ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम इस प्रकार से हैं—१—सूरसारावली, २—साहित्य लहरी, ३—सूरसागर, ४—गोवर्धन लीला बड़ी, ५—दशम् स्कन्ध टीका, ६—नागलीला, ७—पद संग्रह, ८—प्राण प्यारी, ९—व्याहलो, १०—भागवत् भाषा, ११—सूर पच्चीसी, १२—सूरदास के स्फुट पद, १३—सूरसागर सार, १४—एकादशीमाहात्म्य, १५—रामजन्म, १६—नल दमयन्ती ।

ये सभी ग्रन्थ सूरदास के नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें से कुछ में सूरदास की प्रिय शैली और विषय की भिन्नता है । इनमें से कई तो सूरसागर के ही कुछ पदों के संग्रह-मात्र हैं । भक्तों ने अपनी सुविधानुसार उन्हें अलग कर रखा है । गोवर्धन लीला बड़ी, दशमुस्कन्ध टीका, नागलीला, भागवत आदि तो सूरसागर के ही भाग हैं । डा० जनार्दन मिश्र ने सूरसागर के उन पदों को प्रक्षिप्त माना है जो सूरश्याम के नाम से आए हैं । यदि यह ठीक मान लिया जाय तो जो ग्रन्थ सूरदास के नाम से मिलते हैं उन्हें सूरदास का कतई नहीं कहा जायेगा । वे ग्रन्थ दो हैं—एकादशी महात्म्य और राम जन्म इसके अतिरिक्त नल-दमयन्ती तथा ब्याहलो भी सूरदास के ही कहे जाते हैं ।

किन्तु डा० मोतीचंद नल-दमयन्ती को सूर का नहीं मानते । ब्याहलो के विषय में भी अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका है ।

अब सूरदास के तीन ही ग्रन्थ शेष रह जाते हैं । सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य-लहरी । इन तीनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ये ग्रन्थ वास्तव में तीन नहीं हैं ।

सूरसारावली—सूरसारावली, जैसा कि उसके नाम से ही पता चलता है, स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर सूरसागर की अनुक्रमणिका है। सम्भव है कि स्वयं सूरदास ने इन पदों की रचना की हो और इन्हें सूरसागर की भूमिका स्वरूप रख दिया हो, किन्तु यदि सारावली और सूरसागर की तुलना ध्यानपूर्वक तथा विस्तार के साथ की जाय तो उसमें ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जो सूरसागर में नहीं हैं। इससे कुछ लोगों को इसके सूरकृत होने में सन्देह है। इसमें कृष्ण की संयोग लीला, वसन्त, हिंडोला और होली आदि के प्रसंग कृष्ण के कुरुक्षेत्र से लौटने के बाद लिखे गये हैं। इसी ग्रन्थ में सूर द्वारा एक लक्ष पद लिखने की बात भी कही गयी है। "ता दिन ते हरि लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द।" अभी इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता संदिग्ध है।

साहित्य लहरी—यह भी सूरसागर का एक अंश सा जान पड़ता है। इसमें सूरसागर के वे पद हैं जिनमें अपेक्षाकृत पाण्डित्य अधिक है। वास्तव में यह एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। इसमें नायिका भेद, अलङ्कार, रस-निरूपण आदि के उदाहरण स्वरूप वहुत से पद उपस्थित किये गये हैं। इसमें अनेक पद दृष्ट-कूट भी हैं। ऐसे ही कुछ दृष्ट-कूट पद सूरसागर में भी हैं। कुछ ऐसे भी पद हैं जो सूरसागर में नहीं मिलते। कृष्ण की बाल-लीला से सम्बन्ध रखने वाले भी बहुत से पद हैं। महाभारत की कथा के भी कुछ प्रसङ्ग इसमें आ गये हैं।

सूरसागर—सूरदास का प्रामाणिक ग्रन्थ वास्तव में यही है। अन्य ग्रन्थ तो इस बृहत् ग्रन्थ की छाया-मात्र हैं। यह एक ग्रन्थ नहीं वास्तव में कई ग्रन्थों का संग्रह है। इसके पूर्वार्द्ध ही में (१) विनय, वैराग्य, सत्संग, गुरु-महिमा सम्बन्धी मौलिक पद, (२) बाल लीला, (३) प्रेम-लीला, (४) दान-लीला, (५) छोटी मानलीला, (६) मानलीला, (७) विरह लीला, (८) दो भ्रमर-गीत, तथा (९) श्रीमद्भागवत कथा का अनुवाद है। इसके उत्तरार्द्ध में नन्द-यशोदा एवं राधा-माधव मिलन सम्बन्धी मौलिक पद मिलते हैं। यह विभाजन भागवत के दशम् स्कन्ध के अनुसार है। इसके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि यह प्रबन्ध काव्य नहीं है। इसमें प्रसंगानुसार कृष्ण लीला सम्बन्धी भिन्न

भिन्न पद संग्रहीत हैं। इसमें कृष्णलीला के प्रेममय स्वरूप का चित्रण किया गया है, महाभारत के कर्मयोगी एवं राजनीतिज्ञ कृष्ण का नहीं। इसका कारण यह है कि सूरदास पुष्टिमार्गी थे इसलिये उन्होंने कृष्ण का प्रथम रूप ही चित्रित किया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल भी अनिश्चित है। विद्वानों ने इसका रचना-काल सं० १५७६-१६०७ माना है। इसमें कुल बारह स्कन्ध-हैं। कुछ लोग इसमें बारह स्कन्ध देखकर इसे भागवत् का अनुवाद कहते हैं पर यह ठीक नहीं, क्योंकि समस्त भागवत की कथाओं का समावेश इसमें नहीं हुआ; फिर भी हमें इस विषय पर सूरसागर में सूरदास जी का निम्न कथन मिलता है—

व्यास कहे शुकदेव सों द्वादस स्कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाइ॥

इस उल्लेख से यह जान पड़ता है कि सूरदास ने द्वादश-स्कन्ध तक की कथाओं को, जो व्यास जी द्वारा कही गई हैं, गाया है।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि सूरसागर में १२ स्कन्ध हैं। भिन्न-भिन्न स्कन्धों में विभिन्न कथायें हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण दशम स्कन्ध है। यह सूर सागर का प्राण है। इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक की कथा है। भागवत से बहुत कुछ साम्य होने पर भी सूर की मौलिकता के दर्शन इसी स्कन्ध में होते हैं।

समस्त सूरसागर में प्रथम स्कन्ध के विनय सम्बन्धी पद, तथा दशम् स्कन्ध या अन्य स्कन्धों में आए हुए भक्ति और गुरु-महिमा आदि विषयों से सम्बद्ध पद ही मौलिक कहे जा सकते हैं।

प्रश्न ४—क्या सूरसागर भागवत का अनुवाद है? सप्रमाण बताइये। साथ ही सूर की मौलिकता का निर्देश भी कीजिए?

उत्तर—प्राचीन काल से ही लोगों ने सूरदास को भागवत का अनुवाद समझ रखा है। इस धारणा की पुष्टि इस प्रकार होती है कि भागवत में बारह स्कन्ध हैं और सूरसागर में भी बारह ही स्कन्ध हैं। भिन्न-भिन्न स्कन्धों की कथाओं में भी समानता है। अन्तःसाक्ष्य से तो यह बात भी स्पष्ट हो जाती है। सूरदास ने स्वयं कहा है—

श्रीमुख चारि श्लोक दिये, ब्रह्मा को समुझाई।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाई।।
व्यास कहे शुकदेव सों, द्वादस स्कन्ध बनाई।
सूरदास सोई कहै, पद भाषा करि गाई।।
जैसे शुक को व्यास पढ़ायो।
सूरदास तैसे कहि गायो।
× × ×
सूर कह्यो भागवत अनुसार।
× × ×
सूर कहे भागवत अनुसार।

सूरदास द्वारा अपने मुख से ऐसे वचन कहे जाने पर भी सूरसागर व भागवत का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि सूरसागर भागवत् का अनुवाद या भावानुवाद नहीं, किन्तु कवि की अपनी स्वतन्त्र रचना है। सूरसागर के स्कंधों में पद-संख्या देखने से प्रतीत होता है कि उनमें केवल दशम् स्कंध पूर्वार्द्ध की प्रधानता है अर्थात् दशम् स्कंध पूर्वार्द्ध की कथा तो भागवत व सूरसागर दोनों में विस्तार से कही गयी है, परंतु जहाँ भागवत में अन्य स्कंधों की कथाएँ भी विस्तार-पूर्वक हैं, वहाँ सूरसागर में उन कथाओं को बहुत थोड़े पदों में समाप्त कर दिया गया है। भागवत के श्लोकों और सूरसागर के पदों की संख्या का मिलान करने से भी यह बात और स्पष्ट हो जाती है। सूरसागर में दशम स्कंध के बाद पद संख्या में प्रथम व नवम् स्कंध ही बड़े हैं, शेष स्कन्धों की पद संख्या कुल मिलाकर १०९ है, जो नवम् स्कन्ध की पद संख्या से भी कम है, पर भागवत् के श्लोकों की संख्या में इतनी विषमता नहीं। इस तुलना से अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि वास्तव में सूरसागर भागवत का अनुवाद है तो भी सूरदास ने दशम् स्कन्ध की कथा छोड़कर अन्य स्कन्धों की कथाओं को भागवत की तुलना में बहुत संक्षेप से लिखा है।

भागवत का मुख्य विषय भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन है। इसके द्वारा भागवतकार भगवान की अपरिमित शक्ति दिखाना चाहते हैं। दशम् स्कन्ध के अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से यह पता चलता है कि कृष्णावतार

पर उनका विशेष मोह है। भागवतकार ने विष्णु के समस्त अवतारों में राम व कृष्ण के अवतार को प्रमुख माना है; यद्यपि अन्य अवतारों की कथा भी कही गई है। यद्यपि सूरसागर में भी अवतारों के उपस्थित करने का वही क्रम है जो भागवत् में है, तथापि राम व कृष्ण अवतारों के अतिरिक्त अन्य अवतारों का उल्लेख नाममात्र के लिए ही किया गया है। रामावतार की कथा सूरसागर में भागवत की अपेक्षा अधिक विशद् रूप से वर्णन की गई है। दशम् स्कन्ध के उत्तरार्द्ध की कथायें दोनों में बहुत-कुछ मिल जाती हैं, किन्तु सूरसागर में यह कथा केवल १३८ पदों में बहुत संक्षेप में कही गई है और भागवत में यही कथा ४१ अध्यायों में कही गई है। भागवत में ऐसे अनेक मनोहारी स्थल नहीं हैं जो सूरदास की मौलिक कल्पना है। सूरसागर का प्रायः सारा विस्तार दशम् स्कन्ध पूर्वार्द्ध में समाप्त हो जाता है।

इस तुलना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सूरसागर का सबसे महत्व-पूर्ण भाग दशम् स्कन्ध पूर्वार्द्ध है। इसमें कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा जाने और वहाँ से उद्धव को ब्रज भेजने और गोपियों का समाचार जानने तक की कथा है। परन्तु यह पहले भी कहा जा चुका है कि इस भाग में कृष्ण का जो चित्रण हुआ है वह भी भागवत के इस भाग से बहुत भिन्न है। भागवत के कृष्ण शक्तिशाली हैं। स्थान-स्थान पर उनका वही रूप दिखाने का प्रयत्न किया गया है। उसमें कृष्ण की अलौकिक लीलायें ही अधिक हैं, लौकिक कम।

वैसे भी सूरसागर को भागवत का अविकल अनुवाद नहीं कहा जा सकता। वह एक स्वतंत्र रचना है। 'बालिका राधा' के बालक कृष्ण के साथ खेलने के प्रसङ्ग और भ्रमरगीत की व्यंगमयी उक्तियाँ भागवत में ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेंगी। भागवत में उद्धव की कथा आती अवश्य है पर उनके गोकुल पहुँचने पर गोपियाँ उन्हें चिढ़ाती नहीं। वे जो कुछ कहते हैं गोपियाँ उसे चुपचाप सुन लेती हैं। उद्धव द्वारा कृष्ण का संदेश पाकर उनकी विरह व्यथा शान्त हो जाती है। भागवत में कृष्ण के प्रति दिये गये उनके उलाहने भी उतने तीव्र नहीं, जितने कि सूरसागर में हैं। निर्गुण तथा सगुण का झमेला भी भागवत में नहीं दिखाई देता, जो सूरसागर के भ्रमरगीत का प्रधान अंग है। इसके अतिरिक्त भागवत सर्ग, प्रति सर्ग में विषयों का वर्णन करता हुआ भक्ति क

मूर्द्धन्य बना देता है, पर सूरसागर में मुख्य रूप से राधा-कृष्ण लीला को ही प्रधानता दी गई है।

हमारा यह निश्चित मत है कि सूरसागर भागवत का अविकल अनुवाद नही है। उसे स्वतन्त्र अनुवाद भी नहीं कहा जा सकता। सूरसागर के कुछ स्कन्धों में, विशेषकर पहले और दूसरे में, सूरदास ने माया, भक्ति, गुरु-महिमा आदि प्रसंग अपनी ओर से जोड़ दिये हैं। इनके अतिरिक्त सूरसागर में मंगला-चरण व प्रस्तावना को कोई स्थान नहीं। यहाँ तक कि वे भी पद इसमें हैं जो उन्होंने आचार्य महाप्रभु से मिलने से पूर्व लिखे थे। इसके अतिरिक्त सूरसागर में अनेक स्थानों में एक ही कथा की पुनरुक्ति भी है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सूरदास ने भागवत का आधार केवल आंशिक रूप में कथा प्रसंगों के मूल के रूप में लिया है। हाँ, दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त उन्होंने अन्य स्कन्धों में अवश्य ही भागवत का आधार लिया है—परन्तु अनुवाद वह भी नहीं है। वैसे श्रीमद्‌भागवत का उसमें इतना ही आधार लिया गया है, जितना कृष्ण की ब्रज-लीला की रूपरेखा बनाने के लिए आव-श्यक था। इसके अतिरिक्त उसमें—ऊपर कहे गए विवरण के अनुसार अनेक नवीन प्रसंगों की अवतारणा है तथा उनकी प्रकृति भावना-समन्वित काव्य की है, न कि पुराण रचना की। अतः उसमें भागवत के कितने ही प्रसंग, विवरण और सिद्धान्त छोड़ दिये गये हैं। भागवत का आधार लेते हुए भी यह कृति सूर की मौलिक कृति प्रमाणित होती है।

अन्त में यह कहना भी आवश्यक है कि सूरसागर के मौलिक व महत्वपूर्ण भाग प्रथम स्कन्ध के वे पद हैं जो विनय के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा सम्पूर्ण दशम् स्कन्ध पूर्वार्द्ध एवं अन्य स्कन्धों में बिखरे हुए भक्ति, गुरु-महिमा आदि विषयों के पद हैं। वास्तव में ये ही अंश सूरसागर के प्रधान अंग कहे जा सकते हैं जो मौलिकता, रसात्मकता और भक्ति-भावना के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

प्रश्न ५—साहित्य-लहरी के विषय का विश्लेषण करते हुए सिद्ध कीजिए कि वह सूर की रचना है।

उत्तर—सूरदास की तीन प्रमुख रचनाओं में से एक साहित्य-लहरी भी

है। अनेक विद्वान उसको सूरदास के दृष्टिकूट पदों का संग्रह मानते हैं पर उपसंहार के पदों को छोड़ कर साहित्य-लहरी का शेष सम्पूर्ण भाग स्वतन्त्र रचना ही है। इसके विषय सूरसागर से भिन्न हैं। साहित्य-लहरी के विषयों में भी कोई तारतम्य नहीं दिखाई देता। उसमें कृष्ण की बाललीला से सम्बन्ध रखने वाले पद भी हैं और नायिका भेद के रूप में राधिका के मान आदि का भी वर्णन है। उसमें वियोगिनी प्रोषितपतिका का भी वर्णन है और संयोगिनी विलासवती स्त्री का भी। इसी प्रकार स्वकीया, परकीया, मुग्धा, प्रौढ़ा, धीरा, ज्येष्ठा, विदग्धा आदि नायिकाओं का भी वर्णन पाया जाता है। इसी के साथ साथ दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, प्रस्तुत आदि अलंकारों का भी क्लिष्ट शब्दों में जानबूझकर उल्लेख किया गया है। पद संख्या ७४-७५ में महाभारत की कथा के कुछ प्रसंग भी आये हैं।

साहित्य-लहरी के पद दृष्टिकूट कहलाते हैं। दृष्टकूटों में यमक, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग है, जिससे अर्थबोध में कठिनाई आती है। इसके अतिरिक्त इनमें कुछ ऐसे भी शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो साहित्य के विशेष अर्थों में रूढ़ हो गए है। जैसे—'दधिसुत' का अर्थ 'चन्द्रमा', और 'शैलतनया' का अर्थ 'पार्वती'। साहित्यलहरी के दृष्टिकूटों में यमक का एक उदाहरण देखिए—

सारङ्ग समकर नीक-नीक सम सारङ्ग सरस बखानै।
सारङ्ग बस भय, भय बस सारङ्ग, विषमै सारंग मानै॥

इस प्रकार साहित्य-लहरी में साहित्य-प्रणयन ही अधिक है। उसके प्रत्येक पद में किसी न किसी अलङ्कार का निर्देश अवश्य है। अलङ्कारों की यह परिपाटी हिन्दी में चन्दबरदाई से ही चल पड़ी थी। 'महापात्र विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण से रस-भेद के साथ नायिकाभेद भी प्रारम्भ हो गया था। साहित्यलहरी में ये दोनों बातें विद्यमान हैं। गुह्य बातों को दृष्टकूट के रूप में प्रकट करने की प्रणाली भी पुरानी है। विद्यापति की पदावली में भी कुछ दृष्टकूट हैं।

सूर की सभी रचनाएँ माधुर्य-रस प्रधान हैं। यह गोपनीय रस है। साधारण जनता में पहुँचकर यह भी तन्त्रसम्प्रदाय की भाँति अनाचार का प्रसार कर

सकता है। अतः माधुर्यरसमयी रचना सर्वसाधारण के लिए अहितकर सिद्ध न हो, इसके लिए आचार्यों ने कहीं-कहीं उसको दृष्टकूटों का वेष पहना दिया है। सामान्य पाठक रचनाओं का अर्थ नहीं समझेंगे, फिर अनाचार की सृष्टि कैसी ? केवल अधिकारी व्यक्ति इसे समझ सकते हैं और वे ही अलौकिक रस का आस्वादन भी कर सकते हैं।

कुछ लोग, जिनमें डा० व्रजेश्वर वर्मा प्रमुख हैं, साहित्य-लहरी को सूर की रचना नहीं मानते। इस विषय में उनके मुख्य तर्क हैं, कि—

१—सूरदास जैसे विरक्त महात्मा व सिद्ध कोटि के ज्ञानी भक्त को अपनी वृद्धावस्था में इस प्रकार के काव्य-साहित्य के आश्रय लेने की क्या आवश्यकता थी ?

२—जब इसमें राधा के नख-शिख का वर्णन नहीं, तब इसे दृष्टकूट शैली में रचने की क्या आवश्यकता थी ?

३—सूरसागर आदि वृहद ग्रन्थ में जब उन्होंने रचना-काल ही नहीं लिखा, तब ऐसे एक असफल प्रयत्न में सम्वत् आदि देने की क्या आवश्यकता हुई ?

इन तीनों प्रश्नों पर विचार करते समय हमको पुष्टिसम्प्रदाय की भक्ति-प्रणाली तथा उसके सिद्धान्त को जान लेना आवश्यक है। पुष्टि सम्प्रदाय में भगवान को श्रुति के प्रमाण—रसोवैसः—के अनुसार रसात्मक माना गया है एवं ब्रह्माण्ड में जहाँ कहीं भी आनन्दरस की अभिव्यक्ति है, उसे भगवत्‌रूप ही माना गया है। श्री शुकदेवजी ने भागवत् में कहा है कि "सर्वाः शरत्काव्य कथा रसाश्रया" अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी लीलाएँ काव्य शास्त्रोक्त प्रकार से भी की है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भी अपनी सुबोधिनी पुस्तक में उक्त पद्यांश का यही अर्थ किया है। सूरदास जी ने भी भागवत् के उक्त श्लोक के स्पष्टीकरण एवं विशदीकरण में ही समस्त साहित्य-लहरी का निर्माण किया है। अतएव इसमें नायिका भेद का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

इस पुस्तक का नाम साहित्य का सूचक है, फिर भी यह भक्ति की उच्चतम भावनाओं से अनुप्राणित है। इससे कवि का उद्देश्य केवल भगवान की रहस्य-मय लीलाओं का गान-मात्र करना था, साहित्यिक नेतृत्व नहीं। दूसरी बात

यह है कि इन पदों में काव्योक्त कृष्ण लीलाएँ होने से उन्हें गूढ़ रखना आवश्यक था, अतः इनमें प्राप्त नायिकाओं के उल्लेखों में भी कुछ गूढ़ता लाई गई है जिसके कारण नख-शिख का वर्णन न होते हुए भी इसमें दृष्टकूट शैली की नितान्त आवश्यकता थी।

डा० वर्मा का साहित्य लहरी को सूरदास की रचना न मानने के कारण का उत्तर यह है कि—श्रीमद्‌भागवत की कथाओं का अनुवादात्मक सूरसागर सूरदास की परतन्त्र रचना है। इसमें किसी न किसी अंश में भागवत् की कथाओं का अनुसरण है। अतः यह स्वतन्त्र रचना नहीं है। फिर इस रचना के अनन्तर ही इसके तत्व रूप से सूरदास ने सूरसारावली की सैद्धान्तिक रचना की थी। इसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी ६७ वर्ष की आयु का उल्लेख कर दिया है।

"गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरष प्रवीन।
शिव विधान तप करेउ बहुत दिन तऊँ पार नहिं लीन॥"

इसके द्वारा सूरसागर का भी रचना-काल जाना जा सकता है।

डा० वर्मा ने एक आपत्ति और भी उठाई है कि चौरासी वैष्णवन की वार्ताओं में साहित्यलहरी का कोई उल्लेख नहीं। इसीलिए भी हम इसे सूर की रचना नहीं मानते। किन्तु यदि वार्ताओं का गम्भीर अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि समस्त वार्ता-साहित्य कथा प्रसंग के रूप से कहा गया है, ऐतिहासिक शैली में नहीं। अतः यदि उसमें साहित्यलहरी का नाम नहीं आया तो उसको हम अप्रामाणिक नहीं कहेंगे। इसके विपरीत साहित्यलहरी की दृष्टकूट शैली और सूरसागर की दृष्टकूट शैली, वर्ण-विषय व भाषा आदि की दृष्टि से परस्पर मिलती है। कुछ उदाहरण देखिये—

(क) ग्रह नक्षत्र अरु वेद अधर करि, खात हरष मन बाढ़ौ॥

—साहित्यलहरी

ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध करि, को बरजै हमें खात॥

—सूरसागर

(ख) जबतें हौं हरि रूप निहारो।

तबसे कहा कहौं री सजनी; लागत जग अँधियारो ॥

—साहित्यलहरी

जबते सुन्दर बदन निहारो ।

ता दिन ते मधुकर मन अटक्यो बहुत करी निकरै न निकारो ॥

—सूरसागर

(ग) पिय बिन बहुत बैरिन बाय ।

मदन वान कमान लायो करषि कोप चिढ़ाय ॥

—साहित्यलहरी

पिय बिनु नागिन कारी रात ।

कबहुँक जामिनि होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात ॥

—सूरसागर

साहित्यलहरी व सूरसागर के पद-साम्य व भाव-साम्य के ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि ये दोनों रचनायें एक ही कवि की हैं। उक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो गया है कि साहित्यलहरी के लेखक भी महाकवि सूरदास जी ही हैं। इसके विषय में अन्यथा सम्भावना नहीं की जा सकती।

प्रश्न ६—'भ्रमरगीत' के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए सूर के भ्रमरगीत पर एक विद्वतापूर्ण लेख लिखिए।

उत्तर—(भ्रमरगीत सूरसागर का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। उसमें काव्य और दार्शनिक दोनों पक्षों की पुष्टि होती है। काव्य और रस की दृष्टि से सूरसागर का यह अंश व्यंजना, माधुर्य और वियोग शृंगार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।)

भ्रमरगीत प्रसंग के सर्वप्रथम दर्शन हमें श्रीमद्‌भागवत में होते हैं। उसके अन्तर्गत वह इस प्रकार है कि श्रीकृष्ण कंस के निमन्त्रण पर अक्रूरजी के साथ मथुरा चले गए। वहाँ कंस को मारकर उन्होंने अपने पिता वसुदेव का उद्धार किया। उनको मथुरा में आए काफी दिन हो गए, वे अवधि बीत जाने पर भी गोकुल न गए। इसी बीच कंस की कुब्जा नाम की एक दासी को कृष्ण ने उसकी सेवा से प्रसन्न हो अपने प्रेम की अधिकारिणी बनाया। तब नन्द, यशोदा आदि बहुत दुखी हुए। उन गोपियों का तो कहना ही क्या जिनके साथ

उन्होंने इतनी प्रेम लीलाएँ की थीं। बहुत दिन बाद श्रीकृष्ण ने गोपियों को ज्ञानोपदेश द्वारा समझाने-बुझाने के लिए अपने सखा उद्धव को ब्रज भेजा। उद्धव को ही क्यों भेजा ? इसका कारण यह था कि उद्धव को अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था। कृष्ण द्वारा उनको गोपियों के पास भेजे जाने का यह अभिप्राय था कि वे उनकी प्रीति की गूढ़ता और तन्मयता देखकर शिक्षा ग्रहण करें और सगुर्ण भक्ति मार्ग की सरसता और सुगमता के सामने उनका ज्ञान का गर्व दूर हो जाय—

जदुपति जानि उद्धव रीति।
जेहि प्रगट निज सखा कहियत करन भाव अनीति॥
बिरह दुख जहँ नाहिं जानत नाहिं उपजत प्रेम।
रेखरूप न बरन जाके यह धर्यो वह नेम॥
त्रिगुण तन करि लखत हमको, ब्रह्म मानत और।
बिना गुण क्यों पुहुमि उधरै यह करत मन डौर॥
विरह रस के मंत्र कहिए क्यों जलै संसार।
कछु कहत यह एक प्रकटत, अति भरयौ हंकार।
प्रेम भजन न नेकु याके, जाय क्यों समझाय ?
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहि देहुँ पठाय॥

"त्रिगुण तनकर लखत हमको, ब्रह्म मानत और" श्रीकृष्ण उद्धव इसी भ्रम का निवारण करना चाहते थे। उद्धव बात-बात में "एक प्रगटत"—द्वैतवाद का राग अलापते थे; पर "विरह-रस के मन्त्र कहिए क्यों चलै संसार ?"—रसरहित उपदेश से संसार भला कैसे चल सकता है। बिना रस के उपदेश कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकते। यही दिखाने के लिए भ्रमरगीत की रचना हुई है।

उद्धव ब्रज में आये, उनके आते ही सारे ब्रजवासियों ने उन्हें घेर लिया। वे नन्द-यशोदा से संदेश कह चुकने के अनन्तर गोपियों की ओर मुड़ कर कृष्ण के संदेश के रूप में चर्चा छेड़ते हैं। इसी बीच एक भौंरा उड़ता-उड़ता गोपियों के पास आकर गुनगुनाने लगता है, तो गोपियाँ उसी भ्रमर को सम्बोधित करके जो मन में आता है, कहने लगती हैं—

"पूछन लागीं ताहि गोपिका 'कुब्जा तोहि पठायो'।
कैंधों सूर श्याम सुन्दर को हमें संदेसो लायो?"

इसी प्रकार इस प्रसंग का नाम भ्रमरगीत पड़ा है। उद्धव उनके प्रेम भरे उलाहनों को सुनता है और तब उसका ज्ञान का गर्व नष्ट हो जाता है—वह विराग की तूमड़ी में प्रेम का रस भर लेता है।

सूरदास ने तीन भ्रमरगीत लिखे हैं। एक भ्रमरगीत तो भागवत का अनुवाद है, किन्तु उसमें ज्ञान वैराग्य की चर्चा होते हुए भी अन्त में भक्ति की विजय दिखाई गई है। यह भ्रमरगीत चौपाई छन्दों में है। अन्य दो पदों में है। प्रथम दो भ्रमरगीतों में भ्रमर के आने का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता, केवल मधुकर नाम से ही उद्धव को उपालम्भ दिया गया है। तीसरा भ्रमरगीत ही सब में श्रेष्ठ है। इसमें भौंरा भी आता है और तब गोपियाँ उसे लक्ष्य कर कृष्ण व उद्धव को खरी-खोटी सुनाती हैं।

भागवत् में भी भक्ति की महिमा अवश्य गाई गई है पर ज्ञान के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं कहा गया। वहाँ भगवान का संदेश इन गोपियों को शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ और वे उसी में लीन हो गई। भ्रमरगीत में भक्ति पर ज्ञान की विजय दिखाई गई है; किन्तु सूरदास की भ्रमरगीत की समस्त धारा सगुणोपासना की ओर ही प्रवाहित हो रही है। गोपियाँ कहती हैं—

सूरदास या निर्गुण सिन्धुहि कौन सकै अवगाहि।

× × ×

मुक्ति रहो घर बैठ आपने। निर्गुण सुनत दुख पाये।

× × ×

कौन काज या निर्गुण सों चिरजीवहु कान्ह हमारे।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि भागवत् के भ्रमरगीत में कहीं भी गोपियों को व्यंग्यार्थ प्रयोग करने का अवसर नहीं मिला। सूरदास इस दृष्टि से मौलिक हैं। उन्होंने इसके लिए कंस के दरबार में विद्यमान कुब्जा को चुना है।

इस प्रकार सूर के भ्रमरगीत से स्पष्ट मालूम देता है कि वे निर्गुण की अपेक्षा सगुण का महत्व प्रतिपादित करना चाहते थे। इसका यह अभिप्राय

नहीं कि सूर ज्ञान-मार्ग से अनभिज्ञ थे। उन्होंने निराकार ब्रह्म की महत्ता "अवगति गति कछु कहत न आवै" या "अविगत गति जानी न परै" कह कर स्वीकार की है। भ्रमरगीत में सूरदास जी ने ज्ञान को निस्सार बताने की चेष्टा की है और उसके लिए आधार बनाया है गोपियों को।)

इतना जान लेने के बाद हम थोड़ा सा सूर के इस परमोत्कृष्ट उपालम्भ काव्य का कुछ रसास्वादन भी करेंगे। उद्धव गोकुल आये और उन्हें देखते ही गोपियों को कृष्ण-मिलन का सा सुख हुआ—

> ऊधो ! पा लागों भले आये।
> तुम देखे जनु माधव देखे, तुम त्रयताप नसाये॥

प्रिय के सम्बन्ध मे बहुत सी बातें प्रिय लगती हैं; यही बात स्वाभाविक रूप में उक्त पद में दिखाई गई है। उद्धव के हाथ से श्याम की पत्री राधा अपने हाथ में लेती हैं और—

> "निरखत अङ्क श्यामसुन्दर के बार-बार लावति छाती।"

फिर गोपियाँ कहती हैं—

> संदेसन मधुवन कूप भरे।
> जो कोई पथिक गये हैं ह्याँ ते फिर नहीं गवन करे।
> कै वे श्याम सिखाय समोधे, कै वे बीच मरे ?
> अपने नहिं पठवत नन्दनन्दन हमरेउ बीच धरे।
> मसि खूँटी, कागद जल भीजे, शरदव लागि जरे।

गोपियों को इस बात पर झल्लाहट है कि जो कोई भी यहाँ से संदेशा लेकर गया वह लौटा नहीं। कृष्ण की कोई चिट्ठी भी तो नहीं आती। मथुरा की सारी स्याही सूख गई है, कागज भीग गया है और कलम भी जल गई है।

ज्यों ही उद्धव अपनी ज्ञान की बातें कहना आरम्भ करते हैं त्योंही गोपियाँ विषयान्तर होने से सकपका कर पूछती हैं—

> हमसों कहत कौन की बातें ?
> सुनि, ऊधौ हम समुझति नाहीं, फिर फिर बूझति तातें।

फिर वे उद्धव को बनाने लगती हैं, उनसे परिहास करती हैं और कहती हैं,

ऊधो ! जान्यो ज्ञान तिहारो।
जाने कहा राजगति लीला अन्त अहीर बिचारो।
आवत नाँहि लाज के मारे, मानहु कान्ह खिसान्यो।
हम सबै अयानीं, एक सयानी कुब्जा सों मन मान्यो।
ऊधो जाहु बाँह धरि ल्याओ सुन्दर श्याम पियारो।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो।।

उद्धव अपनी बात कहे जाते हैं, पर गोपियाँ विश्वास ही नहीं करतीं कि यह श्याम का संदेश है। वे उनसे कहती हैं—

ऊधो ! जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यौ है नन्द कुमार।
यह न होव उपदेश स्याम को कहत लगावन छार।।" ।

कभी कहती हैं—

श्याम तुम्हें ह्याँ नाँहि पठाये तुम हो बीच भुलाने।

फिर कहती हैं—

मधुकर जाने है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुन हौ दोऊ।
पाके चोर हृदय के कपटी, तुम कारे औ बोऊ।।

गोपियाँ उद्धव को कभी भोला सा व्यक्ति समझकर अनुमान करती हैं कि कहीं कृष्ण ने इनके हाथ सन्देशा भेज हँसी न की हो। अतः ये पूछती हैं—

ऊधो ! जाहु तुम्हें हम जाने।
× × ×
साँच कहो तुमको अपनी सो बुझति बात निदाने।
सूर श्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुस्काने ?

उद्धव सच बताओ जब कृष्ण ने तुम्हें भेजा तब क्या वे थोड़ा-सा मुस्काये थे ? भाव यह है कि तुम कहीं बुद्धू तो नहीं बनाये गये ?

गोपियाँ उद्धव के ज्ञान की कद्र भी करती हैं।

(कुछ लोग ऐसी वस्तु ढोए फिरते हैं, जिसे बहुत से लोग निकम्मी समझते हैं। लोग उसे बेवकूफ समझकर ही नहीं रह जाते, अपितु उसे बनाने में भी अपनी पूरी कल्पना खर्च कर देते हैं। बेवकूफी पर हँसने की प्रथा पुरानी है।) लोग बना बनाया बेवकूफ पर हँसते भी हैं और हँसने के लिए उसे बेवकूफ

बनाते भी हैं। हास की प्रेरणा ही कल्पना को मूर्ख का स्वरूप जोड़ने और वाणी को कुछ चटपटी रचना करने में तत्पर करती है। गोपियाँ कुछ इसी प्रेरणावश उद्धव से निम्नलिखित बात उस समय कहती हैं, जब वे घबराकर उठने को तैयार होते हैं—

ऊधो ? जोग बिसरि जनि जाहू।
बाँधहु गाँठ, कहूँ जनि छूटै, फिर पाछे पछिताहू॥
ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर ! मरम न जाने और।
ब्रजवासिन के नाहिं काम की तुम्हरे ही है ठौर॥

कभी-कभी गोपियों की चित्तवृत्ति अत्यन्त करुण हो जाती है और वे कहती हैं—

ऊधो ! हम हैं तुम्हारी दासी।
काहे को कटु वचन कहत हो करत आपनी हाँसी॥

कभी वे अपने दुख का वर्णन करती हैं—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषम ज्वाल की पुंजें।

जब वे अपना दुःख कहते-कहते थक जाती हैं तो गौओं व नन्द यशोदा के दुःख का वर्णन करती हैं—

ऊधो ! इतनी कहिये जाय।
अति कृश गात भईं ये तुम बिन परम दुखारी गाय॥
जल समूह बरसति दोऊ नैना हूँकति लीन्हें नाँव।
जहाँ-जहाँ गो दोहन कीन्हों सूँघति सोई ठाँव॥

कभी राधा सोचती हैं मैंने कृष्ण को देखकर एक दिन मान किया था, शायद उसी से वे नाराज हो गये हों—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिख राखीं जे नन्दलाल कहीं॥

गोपियों के हृदय को वियोग कभी-कभी ऐसा कोमल, उदार और सहिष्णु बना देता है—

फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ।
बहुरि तुमहि न जगाय पठवौं गोधनन के साथ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ, देहुँ देन लुटाय।
कबहुँ न देहौं उरहनों जसुमति के आगे जाय॥

इतनी दुःखी होने पर भी वे कृष्ण का स्मरण तो करती ही हैं, कृष्ण के प्रेम को ही सर्वस्व समझती हैं। उद्धव उन्हें ज्ञान देते हैं पर वे यही कहती हैं—

मधुकर ! कौन मनायो माने ?
सिखहु तिनहि समाधि की बातें जे हैं लोग सयाने।
हम अपने ब्रज ऐसेहि बसि हैं विरह बाय बौराने॥

उद्धव जब बार-बार उन्हें योग-साधना का ही उपदेश देते हैं तो वे बड़ी चतुरता से उत्तर देती हैं—

ऊधो ! मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग को आराधै ईस॥

मन तो एक था, उसको तो कृष्ण ले गए, अब ईश्वर की आराधना कौन करे ? और अब दुःख तो इसी बात का है कि कृष्ण मन को भी साथ लेकर चले गये—

ऊधो ! मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि सङ्ग लै गये मथुरा जबै सिधारे॥

नहीं तो भला हम तुम्हारे योग को छोड़ देती ? तुम तो उसे प्रेम से लाये थे। इस प्रकार उन्होंने योग सीखने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

उद्धव उनसे कहीं ये न कहें कि कि "जब मैं दवाई दे रहा हूँ जिससे कि वियोग का पल्ला छूट जाय तो तुम फिर भी क्यों कृष्ण प्रेम में ही फँसी हो" तो गोपियाँ कहती हैं—

ऊधौ ! मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृतफल विष कीरा विष खात॥
× × ×
जरत पतङ्ग दीया में जैसे और फिर-फिर लपटात॥

भ्रमरगीत में जहाँ स्मरण आदि की भावनाएँ आई हैं वैसे ही "असूया" भाव की बड़ी वक्रतापूर्ण व्यंजनाएँ मिलती हैं। जब उद्धव कृष्ण का सन्देश

कह अपनी ज्ञान-चर्चा छेड़ते हैं तभी गोपियाँ कहती हैं कि यह कृष्ण का सन्देश नहीं जान पड़ता। यह तो कुबड़ी पीठ वाली की कारस्तानी मालूम देती है—

मधुकर ! कान्ह कही नहिं होही।
यह तो नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोहीं।
सचि राखी कूबरी पीठ पै ये बातें चकचौहीं॥

फिर वे "असूया" का भाव इन स्पष्ट शब्दों में प्रकट करती हैं कि इस समय कृष्ण की चहेती कुब्जा का ही जीवन सफल है—

जीवन मुँहचाही को नीको।
दरस-परस दिन-राति करति है कान्ह पियारे पी-को।

गोपियाँ राधा को सम्बोधित करके वाग्वैचित्र्य से कहती है—

मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या ब्रज बस अँचै, तुम बैठी, ता बिनु तहाँ निरूप॥

अरी ! कृष्ण का रूप तो तुम पी गई हो, अतः वह उसके बिना वहाँ निरूप—निराकार—हो रहे हैं। राधा भी इसी बाँकेपन से कृष्ण के हृदय से न निकलने का कारण बताती है—

उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो ! तिरछे ह्वै जु अड़े॥

कृष्ण की मूर्ति हृदय में तिरछी होकर अड़ गई है, निकले तो कैसे ?

सूर ने अपने सिद्धान्त पक्ष का जो काव्यात्मक निरूपण किया थोड़ा उसे भी देख लेना चाहिए। उद्धव के ज्ञान-योग-की पूरी वक्तृता सुन कर और उसे अपने सीधे-सादे प्रेम मार्ग की अपेक्षा कहीं अधिक दुर्गम और सुबोध कर गोपियाँ कहती हैं—

काहे को रोकत मारग सूधौ ?
सुनहु, मधुप ! निर्गुन-कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधौ।

प्रश्न ७—'भ्रमरगीत' की व्याख्या करते हुए उसके अर्थ-विस्तार की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।

'भ्रमरगीत' शब्द की व्याख्या—

'भ्रमरगीत' शब्द 'भ्रमर' एवं 'गीत' शब्दों के योग से बना है। 'भ्रमर' श्याम वर्ण का एक लघु, उड़ने वाला जीवधारी होता है, जिसे मधुव्रत, मधुकर,

मधुप, अलि, द्विरेक, षटपद, चंचरीक, अलिन्द, सारंग, भृंग, भौंरा आदि अन्य अनेक नामों से भी पुकारते हैं। इस जीवधारी का रंग श्याम-काला होता है, उसके शरीर पर पीत चिह्न होता है तथा उड़ने के लिये पंख होते हुए भी उसके षट् पद होते हैं। दूसरा शब्द 'गीत' गान का पर्याय है। इस प्रकार 'भ्रमर-गीत' का शाब्दिक अर्थ हो सकता है—भ्रमर का गान, भ्रमर-सम्बन्धी गान अथवा भ्रमर को लक्ष्य करके लिखा गया गान।

'भ्रमरगीत' का उपर्युक्त अर्थ सामान्य कोटि में आता है। साहित्य में इस शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में होता है। उस अर्थ का सम्बन्ध राधा और गोपियों के आराध्य एवं नन्द-यशोदा के वात्सल्य-पात्र श्रीकृष्ण तथा उनके ज्ञान-मूढ़ सखा उद्धव से है।

भ्रमरगीत का अर्थ-विस्तार

'उद्धव' का वर्ण काला था। वे योगी थे, अतः पीत वस्त्र धारण करते थे। इस प्रकार भ्रमर से उनका वर्ण एवं वेश का साम्य था। अन्तर्मुखी साधना में रत रहकर वे कमल-संपुट में बन्द हो मौन समाधि लगाने वाले भ्रमर की समानता प्राप्त कर चुके थे। अतः कवि-प्रतिभा के माध्यम से वे "भ्रमर" के प्रतीकार्थ में सम्मिलित हो गए।[1] इस प्रकार 'भ्रमरगीत' का अर्थ हुआ उद्धव को लक्ष्य करके लिखा गया 'गान'।

किन्तु 'भ्रमरगीत' का अर्थ यहीं तक सीमित न रहा। 'उद्धव' से आगे बढ़कर कवि-प्रतिभा ने श्रीकृष्ण में भी भ्रमर का वर्ण-वेश-साम्य खोज निकाला। श्रीकृष्ण का वर्ण श्याम माना गया है, जो भ्रमर से मिलता है। वे पीताम्बर धारण करते थे और भ्रमर के अंग पर भी पीत चिन्ह होता है। वे स्व-कण्ठ से वंशी की मधुर ध्वनि उत्पन्न कर रसिकों का मन मुग्ध किया करते थे और भ्रमर भी स्व-गुंजन से सबका मन मोहित करता है। श्रीकृष्ण राधा एवं गोपियों का प्रेम छोड़कर मथुरा चले गये थे; भ्रमर भी एक पुष्प का प्रेम ठुकराकर दूसरे पुष्प पर जा बैठता है। इस प्रकार दोनों ही भ्रमणशील माने

मधुकर ! जानत है सब कोऊ।
जैसे तुम औ मीत तुम्हारे गुननि निपुन हौं दोऊ।
पाके चोर हृदय के कपटी, तुम कारे अरु बोऊ॥

गये हैं। 'भ्रमर' यदि पुष्प-रस चुराता है, तो श्रीकृष्ण ने भी गोकुल में गोरस की चोरी की थी। पुष्पों का प्रेमी होने के कारण यदि भ्रमर कपटी एवं शठ है, तो श्रीकृष्ण का श्रम-चांचल्य एवं शठ-नायकत्व भी उससे कुछ कम न था। अतः कवियों की अद्भुत सूझ पर उन्हें भी भ्रमर के प्रतीकार्थ में सम्मिलित कर दिया—

> कोउ कहै री ! मधुप भेष उनही को धार्‌यौ ।
> स्याम पीत गुंजार बैन किंकिन झनकार्‌यौ ॥
> वापुर गोरस चोरि कै आयो फिरि यहि देस ॥
> इनको जनि मानहु कोऊ, कपटी इनको भेस ॥
> चोरि जनि जाइ कछु ॥

तथा—

> मधुकर काके मीत भये ।
> द्यौस चारि करि प्रीत सगाई, रस लै अनत गये ।
> ढहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखंड और ठये ॥
> चाड़ै सरे चिन्हारी मेटी, करत हैं प्रीति नये ।
> चितहि उचाटि मेलि गए रावल, मन हरि हरि जु लए ॥
> सूरदास प्रभु दूत धरम तजि विष के बीज बये ॥

इस प्रकार 'भ्रमर' का प्रतीकार्थ 'उद्धव' एवं 'श्रीकृष्ण' तक विस्तृत हुआ तथा 'भ्रमरगीत' श्रीकृष्ण एव उद्धव सम्बन्धी गान का सूचक बना। इधर भ्रमर भी, अपना प्रतीकार्थ देकर भी, उस 'गान' में पूर्णतः मुक्त नहीं हो सका। उसके माध्यम से बाह्य प्रकृति भी 'भ्रमरगीत' की भाव-सीमा में सम्मिलित हो गई।

डा० सत्येन्द्र ने 'भ्रमर' शब्द का 'भ्रम में पड़ा हुआ' या 'भ्रम में डालने वाला' प्राणी अर्थ भी लगाया है। भ्रमर के पूर्वोक्त दोनों प्रतीकार्थों—'श्रीकृष्ण' एवं 'उद्धव'—से इन दोनों अर्थों की भी पूर्ण संगति बैठ जाती है। यदि श्रीकृष्ण भ्रम में डालने वाले—भ्रमर—थे, तो उद्धव भ्रम में पड़े हुए—भ्रमर—थे।

डा० सत्येन्द्र ने भ्रमर का एक अन्य अर्थ 'पति' या 'नायक' भी माना है और लिखा है कि—

"भ्रमर शब्द भी अर्थ-विकास की दृष्टि से भ्रमर नामक कीट से अर्थ-विस्तार करके कृष्ण का पर्याय हुआ और तब पति का भी पर्याय हो गया। लोक-गीतों में भी यही भ्रमर "भँवर जी" होकर पति के लिए रूढ़ हो गया है।"

श्रीकृष्ण भी ब्रजांगनाओं के परम पति थे, जैसा कि भक्त कवियों ने स्वीकार किया है; तथा वे ब्रज की प्रेमिकाओं के 'नायक' भी थे, जिसकी स्वीकृति हमें रीति-कालीन काव्य में मिलती है। अतः 'भ्रमर' को यदि 'पति' या 'नायक' के अर्थ में स्वीकार किया जाय, तो 'भ्रमरगीत' का आशय होगा—'पति' या 'नायक' को लक्ष्य करके लिखा गया गान।

'भ्रमरगीत' में उपर्युक्त सभी विशेष अर्थों की अन्तर्व्याप्ति मिलती है। भक्ति काल से अब तक हिन्दी-काव्य में श्रीकृष्ण और राधा तथा गोपियों के प्रेम-प्रसंग को लेकर उद्धव एवं भ्रमर के माध्यम से जो कुछ लिखा गया है; वह सब 'भ्रमरगीत' की सीमा में आता है।

भ्रमर षट्-पद होता है। अतः 'भ्रमरगीत' के लिए एक षटपदी छन्द का भी निर्माण कर लिया गया है। इस प्रकार 'भ्रमरगीत' केवल भाव एवं अभि-व्यक्ति के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं, उसका अर्थ-विस्तार छन्द के क्षेत्र तक हो गया है। हम 'भ्रमरगीत' उस छन्द-विशेष को भी कह सकते हैं, जिसके छः चरण होते हैं। यह मात्रिक छन्द है, जिसके प्रथम चार चरणों में २४-२४ मात्राएँ होती हैं तथा अन्तिम दो चरणों में १०-१० मात्राएँ होती हैं। लय और यति की दृष्टि से इसके प्रथम दो चरण रोला के होते हैं, मध्य के दो चरणों में दोहा होता है तथा शेष दो चरण अर्द्धाली के रूप में होते हैं। डा० श्यामसुन्दर लाल दीक्षित ने 'भ्रमरगीत' को छन्द मानते हुये लिखा है—

"हमने इस छन्द का नाम 'भ्रमरगीत-छन्द' ही उपयुक्त माना है। यह मात्रिक छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में २४ मात्राएं होती हैं और अन्तिम पद अर्थात् अर्द्धाली या टेक में १० मात्राएँ होती हैं।"

सभी कवियों ने 'भ्रमरगीत' लिखते समय 'भ्रमरगीत-छन्द' को नहीं अपनाया। अतः यह आवश्यक नहीं है कि 'भ्रमरगीत' शब्द भाव, अभिव्यक्ति एवं छन्द की दृष्टि से पूर्वोक्त अपने सभी अर्थों को सर्वत्र समान रूप से व्यक्त

करे। यहाँ हमने 'भ्रमरगीत' के अर्थ की सभी सीमाओं का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा केवल इसलिए की है ताकि यह तथ्य स्पष्टतः प्रकाश में आ सके, कि 'भ्रमरगीत' हिन्दी काव्य में आत्मा एवं कलेवर—दोनों ही दृष्टियों से पूर्णता प्राप्त कर एक विशिष्ट स्थान पर प्रतिष्ठित है।

प्रश्न ८—"सूर के 'भ्रमरगीत' में विप्रलम्भ शृंगार' शीर्षक एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—शृंगार रस को आचार्यों ने संयोग शृंगार और वियोग शृंगार नामक दो भेदों में विभाजित किया है। वियोग शृंगार को विप्रलम्भ शृंगार भी कहा जा सकता है। आचार्यों ने विप्रलम्भ शृंगार को भी चार भेदों में विभाजित किया है—पूर्वराग, मान, प्रवास एवं करुण। "पूर्वराग वियोग-शृंगार" मिलन के पूर्व का वियोग माना जाता है। गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन आदि के फलस्वरूप प्रियतम से मिलने की उत्कण्ठा एवं न मिल सकने से उत्पन्न वेदना इस कोटि में आती है। मिलन की अवस्था में सामान्य कारणों से जब नायक-नायिका परस्पर रूठ कर मान करते हैं और उसके कारण अलगाव की जो वेदना अनुभव करते हैं, उसे "मान-विप्रलम्भ शृंगार" कहा जाता है। नायक जब विदेश चला जाता है उस समय नायिका को जो विरह होता है, उसे "प्रवास-विप्रलम्भ शृंगार" कहते हैं। चौथा "करुणात्मक विप्रलम्भ शृंगार" प्रियतम के मिलन की सम्भावना न रहने पर माना जाता है।

'भ्रमरगीत' में सूरदास जी ने 'प्रवास विप्रलम्भ शृंगार' को प्रमुख स्थान दिया है। श्रीकृष्ण और गोपियों के वियोग का कारण श्रीकृष्ण का मथुरा-प्रवास है। गोकुल में श्रीकृष्ण का राधा और गोपियों से जो प्रेम था, वह जब वे कंस के आमन्त्रण पर मथुरा जाने लगे, तो आँसू बन कर बह उठा। कृष्ण अक्रूर के साथ रथ में बैठकर मथुरा चले गये। गोपियाँ उनके रथ के चक्रों से उठने वाली धूल को नयनों में अश्रु भरे अपलक देखती रहीं। उस समय उन्होंने किसी प्रकार धैर्य धारण किया और आशा की कि श्रीकृष्ण शीघ्र ही लौट आएँगे। किन्तु, जब कंस को मार कर भी वे न लौटे, अकेले नन्द वापिस आ गये, तब तो उनके धैर्य का बाँध ही टूट गया। उनकी अश्रु-सरिता विरह में तीव्र वेग को प्रकट करती हुई बह चली। अब वे श्रीकृष्ण के विरह

में बिलखती हुई उनकी प्रतीक्षा किया करतीं कि शायद कृष्ण लौट कर रहे हों। एक दिन उनके सन्देश-वाहक बनकर उद्धव ब्रज पधारे। उनको अपने ज्ञान का गर्व था, किन्तु उन्होंने जो उपदेश गोपियों को दिये वे उनकी विरहाग्नि को प्रदीप्त करने वाले बन गये। सूर ने उद्धव के सम्मुख इस अवसर पर गोपियों की जिस विरहावस्था का अनावरण किया है, वह हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। उन्होंने 'प्रवास-विप्रलम्भ' को अन्त में 'करुणा विप्रलम्भ, की कोटि तक पहुँचा दिया है। जहाँ करुणा के साथ मिलन की आशा और रति भाव शेष रहते हैं, वहाँ विप्रलंभ शृंगार ही माना जाता है, करुण रस नहीं; क्योंकि रस में केवल शोक स्थायी भाव होता है, उसमें मिलन की आशा एवं रति स्थायी भाव नहीं रहते। सूर के विप्रलम्भ शृंगार की एक अन्य विशेषता की ओर भी यहाँ संकेत कर देना आवश्यक है। वह यह कि उसमें करुणा-भक्ति को भी स्थान मिला है। वस्तुतः सूर की गोपियों में जिस उत्कृष्ट प्रेम के दर्शन होते हैं, उसका केवल लौकिक महत्व ही नहीं है, अपितु उसका आध्यात्मिक महत्व भी है।

यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि सूर के भ्रमरगीत में विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त पुष्ट, श्लिष्ट तथा उत्कृष्ट चित्रण हुआ है। जिस विस्तार के साथ हमें उसमें विरह भावना की अभिव्यक्ति मिलती है, उतने विस्तार तक सूर के अतिरिक्त अन्य किसी हिन्दी कवि की दृष्टि नहीं पहुँच सकी। विरह-वर्णन के क्षेत्र में हिन्दी के जायसी, मीरा एवं बिहारी को सूर के साथ गिना जाता है, किन्तु ये तीनों कवि भी सूर के समान विस्तृत रूप में वियोग की विभिन्न मानसिक दशाओं का चित्रण नहीं कर सके हैं। सूर के विरह-वर्णन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने उसे एकांकी नहीं रहने दिया, अपितु उसमें हृदय की विभिन्न भाव-दशाओं का भी समावेश किया है। कथा-तत्व की गौणता के साथ विरहावस्था की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति करने में अंधे सूर के समान सफलता किसी अन्य कवि को नहीं मिली। वस्तुतः वे जिस कुशलता से भावों के तीव्र वेग को शब्दों में बाँध सके हैं, उस प्रकार जायसी, मीरा और बिहारी में से कोई भी कवि नहीं बाँध सका। विभिन्न भावों का अन्तर्द्वन्द्व भ्रमरगीत

के विरह-वर्णन का अभूतपूर्व आकर्षण है। हृदय की एकरसता को लेकर किया गया विरह-चित्रण उस सौंदर्य को प्राप्त नहीं कर सकता जिस सौंदर्य को सूर का व्यंग-विनोद-पूर्ण विरह-वर्णन प्राप्त कर सका है। हम विरहिणी को विरह में तड़पते हुए तो जायसी आदि के काव्य में देख सकते हैं, किन्तु सूर की गोपियों के समान विरह की वेदना को हृदय में छिपाकर मुस्कराते हुए यदि किसी विरहिणी को देखना है, तो पाठक को विवश होकर सूर का 'भ्रमर-गीत' ही पढ़ना पड़ेगा। उनकी गोपियाँ कृष्ण की याद में केवल रोती-तड़पती ही नहीं, उसका उद्धव को अनुभव कराने के लिए मुस्कराती भी हैं, व्यंग भी करती हैं और कृष्ण को कोसती भी हैं। परम्परा मात्र का अनुसरण न करके सूर ने अपनी मौलिकता के साथ विरह की विभिन्न अवस्थाओं का अपने भ्रमरगीत में चित्रण किया है। साथ ही केवल नारी को ही पुरुष के विरह में अधीर नहीं दिखाया, पुरुष को भी नारी के विरह में व्यथित बतलाया है। सब से पहले उनके भ्रमरगीत में हमारे सामने कृष्ण विरही के रूप में आते हैं और उसके पश्चात् गोपियों का स्थान आता है। राधा के विरह को कवि ने अधिक स्थान नहीं दिया। केवल दो-चार शब्दों में ही उसकी विरहावस्था का संकेत कर दिया है। माता यशोदा के पुत्र-विरह को भी सूर ने अपने भ्रमर-गीत में अत्यन्त संक्षेप में स्थान दिया है तथा पिता नन्द, गोप, गाएँ आदि के हृदय में कृष्ण-विरह की जो ज्वाला रही है, उसकी ओर भी संकेत-मात्र कर दिया है। यहाँ विप्रलम्भ शृंगार की दृष्टि से सूर के भ्रमरगीत की गोपी-विरह ही प्रधानतः अभीष्ट है। अतः उसी की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत कर पूर्वोक्त तथ्यों का समर्थन किया जायेगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सूर ने कृष्ण की विरह-व्यथा से भ्रमर-गीत का विरह-वर्णन प्रारम्भ किया है। कृष्ण जब से मथुरा आये हैं तब से लौटकर गोकुल नहीं जा सके हैं। अतः वे गोकुल-वासी लोगों की याद करके दुखी होते हैं। कहते हैं—

सुनहु उपंग-सुत मोहि न बिसरत ब्रजबासी सुखदाई।
यह चित होत जाउँ मैं अब ही यहाँ नहीं मन लागत।

गोप सुग्वाल गाय बन चारत अति दुख पायो त्यागत ।।
कहँ माखन चोरी कहँ जसुमति 'पूत जेंव' करि प्रेम ।
सूर श्याम के वचन सहित सुनि व्यापत आपन नेम ।।

और फिर गोपियों की याद आते ही वे विरह-व्यथित हो कह उठते हैं—

वह लतागन संग गोपिन सुधि करत पछतात ।
कहाँ वह वृषभानु तनया परम सुन्दर गात ।
सुरति आए रास-रस की अधिक जिय अकुलात ।

उन्हें यह मालूम है कि गोपियाँ उनके विरह की नदी में डूब रही होंगी, इसलिए वे उद्धव को उपदेश देने उनके पास भेजना चाहते हैं—

यह मत दै गोपिन कहँ आवहु विरह नदी में भासति ।
सूर तुरत यह जाय कहौ तुम ब्रह्म बिना नहिं आसति ।

उद्धव बड़े गर्व के साथ गोकुल जाते हैं और गोपियों के सम्मुख उपस्थित हो उन्हें उपदेश देते हैं। वे विरह की अग्नि में जल रही थीं, उद्धव ने आकर उस अग्नि को अपने उपदेशों का घृत डालकर और अधिक बढ़ा दिया। वे गोपियों के लिए श्रीकृष्ण की एक पाती भी लाये थे। पहले तो उस पाती को लेकर ही उन्होंने मौन भाव से अपनी जिस विरहावस्था को व्यंजित किया उसे देखकर उद्धव चकित रह गए। वे क्या जानते थे कि गोपियाँ उस पाती के साथ ऐसा खिलवाड़ करेंगी—

निरखत अंक स्याम सुन्दर के
बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद मलि मिलिकैं
ह्वै गई स्याम स्याम की पाती ।।

फिर उन्होंने अपने योग और ज्ञान के उपदेशों का उत्तर भी सुना—

लरिकाई को प्रेम कहौ अलि, कैसे छूटत ?

तथा—

हमसों कहत कौन की बातें ?
सुनि ऊधौ, हम समुझत नाहीं, पुनि बूझति हैं तातें ।।

को नृप भयो, कंस किन मारयो, को बसुदेव सुत आहि ?
यहाँ हमारे परम मनोहर जीवतु हैं मुख चाहि ॥

उन्होंने उद्धव को स्पष्ट बतलाया कि—

गोकुल सबै गोपाल उपासी ।

× × ×

का अपराध जोग लिखि पटवत, प्रेम भजन तजि—करत उदासी ।

वस्तुत: गोपियों के इन कथनों में उनके उस विरह-वर्णन की भूमिका की अभिव्यक्ति है, जिसको आगे समस्त भ्रमरगीत में विस्तार प्राप्त हुआ है। वे आगे अपनी विरह-वेदना को लेकर आँसुओं के साथ बहने लगती हैं। उनकी आँखें अब कृष्ण के दर्शन के बिना अन्य किसी भी प्रकार से तृप्त नहीं हो सकतीं। वे कहती हैं—

अँखियाँ हरि दरसन की भूखीं ।
कैसे रहैं रूप-रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी ?

उनकी विरह वेदना समस्त वातावरण में व्याप्त हो गई है। जड़, चेतन सभी उन्हें कृष्ण-विरह में जलते दिखाई देते हैं। वे कहती हैं—)

देखियत कालिन्दी अति कारी ।
कहियो पथिक जाय हरि सों, ज्यों भई विरह-जुर-कारी ॥
मनु पर्यङ्क तें परी धरनि धुकि तरंग तलफ तनु भारी ।
तटबारू उपचार-चूर मनो स्वेद-प्रवाह-पनारी ।
विगलित कच कुस काँस पुलिन मनो पंकज कज्जल सारी ।
भ्रमर मनो मति भ्रमित चहूँ दिसि, फिरति है अंग दुखारी ॥
निसि दिन चकई ब्याज बकत मुख किन मानहुँ अनुहारी ।
सूरदास प्रभु जो जमुन गति सो गति भई हमारी ॥

वे अपनी विरह-वेदना की व्यापकता व्यंजित करती हुई आगे कहती हैं—

ऊधो, यहि ब्रज बिरह बढ़चौ ।
घर बाहर सरिता बन उपवन बल्ली द्रुमन चढ़चौ ॥
बासर रैन सधूम भयानक दिसि-दिसि तिमिर मढ़चौ ।

× × ×

जरि किन होत भस्म छिन माँहीं हा हरि मंत्र पढ़्यौ ।
सूरदास प्रभु नंदनंदन बिनु नाहिं न जात कढ़्यौ ।।

वे विरह व्यथा से कितनी दुखी हैं, इसका अनुमान वही कर सकता है, जो जल से रहित हो जाने पर दुखी होने वाली 'मीन' की व्यथा को समझ सकता है । कवि कहता है—

परम वियोगिनी सब ठाढ़ीं ।
ज्यों जल-हीन दीन कुमुदिनि बन रवि प्रकाश की डाढ़ी ।
जिहि विधि मीन सलिल तें बिछुरै, तिहि अति गति अकुलानी ।
सूखे अधर न कहि आवै कछु वचन रहित मुख बानी ।।

गोपियों की विरह-व्यथा कहीं-कहीं इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वे उद्धव से स्पष्ट कह देती हैं—

ऊधो ! तुम कहियों जाय हरि सों हमारे जिय को दरद ।
दिन नहिं चैन, रैन नहिं सोवत, पावक भई जुन्हैया सरद ।।

और कभी वे यह प्रार्थना भी करने लगती हैं कि हे उद्धव ! कृष्ण को लाकर हमको मरने से बचा लो—

ऊधो ! स्यामहिं तुम लै आओ ।
ब्रज जन चातक प्यास मरत हैं, स्वाँति बूँद बरसाओ ।।

× × ×

जौ ऊधौ ! हरि यहाँ न आवैं हमको तहाँ बुलाओ ।
सूरदास प्रभु बेगि मिलाओ संतन में जस पाओ ।।

फिर वे सोचती हैं कि उद्धव बेचारे का क्या दोष है, कृष्ण ही जब कठोर हो गये ! अन्यथा, राम भी तो एक पति थे जो सीता को वन-वन खोजते फिरे थे—

हरि सौं भलो सो पति सीता को ।
बन-बन खोजत फिरे बन्धु-संग कियो सिन्धु बीता को ।

और यह ध्यान आते ही वे कहने लगती हैं—

ऊधो ! अब नहिं स्याम हमारे
मधुवन बसत बदलि से गे वे माधव मधुप तिहारे ।।
इतनहिं दूरि भए कछु औरे, जोय जोय मगु हारे ।
कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यों अंत भए उड़ि न्यारे ।।

कृष्ण के विरह में उनके नेत्रों से अश्रु-सरिता उमड़ी है—

तुम्हरे विरह ब्रजनाथ, अहो प्रिय ! नयनन नदी बढ़ी ।
लीने जात निमेष-कूल दोउ, ऐते मान चढ़ी ।।

जब उद्धव बार-बार उनको ज्ञान का उपदेश देकर छेड़ते हैं, तो वे खीझ जाती हैं और तर्कों, उपालम्भों तथा व्यंग्योक्तियों के माध्यम से अपने हृदय की वेदना को व्यक्त करती हुई कभी मुस्कराती हैं और कभी रो पड़ती हैं। वे वियोगिनी हैं; उद्धव के योग को लेकर क्या करेंगी ? अतः कहती हैं—

उद्धव ! जोग विसरि जनि जाहु ।
बाँधहु गाँठि, कहूँ जनि छूटै फिरि पाछे पछिताहु ।
ऐसी वस्तु अनूपम, मधुकर ! मरम न जाने और ।
ब्रजवासिन के नाहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर ।

कभी कहती हैं कि ब्रज में एक ऐसा व्यापारी आया है जो योग जैसी सारहीन वस्तु के विनिमय में प्रेम जैसा स्वर्ण चाहता है—

आयो घोष बड़ो व्यापारी ।
लादि खेप यह ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी ।।
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरो निपट अनारी ।

उनकी आँखों में विरह व्यथा के आँसू भरे हुए हैं और वे उद्धव बार-बार उन्हें उपदेश देते हैं ! इस पर वे जल-भुनकर कह उठती हैं—

ऊधो ! राखति हौं पति तेरी ।
ह्याँ ते जाहु, दुरहु आगे ते, देखति आँखि बरति है मेरी ।
ते तौ तेसेई दोउ बने हैं, वै अहीर वह कंस की चेरी ।

और फिर इस प्रकार उद्धव को फटकारने लगती हैं—

रहु रे मधुकर, मधु मतवारे !
कहा करौं निर्गुन लै कै हौं ? जीवहु कान्ह हमारे ।।

उन्हें प्रकृति में सर्वत्र अपने विरह को उद्दीप्त करने वाली सामग्री दिखाई देती है। वर्षा में बादल घिर आते हैं, तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता है, मानो कामदेव के मस्त हाथी बल-पूर्वक बन्धन तोड़कर चिंघाड़ते चले आ रहे हैं—

देखियत चहुँ दिसि तैं घन घोरे।
मानो मत्त मदन के हथियन बब करि बंधन तोरे॥
स्याम सुभग तनु चुअत गंड मद बरसत थोरे-थोरे।
रुकत न पौन महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे॥

जब लताओं और कुंजों में वे कृष्ण के साथ बिहार करती थीं, तब उन्हें वे अत्यन्त प्रिय लगती थीं, किन्तु आज तो वे भी उन्हें दुख देने वाली प्रतीत हो रही हैं—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति शीतल
अब भईं विषम ज्वाल की पुँजैं॥
बृथा बहति जमुना तट खग री,
बृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार सुमन दैं,
दधि सुत किरन भानु भई भुँजैं॥

और रात्रि तो उन्हें कृष्ण के विरह में काली नागिन सी प्रतीत होती है—

पिया बिनु साँपिन कारी रात।
कबहुँ जामिनी होति जुन्हैया, डसि उलटी ह्वै जाति॥

जब पपीहा बोलता है तो उन्हें ऐसा प्रतीत होता है मानो वह भी दिन-रात कृष्ण के विरह में पी-पी रटता हुआ काला पड़ गया है—

बहुत दिन जीवौ पपीहा प्यारे।
बासर रैन नाँव लैं बोलत भयो विरह ज्वर कारो॥

और फिर वे देखती हैं कि उस चातक को भी समय पर स्वाँति-बूँद मिल गई, किन्तु उनके कृष्ण लौटकर नहीं आये—उनकी विरह वेदना का अन्त नहीं हुआ—

बहुते दिवस रटत चातक तकि,
तेउ स्वाँति जल पायो ।।
कबहुँक ध्यान धरत उर अन्तर,
मुख मुरलीं लैं गावत ।
सो रस-रास पुलिन जनुना की,
ससि देखे सुधि आवत ।।
जासों लगन प्रीति अन्तरगत,
औगुन गुन करि भावत ।
हमसों कपट लोक डर ताते,
सूर सनेह जनावत ।।

वे निरन्तर कृष्ण की प्रतीक्षा में अपनी आँखों के पलक बिछाये रहती हैं, किन्तु कृष्ण नहीं आते—

ऊधो अँखियाँ अति अनुरागीं ।
इक टक मग जोवति अरु रोवति,
भूलेहु पलक न लागी ।।
बिनु पावस पावस रितु आई,
देखत हौं बिदमान ।
अबधौं कहा कियो चाहत हौ,
छाँड़हु नीरस ज्ञान ।।
सुनु प्रिय सखा स्याम सुन्दर के,
जानत सकल सुभाव ।
जैसे मिलैं सूर प्रभु हमकौं,
सो कछु करहु उपाव ।।

मिलन की यह आकुलता गोपियों के विरह को चरमावस्था पर पहुँचा देती है । उद्धव का बार-बार का ज्ञानोपदेश उन्हें प्रभावित नहीं कर पाता । वे तो स्पष्टतः कह देती हैं कि अब उनका मन ही उनके पास नहीं । वे विरह में जल रही हैं, ईश्वर की उपासना कौन करे ?

ऊधो ! मन नाहीं दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस ।।
भइँ अति शिथिल सबै माधव बिनु यथा देह बिनु सीस ।
बासा अटकि रह्यो आशा लगि जीवहिं कोटि बरीस ।।
तुम तो सखा स्याम सुन्दर के सकल योग के ईस ।
सूरदास रसक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस ।।

विरह-व्यथा के साथ मिलन की अभिलाषा कैसी दीनता से मिश्रित होकर व्यंजित हो रही है ! साथ ही, तर्क एवं व्यंग का भी अपूर्व सम्मिश्रण इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है। गोपियाँ उद्धव से अधिक उपदेश नहीं सुनना चाहतीं; वे स्पष्टत: उनको बतला देती हैं—

ऊधो ! इन नयनन नेम लियो ।
नंदनंदन सो पतिव्रत बाँध्यो दरसत नाहिं बियो ।।
इन्दु चकोर मेघ प्रति चातक जैसे धरन दियो ।
तैसे ये लोचन गोपालै इकटक प्रेम पियो ।।
ज्ञान कुसुम लै आए ऊधो ! चपल न उचित कियो ।
हरिमुख कमल अमियरस सूरज चाहत वहै लियो ।।

अन्त में यह कह देना भी अनुचित न होगा कि विरह समस्त अन्तर्दशाओं का सूर ने अपने भ्रमरगीत में चित्रण किया है। अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्छा, सन्ताप, कृशता, विवृति, अरुचि, अधृति, विवशता, तन्मयता, मरण आदि सभी दशाओं, के चित्र भ्रमर-गीत में भरे पड़े है। पूर्वोक्त विवेचन में इनमें से अधिकांश दशाओं के चित्र आ गए हैं।

"वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और हो सकता है, वे सब सूर में प्राप्त होता है।" शुक्ल जी ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

१. अभिलाषा—ऐसे समय जो हरिजू आवहिं ।
निरखि निरखि वह रूप मनोहर बहुत बहुत सुख पावहिं ।।

२. चिन्ता—(१) हमको सपनेहू में सोच ।
(२) ऊधो ! अँखियाँ अति अनुरागीं ।

३. स्मृति—मेरे मन इतनी सूल रही ।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नंदलाल कहीं ।।

४. गुणकथन—एहि बेरियाँ बनतें ब्रज आवते ।
दूरहि ते बर वेनू अधरि धरि बारम्बार बजावतें ।।

५. उद्वेग—तिहारी प्रीति किधौं तरवारि
दृष्टिधार कर मारि साँवरे, घायल सब ब्रजनारि ।।

६. प्रलाप—सखि मिलि करौ कछुक उपाउ ।
मार मारन चढ़्यौ बिरहिन निदरि पायो दाउ ।।

७. उन्माद—ऊधौ इतनी कहियो जाय ।
अति कृसगात भईं ये तुम बिनु परम दुखारी गाय ।।

८. व्याधि—बिनु गोपाल बैरिन भईं कुँजैं ।
तब थैं लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुँजैं ।।

९. जड़ता—परम वियोगिनी सब ठाढ़ी ।
ज्यों जल हीन दीन कुमुदिन बन रवि प्रकास की डाढ़ी ।।

१०. मूर्च्छा—सोचति अति पछितातिं राधिका ।
मूर्छित धरनि रही ।

११ मरण—मरण का वर्णन साहित्य में वर्जित है । केवल मरणासन्न दशा का चित्रण किया जाता है—
अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिन दूजे अलिजारी ।।

कहने का आशय यह है कि सूर के भ्रमरगीत में विप्रलम्भ शृङ्गार की अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में विस्तृत अभिव्यक्ति हुई है । गोपियों की विरह-व्यथा में इतनी अधिक गम्भीरता है कि उसमें थोड़ी देर के लिए श्रोता के रूप में निमग्न हो जाने वाले उद्धव भी प्रेम के सरल पथ पर चल पड़ते हैं । वे गोकुल से लौटकर कृष्ण से प्रार्थना करते हैं—

दिन दस घोष चलहु गोपाल।
गैयन की अवसेर मिटावहु भेंटहु भुज भरि ग्वाल।
नाचत नहीं मोर वादिन तें आए बरसा काल।
× × ×
वृन्दावन भावतो तुम्हारो देखहु स्याम तमाल।

तथा--

कहाँ लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम ! तुम बिन उन लोगन जैसे दिवस बिहात।
गोपी-ग्वाल गाय-गोसुत, सब मलिन बदन कृश गात।

यह गोपियों के विरह का ही प्रभाव है कि निर्गुण ब्रह्म के समर्थक उद्धव कृष्ण को गोकुल जाने के लिए इस प्रकार परामर्श दे रहे हैं, तथा श्रीकृष्ण भी उस विरह के महत्व से कुछ कम परिचित नहीं। वे कहते हैं—

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
× × ×
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उँमगत तनु नाहीं।

निःसन्देह 'भ्रमरगीत' काव्य में सूर ने विप्रलम्भ शृङ्गार का अत्यन्त व्यापक, प्रभाव-पूर्ण तथा स्वाभाविक रूप में चित्रण किया है। उसमें हम गोपी-हृदय के जिस पवित्र, निश्छल एवं सहज प्रेम-भाव का दर्शन करते हैं, वह सूर की प्रतिभा की अद्वितीय देन है। हम उनके विरह-वर्णन में वैयक्तिक प्रेम की तीव्रता एवं अचलता-मात्र का दर्शन नहीं करते, अपितु उसमें हमें लोक-हृदय की अत्यन्त व्यापक अभिव्यक्ति मिलती है।

प्रश्न ६—''सूरदास में जितनी सहृदयता एवं भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी''—'भ्रमरगीत सार' से उपयुक्त उद्धरण देते हुए इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—सूरदास का 'भ्रमरगीत' भावुकता, सरसता, चतुरता एवं वाग्विदग्धता की दृष्टि से हिन्दी काव्य की अमूल्य निधि है। इस काव्य में

हमें श्रीकृष्ण ने मथुरा-प्रवास-काल में उनके वियोग की व्यथा को सहती हुई आँसू बहाने वाली गोपियों के कोमल हृदय की सरस अभिव्यक्ति मिलती है। सूर ने पुरुष-हृदय को उनकी तुलना में कठोर सिद्ध नहीं किया है। हम इस काव्य में श्रीकृष्ण एवं उद्धव—दो प्रधान पुरुष पात्रों का दर्शन करते हैं। दोनों में पाठक को प्रारम्भ में कुछ कठोरता का आभास मिलता है। श्रीकृष्ण इसलिए कठोर प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे गोपियों को विरह-सिन्धु में डुबो कर स्वयं मथुरा रह रहे हैं और उद्धव इसलिए कठोर जान पड़ते हैं, क्योंकि वे गोपियों की करुणावस्था को आँखों से देखकर भी नीरस ज्ञानोपदेश देने के लिए तत्पर होते हैं। किन्तु यह सूरदास की अद्भुत प्रतिभा का ही कार्य है कि उन्होंने कठोर प्रतीत होने वाले इन दोनों पुरुषों के हृदय की समस्त कोमलता को अद्भुत कौशल के साथ अनावरित कर दिया है। श्रीकृष्ण गोकुल लौटकर नहीं जाते पर गोकुल-वासियों की याद में खूब छटपटाते हैं और 'ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं' कहकर अपनी समस्त वेदना को प्रकट कर देते हैं।

उद्धव अपने ज्ञान पर गर्व करके मुस्करा कर गोकुल जाने को तैयार होते हैं, गोपियों के सम्मुख पहुँचकर अनेक नीरस उपदेश देते हैं, तथापि वे जब लौटकर श्रीकृष्ण को 'दिन दस घोष चलहु गोपाल' की प्रार्थना सुनाते हैं, तब मानो कवि उनके हृदय को पुरुषोचित समस्त कोमलता से ओतप्रोत कर देता है। वह कोमलता ही वह सहृदयता एवं भावुकता है जिसका हम भ्रमरगीत के किसी भी पात्र में अभाव नहीं देखते। पुरुष-हृदय दूसरों की करुणा को देखकर द्रवित होता है और नारी-हृदय स्वतः द्रवण-शील तथा कोमल होता है। सूर दोनों वर्गों के पात्रों की भावनाओं के माध्यम से अपनी समस्त सहृदयता एवं भावुकता लेकर भ्रमरगीत में अवतीर्ण हुए हैं।

पुरुष के हृदय को, कठोरता के आवरण में नवनीत सी कोमलता छिपाये रहता है, सहृदय एवं भावुक बनाने के लिए नारी-हृदय की कोमलता-मात्र पर्याप्त नहीं है, अपितु वाक्-चातुरी एवं वाग्वैदग्ध्य के सरल आघात भी उसके लिए अपेक्षित हैं, तभी उसकी कठोरता का आवरण टूट कर अलग हो सकता है। सूर की गोपियों में हम इन दोनों बातों का पर्याप्त विकसित रूप पाते

हैं। वे बड़ी चतुरता एवं वाग्विदग्धता से उद्धव के कठोर उपदेशों का सरस तर्कों से उत्तर देती हैं और श्रीकृष्ण के लिए अनेक उपालम्भ सुनाकर अद्‌भुत वक्रोक्तियों से उन्हें इतना छका देती हैं कि वे अपना निर्गुण का भारी-भरकम आवरण उतार फेंकने की तैयारी करने लगते हैं। वस्तुतः सूर ने अपने समस्त भ्रमरगीत को सहृदयता, भावुकता, चतुरता एवं वाग्विदग्धता की अनेक उक्तियों से भर कर अत्यन्त सरस बना दिया है। यहाँ हम उपयुक्त उद्धरण देकर इस तथ्य की सत्यता सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे।

सबसे पहली बात जो ध्यान में रखने की है वह यह है कि सूर के भ्रमरगीत में जो चातुर्य एवं वाग्वैदग्ध्य पाया जाता है, वह उक्ति-चमत्कार की अतिशयता से प्रसूत नहीं है, अपितु उसमें हम भावातिरेक का स्पष्ट दर्शन करते हैं। जिस प्रकार किसी वाह्य कारण से सरोवर का जल हिल उठता है और उसमें उठने वाली वक्र तरंगें विभिन्न रूपों में स्पन्दित होती हुई तट तक अपना रूप-सौन्दर्य बिखेर देती हैं, उसी प्रकार सूर के हृदय में भी गोपियों की विरह-व्यथा को छेड़ने वाले उद्धव के कारण उठती हुई भाव-लहरियों की सरस वक्रोक्तियों के रूप में अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने अपनी वाणी को जब गोपियों की विरह-व्यथा का रूप देकर भक्ति एवं प्रेम की रक्षा के लिये उद्धव के ज्ञान तथा योग को ललकारा है, तब उनकी समस्त सहृदयता एवं भावुकता स्वतः चतुरता एवं वाग्विदग्धता का सहारा लेकर अभिव्यक्त हो उठी है। कंस के आमंत्रण पर मथुरा आये हुए कृष्ण जब उसे मार कर वहीं रहने को विवश होते हैं, तब वे अत्यन्त मार्मिक शब्दों में गोकुल-वासियों का इस प्रकार स्मरण करते हैं—

सुनहुँ उपँग सुत मोहि न बिसरत
ब्रजवासी सुखदाई।
यह चित होत जाउँ मैं अबहीं,
यहाँ नहीं मन लागत॥

किन्तु उनकी इस भावुकता में उनकी सहृदयता एवं वाक्-चातुरी का भी सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है, जो इस पद से स्पष्ट व्यंजित हो रहा है—

कहियो नन्द कठोर भए।
हम दोउ बीरैं पर घर मानौ सौंपि गए।।
तनक तनक तें पालि बड़े किए बहुतैं सुख दिखराए।
गोचारन को चलत हमारे पीछे कोसक धाए।।

श्रीकृष्ण अत्यन्त भाव-विभोर होकर ब्रज-वासियों के साथ अपने माता-पिता का भी स्मरण कर रहे हैं, किन्तु साथ ही वे अपनी ब्रज न जाने की भूल को भी छिपाना चाहते हैं। बड़ी चतुरता एवं वाग्विदग्धता पूर्ण युक्तियों से वे नन्द को ही दोषी ठहराते हुए कहते हैं कि जिन नन्द ने हम दोनों भाइयों को शैशव से पालकर बड़ा किया तथा जो गाएँ चराने भी हमें अकेला वन को नहीं जाने देते थे—कोसों तक हमारे पीछे दौड़े चले आते थे, वे ही नन्द अब इतने कठोर हो गये हैं कि हमें 'पर-घर-मथुरा' छोड़कर हमारी याद ही भूल बैठे हैं। कैसी सहृदयता एवं भावुकता के साथ इस पद में कृष्ण ने अद्भुत वाक्-चातुरी का परिचय दिया है। गोपियों में तो यह सहृदयता, भावुकता, वाग्विदग्धता एवं चतुरता सर्वाधिक मात्रा में पाई जाती है। हम प्रारम्भ से ही गोपियों को अपनी विरह-व्यथा का भार सम्हाले हुए बड़ी निडरता से उद्धव का सामना करते देखते हैं। इसके लिए एक नारी में जिस सामर्थ्य की आवश्यकता होती है, वह सूर ने अपनी गोपियों को, उनकी सहृदयता एवं भावुकता में चतुरता एवं वाग्विदग्धता का समावेश कर, पर्याप्त मात्रा में प्रस्तुत की है। कुछ उदाहरण देखिये—

जिस समय सर्वप्रथम उद्धव गोपियों को योग एवं निर्गुण साधना का उपयोग देते हैं, उस समय साकार कृष्ण के भाव में मग्न गोपियाँ अपने मन की व्यथा को मन में ही छिपाकर बड़ी चतुराई से मुँह बनाकर वाक-पटुता दिखाती हुई कहती हैं—

हमसों कहत कौन की बातें ?
सुनि ऊधौ, हम समुझत नाहीं फिरि-फिरि पूँछति हैं तातें।।
को नृप भयौ, कंस किन मारयौ, कौ बसुधौ सुत आहि ?

तथा-

तू अलि ! कासों कहत बनाय ?

बिन समुझे हम फिर बूझति हैं एक बार कहौ गाय ॥

और फिर स्पष्ट कह देती हैं, यदि उद्धव के कान हों तो वे सुन लें कि—

हम तो नन्दघोष की बासी ।

नाम गोपाल, जाति कुल गोपहिं, गोप गोपाल उपासी ॥

गिरिवरधारी, गोधनचारी, वृन्दावन-अभिलाषी ।

राजा नन्द, जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना सी ॥

प्रान हमारे परम मनोहर कमल नयन सुखरासी ।

सूरदास प्रभु कहौं कहाँ लौं कष्ट महासिधि दासी ॥

यहीं तक नहीं, वे यह भी कह देती हैं कि—

गोकुल सबै गोपाल उपासी ।

जोग अंग साधत जे ऊधो, ते सब बसत ईसपुर कासी ॥

और व्यंग में ही कृष्ण और उद्धव पर एक साथ आक्रमण करती हुई कुब्जा का प्रसंग छेड़ देती हैं—

जीवन मुँहचाही को नीको ।

दरस-परस दिन-रात करत है कान्ह पियारे पी को ।

अर्थात तुम सीधी बात क्यों नहीं कहते कि कृष्ण कुब्जा के प्रेम-पाश में उलझ कर गोकुल तक आने में असमर्थ हो गये हैं । निर्गुण की आराधना की व्यर्थ बातें करके हमें क्यों भुलावे में रखते हो ? तुम हमें योग सिखाने आए हो और वहाँ श्रीकृष्ण को कुब्जा के दर्श-स्पर्श के लिए छोड़ आए हो ! कितनी भावुकता का अपूर्व वाक्-चातुरी के साथ गोपियों ने परिचय दिया है । सूर की सहृदयता एवं भावुकता से समन्वित ऐसी चतुरता एवं वाग्विदग्धता के उदाहरणों से भ्रमरगीत भरा पड़ा है । कुछ अन्य उदाहरण लीजिए—

आयो घोष बड़ौ व्यापारी ।

लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की ब्रज में आइ उतारी ॥

इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अजानी ।

अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी ॥

इन पंक्तियों में गोपियों की कृष्ण-विषयक रति की अटलता उनके चतुरता भरे ज्ञान और योग के विरोध में स्पष्ट झलक रही है। एक अन्य स्थान पर वे कहती हैं—

तेरो बुरो न माने कोऊ।
रस की बात मधुप नीरस, सुन, रसिक होत सो जाने॥

इन पंक्तियों में गोपियों ने बड़ी चतुरता से उद्धव के उपदेश की 'कटुता' को छिपाकर भी उनको नीरस बताकर सब तथ्य सामने ला दिया है। फिर अपने प्रेम को अटक सिद्ध करने के लिए वे उद्धव को यह चुनौती भी दे डालती हैं—

घर ही के बड़े रावरे।
नाहिन मीत वियोग बस परे अनवउगे अलि बावरे॥
भुख मरि जाय चरैं नहिं तिनुका सिंह को यहै सुभाव रे।

फिर कितनी चतुरता एवं वाग्विदग्धता से अपनी सहृदयता एवं भावुकता का परिचय देती हुई वे कहती हैं कि हे उद्धव! हम तुम्हारी बातें मान भी लेतीं, किन्तु मन तो हमारा कृष्ण ले गए—

मधुकर! यहाँ नहीं मन मेरो।
गयो जो संग नन्दनन्दन के बहुरि न कीन्हो फेरो॥
लयो नयन मुसकानि मोल दै, कियो परायो चेरो।
सौंप्यो जाहि भयो बस ताके बिसरयो बास-बसेरो॥
को समुझाय कहै सूरज, जो रस बस काहू केरो।
मंदे परयो सिधाइ अनत लै यह निर्गुन मत तेरो॥

फिर वे बड़े ही कौशल के साथ अपनी अद्भुत वाक्-चातुरी का परिचय देती हुई स्वपक्ष की श्रेष्ठता एवं उद्धव के निर्गुण की हीनता का प्रतिपादन करती हैं—

ए अलि! कहा जोग में नीको।
तजि रसनीति नन्दनन्दन की, सिखवत निर्गुन फीको॥
देखत सुनत नाहिं कछु स्रवनन ज्योति-ज्योति कर ध्यावत।
सुन्दर स्याम दयालु कृपानिधि, कैसे हो बिसरावत॥

सुनि रसाल मुरली-सुर की धुनि सोइ कौतुक रस भूलें।
अपनी भुजा ग्रीव पर मेलें, गोपिन के सुख फूलें ॥
रूप न रेख बरन वपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सौं प्रीति निरन्तर क्यों निबहैरी माई ॥
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम रोम अरुझाई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके जाके स्याम सुखदाई ॥

इन पंक्तियों में गोपियों ने कितनी भावुकता एवं वाग्विदग्धता के साथ अपने मत का प्रतिपादन किया है, यह देखते ही बनता है।

'कुब्जा' को माध्यम बनाकर भी गोपियों ने बड़ी वाग्विदग्धता एवं चतुरता का परिचय दिया है। देखिए, वे कहती हैं—

बस वै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो ॥
जाको गुन, गति, नाम, रूप, हरि हारयो, फिरि न दियो।
तिन अपनो मन हरत न जान्यो हँसि हँसि लोग जियो ॥
सूर तनिक चंदन चढ़ाय तन ब्रजपति बस्य कियो।
और सकल नागरि नारिन कौ दासी दाँव लियौ ॥

गोपियों को यह सुनकर कि कृष्ण को कुब्जा ने बस में कर लिया है कितना सन्तोष हो रहा है? कृष्ण बड़े चतुर बनते थे। वे उन्हें धोखा दे गए थे, किन्तु वे उसका फल भी अच्छा पा गए! कुब्जा ने उनके भी मन की चोरी कर डाली! कैसी सूझ है सूर की गोपियों में! क्या सुन्दर चतुरतापूर्ण ढंग से उन्होंने अपनी भावुकता का परिचय दिया है।

उद्धव को अपनी विचित्र उक्तियाँ सुना-सुनाकर कृष्ण को गोकुल बुलाने का उनका यह ढंग भी बड़ा सुन्दर है! कितनी चतुरता से वे कहती हैं—

यहि डर बहुरि न गोकुल आए।
सुनु री सखी, हमारी करनी समुझि मधुपुरी छाए ॥
अधरातिक ते उठि बालक सब मोहिं जगै हैं आय।
बिनु पदत्रान बहुरि पठवैंगी बनहिं चरावन गाय ॥

सुनो भवन आनि रोकैंगी, चोरत दधि नवनीत।
पकरि जसोदा पै लै जैहैं, नाचति गावति गीत॥

साथ ही वे यह भी कहने लगती हैं—

मधुकर ! प्रीति किए पछितानी।
हम जानी ऐसी निबहैगी उन कछु औरै ठानी॥
कारे तन को कौन पत्यानौ ? बोलत मधुरी बानी।
हमको लिखि लिखि जोग पठावत आपु करत रजधानी॥
सूनी सेज स्याम बिनु मोको तलफति रैन बिहानी।
सूर स्याम प्रभु मिलिकै बिछुरे तातें मति जु हिरानी॥

भावुकता एवं सहृदयता की इतनी सहज अभिव्यक्ति सूर की ही विचित्र प्रतिभा का काम है। उनकी गोपियाँ एक ओर तो उद्धव को चतुरता एवं वाग्विदग्धता-पूर्ण उपालम्भ सुनाती हैं और दूसरी ओर अपनी भावुकता की बाढ़ को भी नहीं रोक पातीं। जब उनकी वेदना हृदय की सीमाओं के बाहर होने लगती है, तो वे अत्यन्त सहज भाव से अपनी रात्रि की तड़पन को भी उद्धव को सुनाए बिना नही रहतीं।

अन्त में थककर वे उद्धव को उपालम्भ देना बन्द करके स्पष्टतः यह बता देती हैं कि—

मधुकर ! जोग न होत संदेसन।
रवि के उदय मिलन चकई को संध्या समय अँदेस न॥
क्यों बन बसें बापुरे चातक, बधिकहि काज बधे सन।
नगर एक नायक बिनु सूनो, नाहिन काज सबै सन॥
सूर सुभाय मिटत क्यों कारे जिहि कुल रीसि डसै सन।

वे बड़ी भावुकता एवं सहृदयता के साथ अपनी वाक्-चातुरी का परिचय देती हुई माधव की मित्रता पर आरोप लगातीं और पश्चाताप करती हैं—

देखी माधव की मित्राई।
आई उघरि कनक-कलई ज्यों दै निज गए दगाई॥

हम जाने हरि हितू हमारे उनके चित्त ठगाई।
छाँड़ी सुरत सबै ब्रजकुल की निठुर लोग बिलमाई ।।
प्रेम निवाहि कहा वे जानें, साँचेई अहिराई।
सूरदास विरहिनी विकलमति कर मीजैं पछिताई ।।

किन्तु कभी-कभी उनकी सहृदयता एवं भावुकता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वे कहने को उत्साहित होती हैं—

सखी री ! हरिहि दोष जिन देहु ।
जातें इतै मान सुख पैयत, हमरेहु कपट सनेहु ।।
विद्यमान अपने इन नैनन्ह, सूनो देखत गेहु ।
तदपि सूल ब्रजनाथ विरह तें भिदि न होत बड़ बेहु ।।

और फिर निवेदन करती हैं कि—

बहुरि न तुमहिं जगाय पठवों, गोधनन के साथ ।
बरजौं न माखन खात कबहूँ, दैहों देन लुटाय ।
कबहूँ न देहों मैं उरहनो, जसुमति के आगे जाय ।।

सूर की गोपियों की यह भावुकता एवं सहृदयता-मिश्रित चतुरता तथा वाग्विदग्धता ही तो अपने अन्दर वह शक्ति रखती है, जिसके कारण अन्त में कृष्ण को भी यह कहना पड़ता है कि—

ऊधो ! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं !

× × ×

यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं ।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं ।।

सारांश यह है कि सूरदास में जितनी सहृदयता एवं भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी है । उनकी गोपियों के मुख से निःसृत एक-एक पंक्ति इसका प्रमाण है, जैसा कि हमारे पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है ।

ताको कहा परेखो कीजै जानत छाँछ न दूधो ।
सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत ऊधो ।।

हम अपने प्रेम या भक्ति के सीधे और चौड़े राजमार्ग पर चल रही हैं। उस मार्ग में तुम ये निर्गुण रूपी काँटे क्यों बिछाते हो ? हमारा रास्ता क्यों रोकते

हो ? तुम अपने मार्ग पर चलो, हम अपने पर चलें। सूर भी भक्ति-विरोधी ज्ञान के ही विरोधी हैं, ज्ञान के नहीं। गोपियाँ अन्त में उद्धव से कहती हैं—

सुनि है कथा कौन निर्गुन की, रचिपचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु कत देखियत, तुम तून की ओट दुरावत॥

अरे ! तुम व्यर्थ तिनके की ओट में दमकता हुआ सुमेरु छिपाने का यत्न कर रहे हो।

उद्धव ब्रह्म का निरूपण करते हैं, गोपियों की समझ में यह नहीं आता। वे कहती हैं—

रेख न रूप, बरन नहिं जाके ताको हमें बतावत।
अपनी कहौ, दरस वैसे को तुम कबहूँ हौ पावत॥

इसके साथ ही गोपियाँ उद्धव से यह भी कहती हैं कि उद्धव जी जिसका ध्यान करने को तुम कहते हो उसका कुछ परिचय तो दो—उसके बिना ध्यान कैसे लगे—

निर्गुण कौन देश को बासी ?
मधुकर हँसि समझाय सौंह दे बूझति साँच, न हाँसी॥

वियोग शृंगार के अन्तर्गत जितने भी मनोभाव हो सकते हैं उन सबका वर्णन भ्रमरगीत में है। इस प्रकार सूरदास ने पार्थिव में अपार्थिव की व्यंजना की है।

अन्त में इतना कहना है कि भागवत् के बाद सूरदास ने ही सर्वप्रथम भ्रमरगीत की रचना की, और उसमें इतनी सरसता भरी कि बाद में भी लगभग सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने इस पर कुछ न कुछ लिखा। वास्तव में भ्रमरगीत सूर की अपूर्व देन है।

प्रश्न १०—"वात्सल्य के क्षेत्र का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बन्द आँखों से किया; उतना किसी और कवि ने नहीं, वे इसका कोना-कोना झाँक आये हैं।" इस उक्ति से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

उत्तर—भक्त प्रवर सूरदास ने वात्सल्य-भाव को भी भक्ति में बहुत उच्च स्थान दिया है। वात्सल्य-स्नेह मनुष्य-मात्र की एक सहज प्रवृत्ति है; साथ ही

मनुष्य को संसार में लिप्त कराने के लिए सन्तान का मोह भी एक ऐसा प्रबल कारण है, जिसका अतिक्रमण करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए यह समीचीन है कि इस प्रवृत्ति को भी श्रीकृष्णोन्मुख करके परिष्कृत रूप में प्रस्तुत कर दिया जाय। वार्ता के अनुसार सूर को दीक्षा देते समय महाप्रभु वल्लभाचार्य ने श्रीकृष्ण की बाल-लीला के प्रति ही उनका ध्यान आकृष्ट किया था। आचार्य जी ने बाल-कृष्ण को इष्टदेव के रूप में उपस्थित किया था। उन्होंने कृष्णलीला पर जितना बल दिया उतना अन्य सम्प्रदाय वालों ने न दिया। लीलागान ही उनकी भक्ति थी। फलतः सूरदास ने भी वात्सल्य-भाव के ही पद पर रचकर उन्हें सुनाये थे। इधर श्रीमद्भागवत में भी श्रीकृष्ण की बाल लीला का चित्रण था। सूरदास ने पुष्टि सम्प्रदाय से प्रेरणा तथा भागवत् से आधार लेकर कृष्ण के ब्रह्म रूप और बाल रूप का अत्यन्त विशद, विस्तृत और स्वाभाविक चित्रण किया और उसके द्वारा यशोदा एवं नन्द के वात्सल्य भाव की सरस तथा मधुर अभिव्यक्ति की।

यशोदा-कृष्ण-सम्बन्ध की कथा को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। (१) जब कृष्ण माता यशोदा के समक्ष ब्रज में थे, और (२) जब वे मथुरा चले गये। इनको हम क्रमशः संयोग व वियोग वात्सल्य कह सकते हैं। सूरदास ने इसके दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण किया है। वियोग-वात्सल्य के सम्बन्ध में उनके पद अधिक नहीं, उन्होंने तो संयोग वात्सल्य पर ही अपनी कलम का कमाल दिखाया है। उन्होंने मातृ-हृदय की प्रत्येक स्थिति का बड़ा सूक्ष्म चित्रण किया है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को यशोदा के व्यक्तित्व में मिलाकर श्रीकृष्ण की बाल-लीला में भाग लिया यशोदा-कृष्ण के प्रसङ्ग में ही स्वयं सूर के वात्सल्यपूर्ण हृदय का भी चित्रण हो गया है।

रस की निष्पत्ति में स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव व संचारी भावों की आवश्यकता होती है। वात्सल्य-रस में स्थायी भाव बाल-प्रेम है। आलम्बन बालक; आश्रय माता; उद्दीपन बालक का शारीरिक सौन्दर्य, बुद्धि-कौशल बालकेलि आदि; अनुभाव, प्रसन्नता, हास्य, गोद लेना, चूमना आदि; संचारी भाव-पुलक, स्मृति, हर्ष आदि हैं। सूर ने वात्सल्य-रस के अंग-प्रत्यंग का,

वर्णन किया है। यहाँ आलम्बन कृष्ण हैं; आश्रय यशोदा; उनकी लीलाएँ उद्दीपन; यशोदा का प्रसन्न होकर हँसना आदि चेष्टायें अनुभाव हैं।

सूर का बाल-मनोविज्ञान का ज्ञान उन्हें वात्सल्यरस की सृष्टि में सहायता देता है। यद्यपि बाललीला में कहीं-कहीं अद्भुत रस भी आ गया है पर वह प्रधान नहीं, गौण है, अतएव खटकने वाला भी नहीं। इस सामान्य विवेचन के बाद अब हम सूर के वात्सल्य-रस का आस्वादन करेंगे।

श्रीकृष्ण ने सुन्दर वस्त्र-आभूषण धारण किये हैं। उन्हें देख यशोदा के हृदय में जो सुख उमड़ता है उसके दर्शन कीजिये—

आँगन स्याम नचावहिं यशुमति नंदरानी।
तारी दै दै गावहिं मधुरी मृदुबानी॥
पायन नूपुर बाजई, कटि किंकिन कूजें।
नन्हीं एड़ियन अमलता फल बिम्ब न पूजै॥

× × ×

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसर धूरि घुटुरुवन रेंगनि बोलनि वचन रसाल की॥
छिटकि रही चहुँ दिशि जु लटुरियाँ लटकन लटकत भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कण्ठ कमल दल माल की।
कछु कै हाथ कछु मुख माखन, चितवनि नयन विशाल की।
सूरज प्रभु के प्रेम मगन भईं ढिग न तजति ब्रज बाल की॥

यशोदा या गोपियाँ कृष्ण के इस सौंदर्य को देखकर कृष्ण का सामीप्य नहीं छोड़ना चाहतीं। एक अन्य उदाहरण लीजिए—

किलकत कान्ह घुटुरुवनि आवत।
मणिमय कनक नन्द के आँगन मुख प्रतिबिम्ब पकरिवे धावत।
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह कों करसों पकरन को चित चाहत।
किलकि हंसत राजति द्वै दंतिया पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत॥

इस पद में अपने मुख के प्रतिबिम्ब को देखकर बालकृष्ण का उसे पकड़ने के लिए दौड़ना आदि नैसर्गिक वर्णन हुआ है। सूर की यह अनुपम विशेषता

है कि वह स्वाभाविक बाल दशाओं के चित्रण द्वारा पाठकों के मन में सहज ही रसोद्रेक कर देते हैं।

अब निम्न पद में बालकों को सुनाने का एक दृश्य देखिए—

यशोदा हरि पालने झुलावैं।
हलरावैं, दुलरावैं, मल्हावैं, जोइ सोइ कछु गावैं ॥
मेरे लाल को आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावैं।
तू काहे नहिं बेगहि आवे, तो कों कान्ह बुलावैं ॥
कबहुँ पलक हरि मूँद लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावैं।
सोवत जानि मौन ह्वै ह्वै रहि, करि करि सैन बतावैं ॥
इहि अन्तर अकुलाय उठे हरि, यसुमति मधुरै गावैं।
जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नन्द भामिनि पावैं ॥

बच्चों को सुलाने के लिए गीत गा-गा कर उन्हें पालने में झुलाना और धीरे-धीरे थपकी देना अचूक साधन है। यशोदा भी यही कर रही हैं। इसमें घरेलू बातें हैं। बात सामान्य सी है, पर इसी सामान्य का सूर ने कितनी सजीवता से वर्णन किया है।

सूरसागर में ऐसे दृश्यों की कमी नहीं, जिन्हें देख-देख दर्शक तृप्त नहीं होते। बाल-दशा के न जाने कितने विभिन्न रूप सूर को अपनी बन्द आँखों से दिखाई देते थे। एक और चित्र देखिए। बालकृष्ण आँगन में घुटनों के बल चल रहे हैं। नन्दरानी उन्हें देखती हैं। कृष्ण कभी हँसते हैं, कभी गिर पड़ते हैं। नन्द इस दृश्य को देख परम आनन्दित होते हैं।

माता मन में अभिलाषा करती थी कि कृष्ण पैरों से चलने लगें। आज अपनी उस अभिलाषा को पूर्ण होता देख मन में प्रसन्न होती हैं। कृष्ण की शोभा भी 'बरनी' नहीं जाती—

कान्ह चलत पग द्वै द्वै धरनी।
जो मन में अभिलाष करत ही सो देखत नन्द घरनी ॥
रुनुक झुनुक नूपुर बाजत पग यह है अति मन हरनी।
बैठि जात पुनि उठत तुरत है यह छबि जात न बरनी ॥

श्रीकृष्ण की बाल-छवि का एक और चित्र देखिए—

शोभित कर नवनीत लिए ।
घुटुरुन चलत, रेनु तनु मंडित, मुख दधि लेप किए ।।

× × ×

मेरी माई ऐसो हठी बाल गोविन्दा ।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन को माँगें चन्दा ।।

श्री कृष्ण की इस बाल-छवि में जहाँ अनुपम शारीरिक सौन्दर्य प्रकट हुआ है, वहाँ उसमें आन्तरिक बुद्धिचातुर्य भी कम नहीं। कृष्ण एक दिन सन्ध्या समय माखन-चोरी के लिए एक घर में घुस गए। दही की मटकी में हाथ डाला ही था कि गोपी ने आकर पकड़ लिया। गोपी कहती है—

स्याम कहा चाहत से डोलत ।
बूझ हुते बदन दुरावत सूधे बोल न बोलत ।।
सूने निपट अँधियारे मन्दिर दधि भाजन में हाथ ।
अब कहि कहा बनै हौ उत्तर कोऊ नाहिं न साथ ।।

कृष्ण अपने सहज बुद्धि-चातुर्य से उत्तर देते हैं—

मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोके में आयो ।
देखत ही गोरस में चींटी काढ़न कौं कर नायो ।।

यह उत्तर सुनकर गोपी मुस्कराने लगी—

सुनि मृदु बचन निरखि मुख शोभा ग्वारिन मुरि मुस्कानी ।

कृष्ण ने माखन चोरी की। मौके पर पकड़े भी गये। अब उसे छिपाना भी है। अपनी माखन चोरी को कृष्ण किस भाँति छिपाते हैं, इसका भी एक उदाहरण देखिये—

मैया मैं नाँहि माखन खायो ।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ।।
देखि तुही छींके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो ।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो ।।
मुखि दधि पोंछ कहत नन्द नन्दन दोना पीठि दुरायो ।
डारि साँटि मुस्काई तबहीं गहि सुत को कण्ठ लगायो ।।

एक बार कृष्ण बलदाऊ के साथ खेलने चले गए। खेलते-खेलते दोनों में झगड़ा हो गया और बलराम कह बैठे "तुझे तो दाई को पैसे देकर मोल लिया है।" यह सुन कृष्ण रोते माँ के पास आए और कहने लगे—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीनों तू जसुमति कब जायौ॥
कहा कहौं इहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरौ तात॥
गोरे नन्द जशोदा गोरी तू कत स्याम सरीर।
चुटकी दे दे हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर॥

× × ×

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहि देखत लरिकन संग तबहि खिजत बल भैया॥
मोसों कहत पूत बसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लयो कछु दै बसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई जनमत ही को धूत॥
सूर स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥

मातृ-हृदय की अभिव्यंजना जितनी इसमें हुई है शायद ही कहीं अन्यत्र हो। गोपियाँ नित्य यशोदा को कृष्ण की चोरी का उलाहना देती थीं। एक दिन माता ने उन्हें ऊखल से बाँध दिया। जब वे हिचकियाँ भर-भर कर रोने लगे तो गोपियाँ यशोदा को निष्ठुर कहने लगीं। इस पर यशोदा कहती हैं—

कहनि लगी अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरों तुमहि बँधायो, तनिकहि माखन खात॥

× × ×

मेरो लाल को प्राण खिलौना ऐसे को ले जैहै री।
नेंक सुनत जो पैहों ताकों सो कैसे ब्रज रहिहै री॥

मातृ हृदय की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है इस पद में।

यह तो हुई कृष्ण के ब्रज में रहने तक की बात। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर माता यशोदा कृष्ण की जो याद करती हैं और उसमें अपने को

घुला देती हैं, उससे वत्सलता की रही-सही कमी भी पूर्ण हो जाती है। वे कृष्ण से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं को देख उन्हें स्मरण करती है और कहती हैं—

मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब वैसे ही धर्‌यो रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन, कौ कर नेत गहै॥
सूने भवन यशोदा सुत के गुनि-गुनि सूल सहै।

× × ×

निसि बासरि छतियाँ लै ल्याऊँ,
बालक लीला गाऊँ॥
वैसे भाग बहुरि फिरि ह्वै हैं,
मोहन मोद खवाऊँ॥

मातृ-हृदय का अन्य उदाहरण देखिये। यशोदा मथुरा जाने वाले एक पथिक से कहती है—

संदेश देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की दया करति ही रहियो॥
यद्यपि टेव जानति तुम उनकी तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावै।
तेल उबटनों अरु तातो जल ताहि देख भजि जाते।
जोइ-जोइ माँगत सोइ-सोइ देती क्रम-क्रम करि-करि न्हाते॥

वात्सल्य रस के अन्तर्गत यशोदा के हृदय का जो इतना चित्रण हुआ है उसका कारण यह है कि वात्सल्य का पूरा-पूरा अनुभव मातृ-हृदय को ही होता है। कृष्ण के सयोग व वियोग दोनों अवस्था में कृष्ण उनके प्राण हैं। संयोग के अवसर पर उन्हें वियोग की तनिक भी चिन्ता नहीं और वियोग में उनके गुणों को भूल नहीं पातीं। उनका वात्सल्य जब पूर्णता को प्राप्त होता है तो वह पति-प्रेम से भी ऊपर उठ जाती हैं। वे नन्द को उलाहना देती हैं, कि उन्होंने भी दशरथ के पथ का अनुसरण क्यों नहीं किया। सूरदास की ही यह श्रेष्ठता है कि वे इस भाव को पूर्णतया अभिव्यक्त करने में सफल हुए। इस प्रकार

हम निसन्देह कह सकते हैं कि सूर ने वात्सल्य का कोना-कोना झाँका है और उसका उद्घाटन पूर्णता से किया है।

प्रश्न ११—भारतीय साहित्य में राधा के व्यक्तित्व के विकास पर अपने समीक्षात्मक विचार प्रकट कीजिए।

उत्तर—आज जो राधा हमारे जीवन में इतना घुल-मिल गई है, उसके सम्बन्ध में भागवत में भी कुछ उल्लेख नहीं मिलता। अन्य पुराणों में भी उसका नाम नहीं आया। हाँ, भागवत के दशम स्कंध में एक गोपी का नाम अवश्य आया है जो श्रीकृष्ण को सर्वाधिक प्रिय थी। रासलीला में जब श्रीकृष्ण गोपियों का गर्व दूर करने के लिए अन्तर्ध्यान हो गए, तब उन्होंने श्रीकृष्ण की बहुत खोज की। वे नहीं मिले फिर उन्हें एक स्थान पर चरण-चिन्ह दिखाई दिए उन्होंने निश्चय किया कि यह चरण-चिन्ह कृष्ण के ही हैं। निकट जाकर जब उन्होंने देखा तो उन चरण-चिन्हों के साथ उनको किसी ब्रज-युवती के चरण-चिन्ह भी दीखे। वे व्याकुल हो गईं और कहने लगीं—

अनायाऽऽराधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रोतो यामनमद् रहः॥

अर्थात् अवश्य इस गोपी ने भगवान् की आराधना की है जो कृष्ण हमें छोड़ कर उसे साथ ले गये हैं।

उक्त उद्धरण से यह प्रतीत होता है कि वह गोपी कृष्ण की बहुत प्रिय थी। परन्तु भागवत् में उसका नाम कहीं नहीं दिया गया है। सम्भव है इसके अनन्तर किसी कवि ने "आराधितः" शब्द से राधा की कल्पना कर ली हो। वैसे भी "आराधितः" से राधा का अर्थ लेना कठिन कार्य नहीं।

एक विचार यह भी है कि यहाँ शिव-पार्वती की पूजा प्रचलित थी, उसी के आधार पर विष्णु व लक्ष्मी की भी पूजा होने लगी। बाद मे विष्णु का सम्बन्ध कृष्ण के साथ भी स्थापित हुआ—उनके विष्णु का अवतार होने के कारण—इसी आधार पर लक्ष्मी को निम्बार्क स्वामी ने वृषभानुजा राधा कह कर, कृष्ण की शाश्वत पत्नी के रूप में उपस्थित किया।

'राधा' शब्द की उत्पत्ति के विषय में डा० भण्डारकर कहते हैं कि राधा सीरिया के आभीरों की इष्टदेवी है। आभीरों के यहाँ बस जाने पर उनके

बाल-गोपाल सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण के साथ सम्मिलित हो गये और कुछ शताब्दियों के अनन्तर आभीरों की इष्टदेवी राधा भी आर्य जाति में स्वीकार कर ली गई। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में बाल-गोपालों की लीला तो मिलती है, पर राधा का नाम नहीं मिलता। पर इस मत को हम मान्यता नहीं दे सकते, कारण इस देश के किसी भी ग्रन्थ में अहीरों को बाहर से आया स्वीकार नहीं किया गया है। अधिक से अधिक उन्हें द्रविड़ वंश से सम्बद्ध क्षत्रिय माना जा सकता है। यदुवंशी क्षत्रियों से इनका पर्याप्त सम्बन्ध है। हो सकता है दक्षिण के अहीरों में पहले राधा का प्रचार हुआ हो और बाद मे कृष्ण-भक्ति के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ गया हो।

राधा का नाम सर्वप्रथम ब्रह्मवैवर्त पुराण में आता है। कतिपय विद्वानों के मत में यह पुराण अपने रूप में बहुत बाद को लिखा गया है। इस पुराण में आये कुछ शब्द मोदक, जोला आदि बङ्गाल में प्रचलित जातियों के नाम हैं। बङ्ग देशीय वैष्णव भक्तों पर ही इस पुराण की राधाकृष्ण सम्बन्धी पूजा का सर्वप्रथम सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। इस पुराण ने भक्ति के रूप को ही बदल दिया। राधा के चरित्र की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठापना करने का श्रेय भी इसी पुराण को है। भक्ति के इस परिवर्तित रूप ने बंगीय वैष्णव धर्म को माधुर्य-प्रधान बना दिया। जयदेव ने इसी नूतन वैष्णव धर्म का अवलम्बन लेकर गीत-गोविन्द की रचना की। महात्मा चैतन्य ने भी धर्म की इसी अभिनव धारा का आश्रय लेकर मधुर रस-पूर्ण रामानुजा-भक्ति का प्रचार किया।

इस अभिनव धर्म का बीज सांख्य-शास्त्र के पुरुष-प्रकृतिवाद में था, जो शिव व शक्ति के रूप में तंत्रमत में स्वीकार हुआ। शक्तिवाद के कारण विद्वान् व जन-साधारण दोनों इसके प्रति अधिक आकृष्ट हुए। वैष्णवों का विशिष्टा-द्वैतवाद सम्भवतः बंगीय भक्तों को संतुष्ट न कर सका। इसी कारण इस मत को ब्रह्मवैवर्त में स्वीकार करा लिया गया। ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्री कृष्ण ने राधा को अपना अर्द्धांश और मूल प्रकृति कहा है। आगे चलकर तो राधा और कृष्ण में कोई भेद ही नहीं रह गया, दोनों एक बन गए।

"ममार्द्धांश स्वरूपात्वं मूल प्रकृतिरीश्वरी।"

× × ×

"यथा त्वया बिना सृष्टि न च कर्तुं माहं क्षमः ।
सृष्टोराधार भूता त्वं बीज रूपोहम् च्युतः ।"

अर्थात् राधा सृष्टि का आधार है और कृष्ण अविनश्वर बीज रूप है ।

महात्मा सूरदास ने भी राधा-कृष्ण में अभेद की स्थापना की है । इन पंक्तियों को देखिए—

प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायौ ।"

ऐसा प्रतीत होता है कि नवीन वेदान्त के मायावाद के मूल में यही प्रकृतिवाद है, जो तन्त्रमत में शक्तिवाद के रूप में स्वीकृत हुआ । बाद में यही शक्ति श्री और राधा बनी ।

ब्रह्मवैवर्तकार ने राधा शब्द की व्युत्पत्ति दो रूप से मानी है । एक है—

रासे संभूय गोलोके रधाव हरेः पुरः ।
तने राधासमा ख्याता पुराविद्‌भिः द्विजोत्तमः ।

अर्थात वह गोलोक में रास में प्रकट हुई, हरि के आगे-आगे गई । अतः 'रा' और 'धा' से 'राधा' शब्द बना ।

× × ×

धा निर्णारांच तद्दात्री च तेन राधा प्रकीर्तिता ।

अर्थात् वह निर्माण को देने वाली है, अतः राधा हुई । ब्रह्मवैवर्त में तो राधा का विवाह भी वर्णित है ।

ब्रह्मवैवर्त में जहाँ राधा और कृष्ण में अभेद-सम्बन्ध स्थापित किया गया है, वहाँ राधा को कृष्ण की पूरक शक्ति भी कहा गया है । जैसे मिट्टी के बिना कुम्भकार कार्य नहीं कर सकता, ऐसे ही कृष्ण भी राधा के बिना कार्य नहीं कर सकते । कृष्ण का अस्तित्व राधा के आश्रय से है । अतः राधा ही सब कुछ है । इसलिए मध्वाचार्य की शिष्य-परम्परा में हितहरिवंश जी ने राधा-स्वामी सम्प्रदाय की स्थापना की व उसमें राधा के ही महत्व को स्वीकार किया । इस प्रकार धीरे-धीरे राधा का चरित कृष्ण से भी प्रधान हो गया । कविवर बिहारी ने अपनी सतसई के आरम्भ में राधा की ही आराधना की है—

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागर सोय।
जा तन की झाँई परै, स्यामु हरित दुति होय ॥

प्रश्न १२—सूरदास के दार्शनिक विचारों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि डालिए।

उत्तर—सूरदास भक्त-हृदय कवि थे। दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करना उनका लक्ष्य नहीं था। दार्शनिकता की विवेचना के लिए उनके गुरुदेव उपस्थित ही थे। उनका संस्कृत-साहित्य का ज्ञान भी बहुत अल्प था। संस्कृत के ज्ञान के अभाव के कारण वे दर्शन-शास्त्रों का अध्ययन भी नहीं कर सके। भागवत की कथा भी उन्होंने स्वयं नहीं पढ़ी, प्रत्युत् महाप्रभु वल्लभाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने के अनन्तर आचार्यजी ने भागवत की अनुक्रमणिका उन्हें सुनाई। पुष्टि-मार्ग के धार्मिक सिद्धान्त भी उन्होंने महाप्रभु से ही सुने थे। समय-समय पर सम्प्रदाय की बैठक में दार्शनिक तत्वों का जो विवेचन होता था उसे भी उन्होंने आचार्य महाप्रभु के मुख से ही सुना था। इस विषय में सूरदास जी स्वयं कहते हैं—

माया काल कछू नहिं व्यापै, यह रस रीति-जु जानी।
सूरदास यह सकल सामग्री, गुरु प्रताप पहिचानी ॥

यही कारण है कि हम उनके अनेक पदों में उच्च कोटि के दार्शनिक सिद्धान्त पाते हैं जिसमें माया, ब्रह्म आदि का निरूपण हुआ है।

सूरदास वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग में दीक्षित थे, जिनके दार्शनिक मत को शुद्धाद्वैत कहते हैं। अतः उनके दार्शनिक सिद्धान्तों में भी महाप्रभु के पुष्टिमार्ग का प्रभाव है। वल्लभाचार्य जी के मतानुसार श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं। परब्रह्म और कृष्ण में कुछ भी अन्तर नहीं। इनके गुण सत, चित, आनन्द और रस हैं। उन्हीं से जीव व प्रकृति की उत्पत्ति हुई। जीव में कृष्ण के सत व चित गुणों का प्रादुर्भाव हुआ, किन्तु आनन्द तिरोभूत रहा। इसी प्रकार जड़ प्रकृति में केवल सत तत्व का प्रादुर्भाव हुआ और चित तथा आनन्द तिरोभूत रहे। वस्तुतः तीनों तत्वों की यह विभिन्नता जीव, प्रकृति और परमात्मा के भेदों का कारण है। इसमें माया का कोई हाथ नहीं। उनके मत में जीव भी उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म। जीव ब्रह्म में कोई विभेद नहीं। दोनों एक हैं।

अंश मात्र होने के कारण जीव की शक्ति परिमित है और पूर्ण होने के कारण ब्रह्म की शक्तियाँ अपरिमित हैं। जीव के समान ही प्रकृति भी ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। आनन्द तथा सत् के तिरोभाव से उसका विकास सम्भव है।

मुक्ति के सम्बन्ध में विचार करते हुए वल्लभाचार्य जी ने आत्मायें तीन प्रकार की मानी हैं (१) मुक्ति योगिन्, (२) नित्य संसारिन, (३) तमोयोग। नित्य संसारिन आत्मा की मुक्ति नहीं होती। तमोयोग आत्मायें इनसे भी निकृष्ट हैं। मुक्ति योगिन आत्मायें ही ऐसी आत्मायें हैं जो मुक्ति प्राप्त कर पाती हैं। मुक्ति योगिन आत्मायें भी बिना परब्रह्म के अनुग्रह के मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकतीं। इसी अनुग्रह का नाम ही महाप्रभु ने 'पुष्टि' रखा है। उनका विचार है कि भक्ति और अनुग्रह द्वारा मुक्ति ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। वल्लभाचार्य जी ने पुष्टि चार प्रकार की बताई है—प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि, तथा शुद्ध पुष्टि।

'प्रवाह पुष्टि' के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी श्रीकृष्ण की भक्ति करता है। 'मर्यादा पुष्टि' के अनुसार भक्त संसार के समस्त सुखों से अपना हृदय खींच लेता है और श्रीकृष्ण के गुणगान एवं कीर्तन द्वारा उनकी भक्ति करता है। 'पुष्टि-पुष्टि' में श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है। किन्तु साथ ही भक्त की साधना भी बनी रहती है। 'शुद्ध पुष्टि' में भक्त भगवान पर पूर्णतः आश्रित हो जाता है? भगवान उस पर अनुग्रह करते हैं। इस अनुग्रह के प्राप्त होने पर भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतनी अनुभूति उत्पन्न होती है कि वह भगवान् की लीलाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वल्लभाचार्य जी के सम्प्रदाय में इसी (शुद्ध पुष्टि) को परमोच्च माना गया है।

माया के विषय में आचार्य महाप्रभु के विचारानुसार परमात्मा से आत्मा और प्रकृति का विकास होने में माया का हाथ नहीं। माया जिस प्रकार पारमार्थिक सत्ता को हमारी दृष्टि से छिपा देती है उसी प्रकार उससे मिलने में भी सहायता देती है। श्री शंकराचार्य के मतानुसार जीवात्मा तथा परमात्मा में भिन्नता माया के कारण दिखाई पड़ती है, वास्तव में यह नानात्व मिथ्या है। किन्तु आचार्य वल्लभ के अनुसार जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता सत्य है

और इस भिन्नता का कारण भी परमात्मा ही है। वल्लभाचार्य ने माया को ब्रह्म की शक्ति कहा है—

"या जगत् कारण भूता भगवच्छक्ति, सा योन माया।"

संक्षेप में महाप्रभु के यही दार्शनिक सिद्धान्त हैं।

जब हम वल्लभाचार्य और सूरदास के सिद्धान्तों को देखते हैं तो पता चलता है कि सूरदास ने आचार्य महाप्रभू के सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन नहीं किया। वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में आविर्भाव, तिरोभाव जैसे पारिभाषिक शब्द स्थान-स्थान पर आये हैं। किन्तु सूरसागर में नहीं। जहाँ महाप्रभु ने माया की तुलना "कनक कपिश वस्त्र" से की है वहाँ सूरदास ने उसे "काली कमरी" माना है। सूरदास ने राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना है जबकि महाप्रभु के सिद्धान्तों में राधा का कोई स्थान नहीं।

आचार्य वल्लभ के दार्शनिक विचारों को देख लेने के बाद अब हम सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

सूरदास के कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। सगुण भी और निर्गुण भी। भगवान स्वयं कहते हैं—

को माता को पिता हमारे।
कब जनमत हमको तुम देख्यो। हँसी लगत सुनि बात तुम्हारे।

सूरदास भी कहते हैं।

पिता मात इनके नहीं कोई।
आपुहि करता आपुहि हरता निरगुण गये ते रहत हैं जोई॥

सूरसागर में कई स्थानों पर विष्णु, हरि आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और इनकी वन्दना भी हुई है। उन्होंने राम को भी उतना ही महत्व दिया है जितना कि कृष्ण को, किन्तु राम कथा का विस्तार उन्होंने नहीं किया। वस्तुतः विष्णु, हरि, राम ये सब कृष्ण के ही नाम हैं। ये निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूपों के नाम हैं। वास्तव में विष्णु त्रिदेवों—ब्रह्मा, विष्णु, महेश—में से एक देव समझे जाते हैं, किन्तु सूरदास के विष्णु परब्रह्म ही हैं जो वास्तव में श्रीकृष्ण हैं। सूरदास के श्रीकृष्ण मूल रूप में निर्गुण हैं, किन्तु साधारण जनों के लिए

उस अगम, अगोचर के रूप की कल्पना करना असम्भव है। इसी से सूरदास ने सगुण उपासना को अपना ध्येय बनाया।

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥

× × ×

रूप, रेख, गुन, जाति, जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुण लीला पद गावै॥

यदि हम सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों का अवलोकन करें तो प्रतीत होता है कि उन्होंने कृष्ण के दो रूप हमारे सामने रखे हैं—निराकार व साकार—वास्तव में कृष्ण पूर्ण पुरुष और निराकार हैं, किन्तु भक्तों के लिए वे लीला-रूप धारण कर लेते हैं। इस प्रकार भक्तों की भावना से निर्गुण सगुण हो जाता है।

सूरदास ने माया का वर्णन तीन प्रकार से किया है। (१) माया का दार्शनिक रूप, (२) माया का सांसारिक रूप, और (३) माया का राधा रूप। वल्लभाचार्य के समान ही सूरदास भी मानते हैं कि माया ब्रह्म के वश में है। "सो हरि माया जा बस माहीं।" सूर के मतानुसार माया की सत्ता ब्रह्म से पृथक नहीं है। वह प्रलय के बाद उसी के पदों में समा जाती है। वह ब्रह्म का ही अंश है। पर माया का त्रिगुणात्मक रूप ही ब्रह्म को आवृत्त कर लेता है। सत्य को भुलावा देकर माया असत् (अविद्या) को उत्पन्न करती है। जीवात्मा माया के आवरण को ही सत्य समझती है, यही अविद्या है। अतः माया का दूसरा नाम सूर ने 'अविद्या' रखा है। उन्होंने "सूरदास की सबै अविद्या दूर करो नन्दलाल" कहकर इसी ओर सकेत किया है, किन्तु जहाँ इस अविद्या का कोई आधार नहीं, भगवान् उसे लीला-मात्र के लिए ओढ़ लेते हैं, वहाँ सूर ने उसे भगवान की भक्ति का दृढ़ आधार कहा है—

यह कारी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति।
या कमरी के एक रोम पर वारौं चीर नील पाटंबर।
सो कमरी तुम निन्दति गोपी जो तीन लोक आडम्बर।

कमरी के बल असुर सँहारे कमरिहिं तें सब भोग ।
जाति पाँति कमरी सब मेरी 'सूर' सबहि यहु योग ।।

कृष्ण की कमरी कितनी रहस्यमयी है ? तीनों लोक उसी कमरी से ढके हुए हैं । कमरी ही की शक्ति असुर-संहार और रसानन्द लीलाओं में निहित है । कमरी ही योग है, कमरी ही भोग, कमरी ही शक्ति और कमरी ही कृष्ण को समझने की कुन्जी है । यह कमरी कृष्ण की रहस्यमयी योगमाया है जिसे हम अपनी बुद्धि से विभिन्न रूपों में समझते हैं ।

सूर ने इस अविद्या (माया) का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

माधव जू मेरी इक गाई ।
अब आजु तैं आपु, आगे दई ले आइये चराई ।।
है अति हरिहाई हरकत हू बहुत अमारग जाति ।
फिरत वेद बन ऊख उखारत सब दिन अरु सब राति ।।

इसी के कारण वेदों पर भी तर्क करती है, जो वर्जित है ।

माया का दूसरा रूप सांसारिक माया है । वह माया का मोहकारी रूप है, जो नारी के सौंदर्य के रूप में विशेषतः विकसित होता है । इससे भक्त की साधना में बाधा उपस्थित होती है । यह माया का उच्छृङ्खल व उत्पाती रूप है । सूर ने इसको गाय का रूपक दिया है—

माधव जू नेकु हरको गाइ ।
निसि वासर यह इत उत भरमति अगह गही नहिं जाइ ।।

माया की भाँति ही राधा भी कृष्ण की शक्ति है । वस्तुतः राधा माया का अनुग्रहकारी रूप है । जिस प्रकार त्रिपदों के साथ तीनों शक्तियाँ—सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती—का सम्बन्ध है, उसी प्रकार राधा का कृष्ण के साथ शाश्वत सम्बन्ध है । राधा-कृष्ण के दार्शनिक सम्बन्ध का वर्णन निम्न पद्य में देखिए—

ब्रजहिं बसैं आपुहि बिसरायौ ।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायो ।

× × ×

तब नागरि मन हरख भई ।

नेह पुरातन जानि स्याम को अति आनन्द भई ।।

प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूलि गई ।।

इसीलिए सूरदास राधा से भक्ति का वरदान माँगते हैं। इस दार्शनिकता में राधा की कल्पना सूर की अपनी मौलिकता है।

सूर के मत से मुक्ति का साधन केवल सच्ची भक्ति है। उन्होंने अपनी रचनाओं में कहीं भी पुष्टि व मर्यादा का नाम नहीं लिया है, पर उनकी भक्ति-पद्धति को देख यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उनके ऊपर आचार्य वल्लभ का पूरा प्रभाव है। मनुष्य के अन्दर काम, क्रोध आदि अनेक दुर्बल प्रवृत्तियाँ हैं—वे भगवान् के अनुग्रह से ही दूर हो सकती हैं। सूर की मुक्ति की कल्पना शुद्धाद्वैत की है। वे सायुज्य मुक्ति नहीं चाहते। उन्हें तो सान्निध्य मुक्ति चाहिए, जिसमें जीव अपनी सत्ता बनाए रखता है। संक्षेप में यही सूर के दार्शनिक विचार हैं।

प्रश्न १३—सिद्ध कीजिए कि सूरदास ने प्रकृति के विशुद्ध रूप का चित्रण किया है।

उत्तर—सूरसागर में उस नटनागर की लीला है, जिसने ब्रज की उन्मुक्त प्रकृति को अपनी क्रीड़ा-भूमि बना रक्खा था। कृष्ण की रङ्गस्थली ही यह ब्रज-भूमि है। वे द्वादश वर्ष पर्यन्त ब्रजभूमि के निकट बहती हुई यमुना के पावन पुलिन, करील कुन्ज, कदम्ब और लता-वृक्षों के पास खेलते रहे। श्रीकृष्ण का स्मरण होते ही करील और कदम्ब का भी स्मरण हो आता है और यमुना तट के उन निकुन्जों को देखते ही बंशीवाला बिहारी मानस-चक्षुओं के सम्मुख नृत्य करने लगता है। श्रीकृष्ण से सम्बद्ध होने के कारण सूरदास का भी ब्रजभूमि और उसकी प्रकृति से प्रेम होना आवश्यक था। जहाँ कहीं भी सूर ने प्रकृति का वर्णन किया है ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उसकी मनोवृत्ति तन्मय होकर क्षण-क्षण में अभिनव रूप धारण करने वाली उस रूप रमणीयता का दर्शन-सुख लूट रही है। गोपियाँ कहती हैं—

गोपी कहति धन्य हम नारि।
धनि-धनि ग्वाल, धन्य वृन्दावन, धन्य भूमि यह अति सुखकारी॥
धन्य दान, धन्य कान्ह मँगैया, धन्य सूर तृण, द्रुम बन डारी।

हिन्दी काव्य में प्रकृति का पहला विशद् वर्णन सूर काव्य में मिलता है। उसके कई कारण हैं। उन कारणों में पहला कारण यह है कि वह श्रीकृष्ण की लीला-भूमि है। श्रीकृष्ण ने वहाँ गौयें चराईं, रास रचाया जिनमें प्रकृति का भी विशेष हाथ रहा है। दूसरे, सूरदास का जीवन स्वयं भी प्रकृति के निकट था। उनका भी अधिकांश समय यमुना तट और ब्रंजभूमि में ही बीता। तीसरा कारण यह है कि वल्लभाचार्य ने भी ब्रजभूमि की महत्ता स्यापित कर दी थी। उन्होंने भी श्रीनाथ जी की स्थापना के लिए वही स्थान चुना था। लीला-नायक श्रीकृष्ण की जन्म-भूमि होने के अतिरिक्त यह पुष्टिमार्गी भक्तों की इष्टदेव मूर्ति का निवास-स्थान भी था। ये ही कारण हैं जिनसे सूर ने ब्रज-प्रकृति को अपने काव्य में स्थान दिया। एक बात और ध्यान रखने की है कि सूर ने अपने चरित्र नायक श्रीकृष्ण को अलग रख उनकी लीला-भूमि का कहीं भी चित्रण नहीं किया। उनके काव्य में पात्र और ब्रजमण्डल तथा प्रकृति सब मिल कर एकाकार हो गए हैं।

सूर ने प्रकृति-वर्णन निम्नलिखित रूपों में किया है—

(क) प्रकृति का विषयात्मक चित्रण।
(ख) प्रकृति का अलंकृत चित्रण।
(ग) कोमल व भयङ्कर रूप।
(घ) मानव क्रिया-कलाप की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति।
(ङ) अलङ्कारों के रूप में प्राकृतिक दृश्यों का प्रयोग।

(क) प्रकृति का विषयात्मक चित्रण—इस रूप में सूर ने प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन अन्य बातों से असम्बद्ध होकर किया है। प्रकृति ऐसे स्थलों में अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट हुई है। निम्न पद्य में प्रभात-वर्णन देखिए—

चिरई चुहचुहानी, चन्द की ज्योति परानी,
रजनी विहानी, प्राची पियरी प्रमान की।

तारका दुरानी, तम घटे, तम चुर बोले,
श्रवण भनक पड़ी ललित के तान की ।।
भृङ्ग मिले भारजा, बिछुरी जोरी कोक मिले,
उतरी पनच अब काम के कमान की ।
अथवत आये गृह बहुरि उवत भान,
उठौ प्राणनाथ महा जान मणि जानकी ।।

ब्रह्म मुहूर्त में चिड़ियाँ चहचाती हैं, चन्द्र की ज्योति क्षीण हो जाती है, पूर्व दिशा कुछ पीलिमा लिए होती है, चकवा चकवी की बिछुड़ी जोड़ी मिल जाती है। बिना अलंकारों का अवलम्ब लिए ही इन बातों का उक्त पद में वर्णन हुआ है।

निम्न पद में वर्षा का वर्णन देखिए—

माधव मेघ घेरि कित आयो ।
घर कों गाय बहोरौ मोहन ग्वालन टेर सुनायो ।।
कारी घटा सधूम देखियत अतिगति पवन चलायो ।
चारों दिशा चितै किन देखी दामिन कोंधा लायो ।।

नीचे लिखी पंक्तियों में वसन्त ऋतु का वर्णन अन्य वस्तुओं से कितना असम्बद्ध और अपने शुद्ध रूप में हुआ है—

सरिता शीतल बहत मन्दगति रवि उत्तर दिशि आयो ।
अति रसभरी कोकिला बोली विरहिन विरह जगायो ।।
द्वादश बन रतनारे देखियत चहुँ दिशि टेसू फूले ।
मौरे अँबुआ अस द्रुम बेली मधुकर परिमल भूले ।।

प्रकृति का ऐसा शुद्ध वर्णन अन्य कवियों की रचनाओं में प्राप्त नहीं होगा।

(ख) प्रकृति का अलंकृत चित्रण—इस रूप में सूर ने प्राकृतिक दृश्यों को आलङ्कारिक शैली में प्रकट किया है। प्रभात समय में दही बिलोने की घर्र-घर्र ध्वनि मेघ-ध्वनि का अनुकरण करती हुई ब्रज के ग्राम-ग्राम व घर-घर में फैल जाती है। देखिए—

घूमि रहे जित तित दधि मथना, सुनत मेघ ध्वनि लाजै री।

निम्न पद में प्रकृति स्वयं मूर्तिमती युवती बन गई है। उत्प्रेक्षा द्वारा यहाँ उसका युवती-रूप प्रकट किया है। देखिए बसन्त का कितना सुन्दर चित्रण है—

राधे जू बरणों बसन्त।
मानहुँ मदन विनोद विरहत नागरी नव कन्त।
मिलत सन्मुख पटल-पाटल भरत मान जुही॥
बेलि प्रथम समाज कारण मेदिनी कच-गुही॥
केतकी कुच कलस कंचन गरे कंचुकि करी।
मालती मद चलित लोचन निरखि मृदु मुख हँसी॥

उत्प्रेक्षा के साथ ही इसमें अनुप्रास की छटा भी देखने योग्य है।

(ग) प्रकृति का कोमल और भयंकर रूप—विश्व का प्रत्येक पदार्थ अपने दो पार्श्व रखता है, वाम व दक्षिण, कोमल व भयङ्कर। प्रकृति के भी यही दोनों रूप हैं। प्रातःकाल की अरुणिमा और संध्याकालीन लालिमा में उसका कोमल रूप प्रकट होता है, किन्तु रात्रि की नीरवता व तमोमयता में एवं मध्यान्ह काल के प्रखर ताप में उसका भयङ्कर रूप दृष्टिगोचर होता है। जन-साधारण को भी प्रकृति के ये दो रूप दिखाई देते हैं तो साधारण मानव से अधिक भावुक कवि का तो कहना ही क्या ? प्रकृति का कोमल रूप देखिए—

नवबल्ली सुन्दर नवतमाल। नव कमल महा नव रसाल।
नव पल्लव बहु सुमन रङ्ग। द्रुमबल्ली तम भयो अनंग।
भँवरा भँवरी भ्रमत संग। यमुन करति नाना तरङ्ग।

प्रकृति के कोमल वर्णन में वर्षा के भयंकर रूप का वर्णन देखिए—

गगन गरजि घहराइ जुरी घटा कारी।
पवन झकझोर चपला चमकि चहुँ ओर।
सुवन तन चितै नन्द डरत भारी।
कह्यो वृषभानु को कुँवरि सो बोलिकै।
राधिका कान्ह घर लिये जा री।
ऐसे बावर सजल, करति अति महाबलि।

चलत घहरात करि अन्ध काला।
चकित भये नन्द, सब महा चकित भये,
चकित नर नारि हरि हरत ख्याला ॥
घटा घनघोर, घहरात, आरात,
दरारात, सररात ब्रज लोग डरपैं।
तड़ित आघात तररात, उतपात,
सुनि नारि सकुचित तनु प्राण आपैं ॥

उक्त पद में वर्षा के भयंकर रूप का चित्र खींचा गया है। ऐसा अनुभव होता है मानो वर्षा हो रही हो।

(घ) मानव क्रिया-कलाप की पृष्ठ-भूमि के रूप में—इस विषय में भी प्रकृति के दो रूप होते हैं। एक में वह मानव-क्रीड़ा के लिए परिस्थिति को सजाती है तथा दूसरे में मानव-क्रीड़ा में भाग लेती है। इन दोनों रूपों में ही वह मानव की सहयोगिनी होती है। प्रकृति दूसरे रूप में वेदना-व्यथित हृदय की अनुभूति होती है। पृष्ठभूमि के निर्माण की बात निम्न पद में देखिये—

आज निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै रोम-रोम सुखदाई ॥
यमुना पुलिन पुनीत परम रुचि मण्डली बनाई।
राधा वाम अङ्ग पर कर धरि मध्यहि कुँवर कन्हाई ॥

निम्न पद में प्रकृति मानव से होड़ करती हुई दिखाई देती है—

अद्भुत कौतुक देखि सखी री, श्री वृन्दावन होड़ परी री।
उत घन उदित सहित सौदामिनी, इतहि मुदित राधिका हरी री।
उत बग पाँति शोभित इत सुन्दर धाम विलास सुदेश खरी री ॥
जहाँ गरज घन इहाँ ध्वनि मुरली जलधर इत उत अमृत भरी री ॥
इतहि इन्द्रधनु उत बन माला अति विचित्र हरि कंठ धरी री ॥

(ङ) अलंकारों के रूप में प्रकृति का चित्रण—अलंकारों के रूप में प्रकृति का प्रयोग सूरसागर में अनेक स्थलों पर हुआ है। सूर ने प्राय: उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और रूपकातिशयोक्ति से ही भावों का व्यंजन किया है। प्रत्यक्ष रूप से इनसे प्राकृतिक दृश्यों की छटा भी अंकित हो गई है। निम्न पद में रूपक

अलंकार द्वारा दृष्टि के बहाने सरिता का सम्पूर्ण दृश्य उपस्थित किया गया है।

चितवन रोकेहू न रही।
स्याम सुन्दर सिन्धु सन्मुख सरित उमंग बही ।।
लोल लहर कटाच्छ घूँघट पट करार ढही।
थके पल पथि नाव धीरज परति नहिं न गही ।।

उक्त सभी उदाहरणों को देखकर हम कह सकते हैं कि सूर ने प्रकृति के शुद्ध रूप को ही ग्रहण किया है।

प्रश्न १४—सूरदास की रचनाओं के मूल स्रोतों का निर्देश कीजिए।

उत्तर—महाकवि सूरदास आचार्य वल्लभ के अनन्य शिष्य एवं प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह अपनी कल्पना की सहज शक्ति से ही लिखा है। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार आचार्य जी ने उन्हें एक ही रात में सारे भागवत की अनुक्रमणिका कहकर "लीलाभेद" बताया था और तभी से उन्होंने भक्ति के नव-पथ को अपनाकर कृष्ण काव्य को अमर बना दिया। यह तो हमने कह ही दिया है कि सूरदास आचार्य बल्लभ के शिष्य थे। उनकी कृपा से ही उन्होंने सूरसागर की रचना की। उस पर श्रीमद्‌भागवत का भी प्रभाव है। कवि ने स्वयं कहा है—

श्री मुख चारि श्लोक दिये ब्रह्मा को समुझाई।
ब्रह्मा नारद सों कहे नारद व्यास सुनाई ।।
व्यास कहे शुकदेव सों द्वादश स्कन्ध बनाई।
सूरदास सोई कहे पद भाषा करि गाई ।।

× × ×

जैसे शुक को व्यास पढ़ायो, सूरदास तैसे कहि गायो।
सूर कह्यो भागवत् अनुसार…………………… ।।

इन कथनों के होते हुए भी सूरसागर को भागवत् का अविकल अनुवाद नहीं कहा जा सकता। उसमें भागवत् के दशम् स्कन्ध की कथा की ही प्रधानता है, फिर भी वह स्वतन्त्र रचना है। बालक कृष्ण व बालिका राधा के साथ-साथ खेलने के प्रसंग व भ्रमरगीत की व्यंग्यमयी उक्तियाँ भागवत् में ढूँढ़ने

पर भी नहीं मिलेंगी। निर्गुण व सगुण का झमेला भी भागवत् में नहीं दिखाई देता जो सूरसागर के भ्रमरगीत का प्रधान अंश है। इसके अतिरिक्त भागवत् सर्ग, निसर्ग आदि दस विषयों का वर्णन करता हुआ भक्ति को प्रमुख स्थान देता है, पर सूरसागर में मुख्य रूप से राधा-कृष्ण-लीला को ही प्रधानता दी गई है। अतः सूरसागर भागवत् का अक्षरशः अनुवाद नहीं है। कलेवर की दृष्टि से भी भागवत् में कुल ४५७२ में से दशम् स्कन्ध पूर्वार्द्ध में ३९३६ पद हैं। अन्य स्कन्धों में, ४, ८, १२, ११२, १७२ आदि ही हैं। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध में कृष्ण-लीला का दृष्टिकोण भी सूरसागर से भिन्न ही है। भागवत् में वह पर-ब्रह्म ही भूभार हरने वाले हैं। यहाँ कृष्ण का लीला रूप है पर उस लीलारूप के पीछे भी उनका ब्रह्मत्व छिपा है। इतना होते हुए भी हमें यह कहना ही पड़ेगा कि सूरसागर के कृष्ण भागवत के ही कृष्ण हैं, महाभारत के नीति-विशारद या गीता का योगेश्वर कृष्ण नहीं। सूरसागर के दशम् स्कन्ध में भी भ्रमरगीत आदि के प्रसंग पर कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। भागवत के अतिरिक्त सूरदास ने ब्रह्माण्ड पुराण व वामन पुराण से भी कथाएँ ली हैं। ब्रह्माण्ड पुराण का उल्लेख सारावली तथा वामन पुराण का उल्लेख दशम् स्कन्ध में है।

श्री सूरदास जी महाप्रभु वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अनुयायी थे। इस प्रकार इनकी दार्शनिक भावना भी शुद्धाद्वैत मत से प्रभावित है। शङ्कराचार्य के अद्वैत मत के विरोध में ही रामानुजाचार्य, विष्णु स्वामी, मध्वाचार्य तथा निम्बार्काचार्य ने सगुण भक्ति की प्रतिष्ठा की थी। इन चारों महात्माओं की भक्ति में भी रूपतः कुछ भेद है। सूरदास पर विष्णु स्वामी का प्रभाव इस रूप में अधिक दिखाई पड़ता है। शङ्कराचार्य ने ब्रह्म को निराकार एवं माया को साकार-सा बताया था किन्तु विष्णु स्वामी इस मिथ्या माया को मानते ही नहीं। ब्रह्म माया के कारण नहीं प्रस्तुत स्वतः ही साकार है। ब्रह्म से ही त्रिगुणात्मक सृष्टि होती है, ब्रह्म व उसके रचित संसार में कोई भेद नहीं। भगवान् तो विश्व में अपनी शाश्वत लीला में लीन रहते हैं। सूर ने भी प्रधानतः इसी रूप को अपनाया। निम्बार्क के द्वैताद्वैत का भी पर्याप्त प्रभाव सूर पर है। निम्बार्क मतानुयायी चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति की सुरसरि प्रवाहित

ती। इनके मतानुसार प्रकृति व जीव इसी ब्रह्म के गुण हैं। आनन्द उसका मूल है। ये राधा में ही दिव्य प्रेमानुभूति करते थे। निम्बार्काचार्य ने कृष्ण भक्ति में राधा की प्रतिष्ठा विशेष रूप से की। उन्होंने राधा को कृष्ण की शाश्वत पत्नी के रूप में स्वीकार किया। महात्मा सूरदास ने राधा को स्वकीया के ही रूप में चित्रित किया।

शङ्कराचार्य के मायावाद का भी प्रभाव सूर पर है। यद्यपि शुद्धाद्वैती होने से माया का स्थान उसमें नहीं होना चाहिए था। फिर भी उन्होंने "माधव जू मेरी इक गाई" या "माधव जू नेकु हटको अपनी गाई" आदि पदों में माया के अनेक स्वरूपों का कथन किया है।

कृष्ण काव्य में सरलता, कोमलकान्त पदावली एवं गेयता के कारण कवि-वर जयदेव विशेष प्रसिद्ध हुए। उनके 'गीत-गोविन्द' का काव्य-तत्त्व सबका आकर्षण केन्द्र रहा। सूरदास में भी गीत-पद्धति, शब्द चयन, भावलावण्य आदि अनेक स्थानों पर गीतगोविन्द का प्रभाव है। पर यह प्रभाव ही है, अनुकरण नहीं। साहित्य लहरी में भी काव्य शास्त्रीय दृष्टि से जयदेव की ही पद्धति के अनुसार वर्णन है। सारावली भी एक स्वतन्त्र रचना है। सूरसागर एवं सारावली में कुछ मौलिक एवं सैद्धान्तिक भेद भी है।

अन्त में, सार रूप में यही कहा जा सकता है कि सूरदास ने दार्शनिक व काव्य शास्त्रों के मत का अनुसरण तो किया किन्तु वे उनके पचड़े में अधिक नहीं पड़े, उन्हें भगवान् के साकार रूप का ही गान करना था। उन्होंने कृष्णलीला का स्मरण एवं वर्णन अपनी भक्ति-भावना के ही अनुकूल किया। उन्हें किसी सिद्धान्त के प्रतिपादन की भी आवश्यकता इसके लिये प्रतीत न हुई। वस्तुतः इनकी रचनाओं के मूलस्रोत में इनकी प्रतिभा ही अधिक थी, बाह्य आधार कम।

प्रश्न १५—सूरदास की भक्ति-पद्धति का सामान्य परिचय दीजिये।

उत्तर—सूर काव्य के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं, भक्ति पक्ष और काव्य पक्ष। जहाँ केवल भक्ति भावना ग्रहण करने की बात है, अव्यभिचारिणी भक्ति है, वहाँ काव्य किस कोटि का है, यह प्रश्न ही नहीं उठता; किन्तु उच्च कोटि का

काव्य निश्चय ही भक्ति भावना को अधिक ऊँची भूमि पर प्रतिष्ठित करने में सहायक होता है। यहाँ हम सूरदास की भक्ति का आदर्श देखेंगे।

सूरदास की भक्ति के आलम्बन श्रीकृष्ण हैं, स्वयं सूरदास उस भक्ति के आश्रय हैं, कृष्ण की रूप-गुण-लीलाएँ आदि उद्दीपन विभाव हैं। सूर के कृष्ण अविगत हैं, मानववाणी से अगम हैं, परब्रह्म हैं। सूर के कृष्ण गोपियों से स्वयं कहते हैं—

को माता को पिता हमारे।
कब जनमत हमको तुम देख्यो, हाँसी लगत सुनि बचन तुम्हारे॥

किन्तु सूरदास जानते हैं कि निर्गुण, अनादि, अनन्त से भक्ति का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। वे गोपियों से कहलाते हैं—

कान्ह कहाँ की बात चलावत।
स्वर्ग पाताल एक करि राखौ, युवतिन को कहि काह बतावत॥

गोपियों की भाँति ही सूरदास की परब्रह्म श्रीकृष्ण की अनुमोदनता स्वीकार कर लेते हैं और कहते हैं—

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगेहि मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परम स्वादु सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै॥
मन-बानी को अगम अगोचर सो जाने जो पावै॥
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति बिन निरालम्ब मन चक्रत धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातें सूर सगुन लीला पद गावै॥

अतः सूरदास परब्रह्म कृष्ण को पहिचानते हुए भी उसके सगुण रूप के रहस्यात्मक स्वरूप की कल्पना से परिचालित हैं। भगवान् भक्त के लिए ही अवतार धारण करते हैं। यही लीला का महत्व है—

भक्त हेतु अवतार धरयो।
धरम करम के वश में नाहीं जोग जग्य मन में न करो॥
दीन गुहारि सुनौ श्रवणनि भरि गरव वचन सुनि हृदय जरयो।
भाव अधीन रहौ सब ही के और न काहू नेक डरो॥
ब्रह्म कीट आदि लों व्यापक सबको सुख दै दुखहि हरो।

भक्त और भगवान का तो प्रेम व भाव का नाता है जिसे दोनों को अपनी अपनी ओर से निभाना है। भक्त अनन्य भाव से भगवान से प्रेम करता है। सूर की भक्ति अनन्य कोटि की है। उन्होंने कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति को स्वयं स्वीकार किया है—

मेरो मन अनत कहा सचु पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवै॥
....
सूरदास प्रभु काम धेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥

× × ×

स्याम बलराम को सदा गाऊँ।
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव को स्वप्न हूँ माँहि हृदय ल्याऊँ॥

इस भक्ति की गहराई का अनुमान सूर के निम्न पद से ही हो जाता है—

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्राण॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि उनके पदों में भक्ति की अनन्यता पूर्णतः स्पष्ट है, किन्तु फिर भी यदि हमें शास्त्रीय पद्धति से देखना है तो उसे हम 'विनय' व 'सख्य' दो नामों से पुकारेंगे।

ऊपर हमने जो भक्त का भगवान् के प्रति दृढ़ प्रेम दिखाया है, उसका रूप है आत्म-समर्पण और शरणागति भाव—

जो हम भले बुरे तो तेरे।
तुम्हें हमारी लाज बड़ाई विनती सुनु प्रभु मेरे॥
सब तजि तुम सरनागत आयो, दृढ़ करि चरन गहे रे॥

× × ×

तुम तज और कौन पै जाऊँ।
काके द्वार जाइ सिर नाऊँ पर हाथ कहाँ बिकाऊँ॥
ऐसा को दाता समरथ जाके दिये अघाऊँ॥
अन्तकाल तुम्हरें समरन गति अनत कहूँ नहि पाऊँ॥

किन्तु भक्त की ओर से चेष्टा करने से ही सब कुछ नहीं हो जाता इष्ट-देव की भी कृपा तो चाहिये। सूरदास इसी कृपा के आकांक्षी हैं। यहाँ इसी कृपा को "पुष्टि कहते हैं" जिससे भक्तों का पोषण होता है। "पोषणं तत् अनुग्रह"। सत्य बात तो यह है कि इस कृपा के बिना भक्ति अंकुरित ही नहीं हो सकती। सूरदास ने अपने विनय के पदों में भगवान की इस अनुकम्पा व भक्त-वत्सलता का गुणगान किया है। इस अनुकम्पा में विश्वास के बिना भक्ति एक पद भी आगे नहीं बढ़ सकती।

परन्तु क्या साधना के अन्त में भक्त मुक्ति चाहता है ? नहीं ! वह तो केवल भक्ति की ही याचना भगवान से करता है—

अपनी भक्ति देहु भगवान् ।
कोटि लालच जो दिखावहुँ नाहिन रुचि आन ।।

इस भक्ति के कई साधन हैं जिनमें 'नाम संकीर्तन' प्रथम है। कहा भी है—"कलौ केशव कीर्तनात्।" सूरदास ने इसी भाव को लेकर कहा है—

जो तू राम नाम ध्यान धरतौ ।।
अब को जनम, आगिलौ तैरो दोऊ जनम सुधरतौ ।।
जम को त्रास सबै मिट जातौ नाम तेरौ परतौ ।

× × ×

सूरदास बैकुन्ठ पैंठ में कोऊ न फैंट पकरतौ ।।

संकीर्तन साधन के अतिरिक्त भक्ति के अन्य साधन निम्न प्रकार से हैं—(१) गुरुभक्ति, (२) लीलागान, (३) नित्य और नैमित्तिक कर्म, (४) भगवान के रूप का ध्यान।

गुरु-भक्ति—पुष्टि मार्ग में गुरु व ब्रह्म का एक ही स्थान है। गुरु ही जीव का ब्रह्म से सम्बन्ध कराता है। भक्त गुरु को ही कृष्ण मान उसे आत्म-समर्पण कर देता है। जब सूर का अन्त समय था उस समय श्री चतुर्भुज दास जी ने कहा कि आपने और तो सब गाया किन्तु महाप्रभु वल्लभ के यश का वर्णन नहीं किया। उस समय उन्होंने यही उत्तर दिया कि मैंने तो सारा ही आचार्य महाप्रभु का गुण गाया है। जो उन्हें कृष्ण से विलग देखता तो विलग ही गाता। फिर भी सूरदास ने यह पद गाया—

भरोसो इन दृढ़ चरनन केरो ।
श्री वल्लभ नखचन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो ।।

लीलागान के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि समस्त सूरसागर ही लीलागान है । भगवान् के बाल व किशोर रूप का ध्यान भी सूरसागर में सैकड़ों परिस्थितियों में किया गया है । उदाहरण-स्वरूप देखिये—

सखी री नन्द नन्दन देखु ।
धूल धूसरि जटा जूटलि हरि किये हर भेषु ।।
नील पाट पुरोइ मणिगण फणिज धोखे जाई ।
खुन खुनाकर हँसत मोहन नचत डौरु बजाई ।।

× × ×

सूर जानते हैं कि उनके इष्टदेव लौकिक नायक नहीं हैं । यह बात वे अपने पाठकों को भी बता देते हैं । उनकी सुन्दरता की रहस्यमयता की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं—

सखी री सुन्दरता को रङ्ग ।
छिन छिन माँह परत छबि औरे कमल नयन के अङ्ग ।।
स्याम सुभग के ऊपर वारौं आली कोटि अनङ्ग ।।
सूरदास कछु कहत न आवै गिरा भई मति पंगु ।।

भगवान के प्रति भक्त की रति होती है । वह पाँच प्रकार की है—शान्त, प्रीति, प्रेम, अनुकम्पा, कांता या मधुरा । इनमें शान्त भक्ति का रूप शांत, प्रीति का दास्य, प्रेम का सख्य, अनुकम्पा का वात्सल्य एवं कांता या मधुरा का मधुर (शृङ्गार) है । सूरदास की भक्ति में इन सभी प्रकार की भक्ति के उदाहरण पर्याप्त मिलते हैं । हम आरम्भ में भी कह चुके हैं कि शास्त्रीय पद्धति से देखें तो इनकी भक्ति के दो रूप हैं—विनय एवं सख्य । उक्त पाँचों प्रकार की भक्ति में कुछ का समावेश विनय में एवं कुछ का सख्य में हो जाता है ।

सर्वप्रथम शान्त भक्ति आती है, जिसमें वैराग्य की प्रधानता है । किन्तु यह वैराग्य संसार के प्रति ही रहेगा । इष्टदेव के प्रति नहीं । अतः इस का कोई मूल्य भी नहीं । विनय के पदों में ही ऐसे उदाहरण हैं । देखिये—

हरि बिनु मीत नहीं कोउ तेरे ।
सुनि मन, कहौं पुकारि तोसों हौं, भजि गोपालहि मेरे ।।
यह संसार-विषय-विष-सागर रहत सदाबस घेरे ।
सूर स्याम बिन अन्तकाल में कोउ न आवत नेरे ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य से मिलने से पूर्व जब सूर गऊघाट पर रहते थे, तब इसी दास्य-भाव के पद बनाया करते थे। दास्य भक्ति में विनय व दैन्य के प्रकाशन की प्रधानता है। दैन्य का भाव देखिये।

प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ ।
और पतित सब द्यौस चारि के, हौं तो जनमत ही कौ ।।

निम्न पद में दास्य भाव देखिये—

रे मन कृस्न नाम कहि लीजै ।
गुरु के वचन अटल करि मानों साधु समागम कीजै ।।

सूर की यह दास्य भावना भगवान के पास पहुँचने का साधन-मात्र है। भगवान की भक्ति पाने पर तो उन्हें पाप का किंचित भी भय नहीं रह जाता—

आजु हौं एक-एक कर टरिहौं ।
कै हम ही कै तुम ही माधव अपुन भरोसे लरिहौं ।

× × ×

अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्हें बिरद बिनु करिहौं ।

सख्य भक्ति—पुष्टिमार्ग में भगवत्-लीला का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वल्लभाचार्य को दैन्य प्रधान भक्ति प्रिय नहीं थी। यह तो उनके सूर से मिलने के समय हुए वार्तालाप से ही स्पष्ट है। उनकी भक्ति में लीला-कीर्तन आदि का विशेष स्थान था, वे सखा-भाव से ही कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करते थे। इसलिए सूरसागर में भी सखा-भाव की भक्ति के पद भरे पड़े हैं।

सख्य-भक्ति सूरसागर में दो रूपों में प्रकट हुई है। एक गोपों और ग्वालों के प्रसंग में। इसी में प्रेम, अनुकम्पा व मधुर का सम्मिश्रण है। दूसरे, सारा ही सूरसागर सखा-भाव से गाया गया है। भक्त भगवान् की प्रत्येक लीला में—चाहे वह गोप्य भी क्यों न हो, विश्वस्त मित्र की भाँति भाग लेता है।

यही कारण है कि इस भक्ति में उन्हें औचित्य की सीमा लाँघने का की ध्यान नहीं रहा, लज्जा की तो बात ही क्या ? एक उदाहरण देखिये—

नींवी ललित गही यदुराई ।
जबहिं सरोज धरौ श्रीफल पर तब यसुमति तहँ आई ॥

× × ×

ऐसे जनि बोलहु नन्द लाला ।
छाँड़ि देहु अँचरा मेरो नीके जानत हौं श्री बाला ॥
बार-बार मैं तुम्हें कहित हौं परिहैं बहुत जंजाला ।
जोवन रूप देखि ललचाने अबहिं ते ए ख्याला ।
तरुनाइ तन आवन दीजै कित जिय होत विहाला ।
सूरदास उर ते कर टारहु टूटै मोतिन माला ।

मधुरा भक्ति—भागवत विषयक रति का सर्वोच्च विकास मधुरा रति में है जो मधुरा भक्ति की जननी है। इस भाव के उपासक राधा-कृष्ण और कृष्ण गोपियों के प्रेम में सम्मिलित होकर उनकी लीलाओं में आनन्द लेते हैं। यद्यपि आचार्य वल्लभ ने वात्सल्य भाव को ही एकमात्र उपादेय माना था और वे बालकृष्ण के उपासक थे; किन्तु पुष्टि मार्ग के कवियों ने सख्य और मधुर भाव को ही अपनाया। उन्होंने माधुर्य भाव को तो विशेष रूप से ग्रहण किया है। मधुर भाव की विशेषताओं के विषय में हम यह कह सकते हैं कि—

(१) भगवान व भक्त का इतना नैकट्य होता है जितना कि पति-पत्नी का भक्ति की सर्वोच्च दशा में वह परकीय भाव का अनुभव करने लगता है—

जब ते सुन्दर बदन निहार्‌यो ।
मात पिता पति बन्धु सजन जन तिनहूँ को कहिबौ सिर धार्‌यौ ।
रही न लोक लाज मुख निरखत दुसह क्रोध फीको करि डार्‌यो ॥
ह्वै वो होय सो होय करमबस अब जी को सब सोच निकार्‌यौ ।
दानी सूरदास परमानन्द भलो पोच अपनो न विचार्‌यौ ॥

(२) कृष्ण भक्त इन्द्रियों के समय के स्थान पर मन को कृष्ण की ओर उन्मुख करता है—

मन तोंसों किती कही सुमुझाई ।
नन्द नन्दन के चरण कमल भजि तजि पाखंड चतुराई ।।
सुख सम्पति दारा-सुत, हय गज झूठ सबै समुदाई ।
छन भंगुर यह सबै स्याम बिनु अन्त नाँहि संग जाई ।।

अतः मधुर भाव के उपासकों के लिए इन्द्रियों के नियमन का प्रश्न ही नहीं रहता ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरसागर में भक्ति के अंगों की पूर्णतः पुष्टि हुई है । इन प्रसंगों के वर्णन में ही उनकी भक्ति भी सन्निहित हो गई है ।

प्रश्न १६—"सूर साहित्य में रसराज (शृङ्गार) के प्रत्येक अंग को स्पर्श किया गया है ।" इस उक्ति की समीक्षा कीजिये ।

उत्तर—यदि भाषा काव्य का कलेवर है, तो रसपूर्ण कथन काव्य की आत्मा है । काव्य शास्त्र के आचार्यों ने सरस काव्य को ही वास्तविक काव्य माना है । जिस काव्य में रस नहीं, वह शब्दाडम्बर मात्र है । सूरदास के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सर्वत्र रसपूर्ण कथन प्रचुर परिमाण में मिलते हैं ।

रसों में शृंगार रस प्रमुख है । इसे रसराज के नाम से अभिहित किया जाता है, जिसका पूर्ण परिपाक सूर के काव्य में हुआ है । शृंगार रस के संयोग एवं विप्रलम्भ दो पक्ष होते हैं । सूरदास ने दोनों प्रकार के शृंगार का ऐसी विदग्धता से वर्णन किया है कि पाठक का मन तन्मय होकर भावलोक में विचरने लगता है । आचार्यों ने शृंगारिक कथन के जितने अंग बताये हैं, सूरदास के काव्य में उनका पूर्णरूपेण समावेश है । "हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो वह सूरदास जी ने ।"

उनकी उमड़ती हुई वाग्धारा उदाहरण रचने वाले रीतिकालीन कवियों के समान गिनाये हुए संचारियों से बँधकर चलने वाली न थी । यदि हम केवल सूर के विप्रलम्भ शृंगार तथा भ्रमरगीत को ही देख लें तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशायें ऐसी मिलेंगी, जिनका नामकरण तक नहीं हुआ है ।

इसी को कवि की पहुँच कहा जाता है। "जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि", यह उक्ति यहाँ चरितार्थ होती है। सूरदास ने जीवन के परिमित क्षेत्र श्रृंगार व वात्सल्य पर ही अपनी कलम चलाई है, इन्हीं में उनकी पहुँच इतनी है जितनी अन्य किसी कवि की नहीं—तुलसीदास की भी नहीं। बात यह है कि सूर को गीतकाव्य की जो परम्परा जयदेव व विद्यापति से मिली थी, वह श्रृंगार की ही थी। दूसरी बात उपासना के स्वरूप की है। वल्लभाचार्य ने भक्ति मार्ग में भगवान का प्रेममय स्वरूप प्रतिष्ठित करके उसके आकर्षण का मार्ग दिखाया था। प्रेम भाव की चरम सीमा आश्रय और आलम्बन की एकता है। आचार्य वल्लभ के अनुयायी कृष्ण भक्त कवि भी इसी बात को लेकर चले। उक्त प्रेम तत्त्व की पुष्टि में ही सूर की वाणी मुख्यतः प्रयुक्त हुई।

श्रृंगार रस गोपियों एवं कृष्ण तथा राधा-कृष्ण को लेकर अभिव्यक्त हुआ है। गोपियों और कृष्ण ने प्रेम प्रसंग में अलौकिकता का भी समावेश हुआ है, पर राधाकृष्ण का प्रेम पूर्णरूप से मानवीय है, उसमें अलौकिकता को अधिक स्थान नहीं मिला। पीछे हम सूर के वात्सल्य का चित्रण कर चुके हैं। वृन्दावन में उसी हास-परिहास एवं सुखमय जीवन के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन-प्रतिदिन खिलते हुए सौन्दर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं, उनके मन में विकार उत्पन्न होने लगता है—

मेरे हियरें माँझ लगौ मनमोहन ले गये मन चोरी।
अबहि इहि मारग ह्वै निकसे छवि निरखत तृनतोरी॥

सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप लिप्सा व साहचर्य दोनों का योग है। बाल-क्रीड़ा के सखा-सखी आगे चलकर यौवन-क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। गोपियों ने तो उद्धव से स्पष्ट शब्दों में कहा "लरिकाई को प्रेम कहौ, अलि, कैसे छूटै।" गोपियों के प्रेम का विकास अस्वाभाविक रूप से नहीं प्राकृतिक रूप से हुआ है। रूप का आकर्षण भी बाल्यावस्था से ही आरम्भ हो जाता है। राधा व कृष्ण के मिलन में इसी भाव को देखिए—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गये स्याम रवि तनया के तट अङ्ग लसति चन्दन की खोरी॥

औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विशाल भाल दिये रोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन नैन-मिलि परी ठगोरी ॥

और राधा को देख कृष्ण पूछते हैं—

पूछति स्याम, "कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी तू बेटी ? देखी नाहिं कबहुँ ब्रज खोरी ॥"
"काहे को हम ब्रज तन आवति ? खेलत रहत आपनी पौरी।
सुनति रहत श्रवन नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी ॥"
"तुम्हरो कहा चोरि हम लै हैं ? खेलन चलौं संग मिलि जोरी"
सूरदास प्रभु रसकि-सिरोमनि बातन भुरइ राधिका भोरी ॥"

इस खेल-खेल में ही राधा-कृष्ण के हृदय में प्रेमांकुर पैदा हो गया।

हम पहले कह चुके हैं कि शृङ्गार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की समता को और कोई कवि नहीं पहुँच सका। शृङ्गार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिलता। वृन्दावन में कृष्ण व गोपियों का सम्पूर्ण जीवन क्रीड़ामय है तथा वह सम्पूर्ण क्रीड़ा संयोग पक्ष की है। संयोगावस्था में राधा ने सबसे अधिक आनन्द पाया है। अक्रूर के साथ कृष्ण जब मथुरा चले जाते हैं, तो गोपियों की विरह दशा का विस्तृत चित्रण किया गया है। राधा भी उनमें एक है पर उसका प्रेम अन्य गोपियों की अपेक्षा गम्भीर है। वह अन्य गोपियों की भाँति कृष्ण को दोष नहीं देना चाहती, वह अपने को ही दोषी मान लेती है, तथा अपने व्यक्तित्व को कृष्ण के साथ की हुई लीलाओं में केन्द्रित कर देती है। भाव यह है कि विरहिणी गोपियों व राधा में भेद है। भ्रमरगीत के प्रसङ्ग में राधा को चित्रपट से हटा कर सूर ने यह भी व्यञ्जित कर दिया है। उनका प्रेम कृष्ण के प्रति अधिक गहन है और वह अन्य गोपियों के प्रेम से अधिक गम्भीर है।

इस आकर्षण के पश्चात् संयोग पक्ष के जितने भी क्रीड़ा विधान हो सकते हैं, सूर ने सभी लाकर एकत्र कर दिये हैं। पनघट-प्रस्ताव, कुँज-विहार, यमुना-स्नान, जलकेलि के समय पीठ-मर्दन, गोदोहन के समय कृष्ण का राधा के मुख पर दूध के छींटे फेंकना, भरे आँगन में संकेत द्वारा वार्तालाप करना, घर के पीछे

खरिक में तथा बन में खेलना, हिंडोले पर झूलना, रास, नृत्य आदि न जाने संयोग के कितने प्रसंग सूर ने लिखे हैं। एक प्रसङ्ग की मार्मिकता देखिये। आँगन में माता-पिता, स्वजन, पारिवारिक बन्धु आदि सब विद्यमान हैं। लोक लज्जा और वेद-मर्यादा के प्रतिहार द्वारपाल भी पहरा दे रहे हैं। पलक रूपी कपाट बन्द कर कुल-प्रतिष्ठा की ताली से धैर्य रूपी ताला भी द्वार पर लगा रखा है, किन्तु अन्तस्तल के अत्यन्त गुप्त कोने में रखा राधा का मन-धन नेत्र मार्ग से हृदय में प्रविष्ट हो कृष्ण ने चुरा ही तो लिया। इसी चोरी का अद्भुत चित्रण सूर ने कितनी विचित्रता से किया—

मेरो मन गोपाल हर्‌यौरी।
चितवत ही उर पैठि नैन मग न जानौ धौं कहा कर्‌यौरी॥
मात-पिता, पति सजन जन सखि, आँगन सब भवन भर्‌यौरी।
लोक वेद प्रतिहार पहरुआ तिनहूँ पै राख्यो न पर्‌यौरी॥
धर्म धीर कुल कानि कुँजिकरि तारौ दै द्वार धर्‌यौरी।
पलक कपाट कठिन उर अन्तर इतेहु जतन कछुवै न सर्‌यौरी॥
बुधि विवेक बल सहित सच्यौ पचि सुधन अटल कबहुँ न टर्‌यौरी।
लियो चुराइ चितै सजनी सुर सो मो तन जात जर्‌यौरी॥

सूर का संयोग क्षणिक घटना नहीं, प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती हुई धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई देता। राधा कृष्ण के परस्पर आकर्षण व मिलन का परिचय हम ऊपर दे चुके हैं कि किस प्रकार यमुना के किनारे खेल-खेल में ही वे मिले और इसके बाद दोनों एक दूसरे के घर आने-जाने लगे हैं। अब तो नित्य ही प्रेम लीलाएँ होती हैं। गोदोहन के समय का एक चित्र देखिये—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥

× × ×

तुम पै कौन दुहावै गैया?
इत चितवत उत धार चलावत, एहि सिखयो है मैया?

राधा के बार-बार कृष्ण के घर आने पर यशोदा उससे कहती हैं कि तू

यहाँ बार-बार क्यों आती है ? राधा उत्तर देती है—

"बार-बार तू ह्याँ जनि आवै ।"
"मैं कहा करौं सुरति नहिं बरजति, घरते मोहि बुलावै ॥
मोसों कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान ।
छोह लगत मोको सुनि बानी, महरि तिहारी आन ॥"

कितनी सीधी-साधी और भोली व्यंजना है । सूर का सारा ही संयोग वर्णन प्रेम-चर्चा है । रामलीला, दानलीला, मानलीला आदि सब उसके अन्तर्भूत हैं । संयोग के एक-दो उदाहरण और देखिये—

नन्द कुमार कहा यह कीनों ?
बूझत तुमहि कहौ धौं हमसों ।
दान कियो कि मन हरि लीनों ॥

× × ×

बिहरत हैं यमुना जल स्याम ।
राजत हैं दोहू बाँह जोरी दम्पति अरु ब्रज बाम ॥
कोउ ठाढ़ी जल जनु जंघ लौं कोउ कटि हृदय ग्रीव ।
यह सुख बरणि सकै ऐसे को सुन्दरता को सीव ॥

कृष्ण की मुरली पर कही हुई उक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं । सूर ने इन पंक्तियों में सम्बन्ध-भावना का अच्छा परिचय दिया है । कृष्ण के प्रेम ने गोपियों में इतनी सजीवता भर दी है कि कृष्ण तो क्या, कृष्ण की मुरली तक से छेड़-छाड़ करने को उनका जी चाहता है । देखिये—

"माई री ! मुरली अति गर्व काहू बदति नहिं आज ।
हरि के मुख कमल देखु पायो सुखराज ॥"
"मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुनि, री सखी ! जदपि नन्दनन्दहिं नाना भाँति नचावति ॥
राखति एक पाँव ठाढ़ौ करि अति अधिकार जनावति ।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सुसीस डुलावत ॥

यह तो हुई संयोग पक्ष की बात । वियोग पक्ष के अन्तर्गत भी सूर ने अनेक दशाओं का वर्णन किया है । उद्धव के ब्रज में आने से पूर्व वियोग-चित्रण में

विरह की एकादश दशाओं का चित्रण हुआ है। बाद के प्रसङ्ग (भ्रमरगीत) में तो प्रेम की अनन्य तन्मयता ही सर्वत्र प्रतिध्वनित होती है। जितनी निपुणता एवं रसिकता के साथ सूर ने संयोग शृंगार का वर्णन किया है, उतनी ही दक्षता एवं मग्नता के साथ विप्रलम्भ का भी। जो व्यापकता, विस्तार एवं गम्भीरता संयोग के अन्तर्गत आने वाली मनोदशाओं के चित्रण में है, वही वियोग वर्णन में भी पाई जाती है। विरह दग्ध गोपियों एवं राधा के साथ लतायें जल रही हैं, यमुना विरह ज्वर से काली पड़ गई है, गाएँ कृष्ण विरह में क्षीण एवं कृशगात हो गई हैं और ब्रज की शस्यश्यामला भूमि सुनसान एवं वीरान हो रही है। सूर के हृदय का जो स्पन्दन वियोग वर्णन में हुआ है मानों समस्त विश्व उसमें योग दे रहा है। इस क्षेत्र में सूर की समता करने वाला कोई अन्य कवि नहीं दिखाई देता। विरह की यह वेदना गम्भीर, तीव्र एवं तड़पा देने वाली है। कृष्ण मथुरा जाने वाले हैं। ब्रजवासियों के लिये कृष्ण वियोग का यह प्रथम अवसर है। कृष्ण के चलने के समय और उसके पश्चात उनकी जो दशा हुई, वह कठोर हृदय को भी द्रवित कर देने की शक्ति रखती है। भावुक सूर की तो बात ही क्या !

वियोग की दशाएँ—

कृष्ण के रथ पर बैठते ही "महरि पुत्र कहि रोर लगायो तरु ज्यों धरनि लुटायो।" यशोदा तो "पुत्र-पुत्र" चिल्लाती धड़ाम से भूमि पर गिर पड़ी और अन्य गोपियाँ चित्र लिखी-सी स्तब्ध खड़ी रह गईं। कोई किसी से बोलती नहीं। सबके मुँह फीके पड़ गये हैं। आँखों से लगातार आँसू बह रहे हैं सब व्याकुल, बेचैन लुटे हैं—

> **रहीं जहाँ सो तहाँ सब ठाड़ी।**
> **हरि के चलत देखियत ऐसी मनहुँ चित्र लिखि काढ़ी॥**
> **सूखे बदन, स्रवत नैनन ते जलधारा उर बाढ़ी।**
> **कन्धनि बाँह धरे चितवत द्रुम मनहुँ बेलिदव डाढ़ी॥**

घर जाने के लिए उनके पैर नहीं बढ़ते। नेत्र आगे न देख पीछे ही देखते हैं। जब मन ही कृष्ण के साथ चला गया तो नेत्र और पैर कैसे रह सकते

हैं । गोपियों के लिये जो घर कृष्ण की विद्यमानता में स्वर्ग का नन्दन बना हुआ था, वही कृष्ण के वियोग में उन्हें काटने दौड़ता है—

अरी मोहि भवन भयानक लागै माई स्याम बिना ।

सूरदास मोहन दरसन बिनु सुख सम्पत्ति सपना ।।

कृष्ण के चले जाने पर सायं, प्रभात तो उसी प्रकार होते हैं, पर "मदन-गोपाल बिना या तन की सबै बात बदली ।" ब्रज में पहले सायंकाल का जो दृश्य देखने में आता था, अब वह नहीं दिखाई देता, पर मन से उसकी "स्मृति" नहीं जाती—

एहि बिरियाँ बन ते ब्रज आवते ।

दूरहि ते वह बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते ।।

आनन्द देने वाले पदार्थ भी वियोग में दुःख के ही पोषक होते हैं—

बिनु गोपाल बैरिन भईं कुन्जें ।

तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुन्जें ।।

× × × ×

पवन, पानि, घनसार, संजीवनि दधि सुत किरन भानु भई भुन्जें ।।

वे अपने इसी उजड़े और नीरस जीवन से मेल होने के कारण वृन्दावन के हरे-भरे कुन्जों को भी कोसती हैं—

मधुवन ! तुम कत रहत हरे ?

विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे ?

तुम हौ निलज लाज नहिं तुमको फिर सिर पुहुप धरे ।

ससा स्यार और बन के पखेरू धिक्-धिक् सबन करे ।।

कौन काज ठाड़े रहे बन में काहे न उकठि परे ?

इसी प्रकार कृष्ण के बिना काली रात उन्हें सर्पिणी-सी लगती है—

पिया बिन साँपिन काली रात ।

कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उल्टी ह्वै जात ।

कृष्ण के बिना आँखों में आँसुओं की झड़ियाँ लगी हैं—

निसि दिन बरसत नैन हमारे ।

सदा रहत पावस ऋतु हमपै जबतें स्याम सिधारे ।।

दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ उर कपोल भये कारे ।
कंचुकि नहिं सूखति अब सजनी, उर बिच बहत पनारे ॥

कभी बादल अपने प्रकृत रूप में बरसने आते हैं तो वे उन्हें कृष्ण से अधिक दयालु दीखते हैं—

बरु ये बदराऊ बरसन आये ।
अपनी अवधि जानि नन्दनन्दन, गरजि गगन घन छाये ॥

मूर्च्छा का एक उदाहरण देखिये—

जबहिं कह्यो ये स्याम नहीं ।
परीं मुरछि धरनी ब्रजबाला, जो जहँ रहीं सु तहीं ॥

कहाँ तक वर्णन करें ? अन्त में यही कह सकते हैं कि सूर ने शृङ्गार की किसी भी दशा को छोड़ा नहीं । सचमुच सूर 'सूर' हैं ।

प्रश्न १७—काव्यकला की दृष्टि से सूर काव्य की समीक्षा करते हुए सूरदास के काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

उत्तर—सूरदास यद्यपि अपने काव्य के महत्त्व के कारण हिन्दी कवियों के मुकुट मणि माने जाते हैं, तब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने काव्य की रचना कवि के दृष्टिकोण से नहीं की । अपने इष्टदेव की भक्ति में तल्लीन होकर जो कुछ उन्होंने गाया है, वह भक्ति-साहित्य की सर्वोत्तम निधि बन गया है, किन्तु साथ ही काव्य कला के भी समस्त गुण उसमें विद्यमान हैं । इसके कारण उनके काव्य का महत्त्व और अधिक हो गया है । कला मानवीय चेष्टा है । चेष्टा द्वारा ही मानव ज्ञान पूर्वक कुछ संकेतों द्वारा उन भावों को प्रगट करता है, जिनको उसने अपने जीवन में अनुभव किया है । इन भावनाओं का दूसरे पर प्रभाव पड़ता ही है । वस्तुतः 'कला उस साधन का नाम है, जिससे कलाकार अपने हृदय के भावों को तद्वत् दूसरों के हृदय तक पहुँचाता है ।' यदि यह सिद्धान्त समीचीन है तो सूरदास की कविता का कला-पक्ष भी अत्यन्त पुष्ट है । सूर ने अपने काव्य के विषय का साक्षात्कार किया था, वे उसके अत्यन्त निकट थे । सर की कला के वाह्य और आन्तरिक दोनों रूप पुष्ट हैं ।

हिन्दी कवियों में दो प्रकार के कवि पाये जाते हैं। इनको भाव-पक्षीय एवं कला-पक्षीय के रूप में विभाजित किया जाता है। साधारणतया भक्ति-काल के कवि भाव-पक्ष तथा रीतिकाल के कवि कला-पक्ष के कवि कहे जाते हैं। सूरदास यद्यपि भाव-पक्ष के कवि हैं तथा उनकी भावरूपी भागीरथी में कला रूपी कालिन्दी भी आ मिली है। इस संगम के फलस्वरूप उनका काव्य अतीव आनन्ददायक हो गया है। यहाँ हम सूर की काव्य-कला की विवेचना करेंगे। साधारणतः हम सूर के समस्त पदों को अधोलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं।

क—विनय के पद दास्य व आत्म-समर्पण।

ख—कृष्ण की मधुरा-भक्ति।

ग— कृष्ण की बाल लीला का प्रसंग।

घ—राधा-कृष्ण का प्रेम प्रसंग।

ङ—कूट पद, रस निरूपण, नायिका भेद व अलंकारों को स्पष्ट करने वाले पद।

सूर के भाव पक्ष में वैयक्तिता, सरलता और सत्यता तीन आवश्यक गुण मिलते हैं। इन गुणों ने उनके भावपक्ष को और भी पुष्ट व प्रभावशाली बना दिया है। उन्होंने सूर साहित्य में आत्मीयता की सृष्टि की है।

सूर के काव्य का भाव पक्ष—भाव पक्ष का विवेचन हम रस से ही आरम्भ करेंगे। वैसे तो सूरसागर में प्रायः सभी कोमल रसों का विस्तार से वर्णन किया गया है एवं कठोर रसों का संक्षेप में, पर विनय के पदों में शान्त रस एवं शेष में वात्सल्य एवं शृंगार का प्राधान्य है। सूर वस्तुतः शान्त, वात्सल्य एवं शृंगार के ही कवि हैं। शेष रह जाते हैं वीर, रौद्र, भयानक, करुण, एवं वीभत्स। एक बात ध्यान देने की है कि सूर का काव्य ही ऐसे ढंग का है कि उसमें भयानक व वीभत्स जैसे रसों के लिए स्थान ही नहीं हो सकता। वीर और रौद्र भी केवल प्रासंगिक कथा के साथ ही आ सकते थे। उन्हें यह रस अच्छे भी नहीं लगते थे। वे तो केवल मधुर भाव के भक्त थे। वीर रस का वर्णन इन्द्र-गर्व-हरण और कंस-चाणूर-वध आदि प्रसंगों में है। असुर-वध की लीलाओं में अद्भुत रस कहा जा सकता है। यशोदा को विराट् रूप-दर्शन भी

अद्‌भुत रस में आ सकता है। इन रसों के वर्णन में सूर की मौलिकता के दर्शन अवश्य होते हैं। किन्तु इनका परिपाक नहीं हुआ है। करुण रस विप्रलम्भ का ही अंश बन गया है। नन्द यशोदा के वियोग चित्रण में इसका वर्णन हुआ है। इन रसों के कुछ उदाहरण लीजिये—

शान्त—सूर साहित्य में अनेक रसों का वर्णन होने पर भी उसकी आत्मा शान्त-रस है। वहाँ भक्त सूरदास अपने प्रकृत रूप में हमारे सामने आते हैं। उस समय वे कवि अधिक नहीं केवल विनयशील भक्त हैं। भक्तिरस का एक उदाहरण देखिये—

अब के माधव मोहि उधारि।
मगन हौं भव अम्बु निधि में कृपासिन्धु मुरारि॥
नीर अति गम्भीर माया लोभ लहर तरंग।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग॥

संसार की अनित्यता के सम्बन्ध में एक पद देखिये—

हरि बिनु कोऊ काम न आयो।
यह माया झूठी प्रपंच लगि रतन सो जनम गँवायो॥

वात्सल्य—आचार्य वल्लभ ने बालकृष्ण को इष्टदेव के रूप में उपस्थित किया। कृष्णलीला पर तो उन्होंने इतना बल दिया कि इतना और किसी ने नहीं दिया। कृष्ण की बाललीला का सम्बन्ध विशेष रूप से यशोदा एवं नन्द से था। काव्य में जब कृष्ण का बाल-चरित्र पूर्णरूप से विकसित हुआ तभी वात्सल्य-रस की प्रतिष्ठा हुई। वात्सल्य का एक उदाहरण देखिये—

लाला हौं वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक, मोहन मन विहँसन, भ्रकुटि विकट नैनन पर॥

अथवा

सिखवति चलन जशोदा मैया।
अरबराइ करि पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।
कबहुक सुन्दर बदन विलोकति, उर आनन्द भरि लेत बलैया॥

वात्सल्य रस के चित्रण के अनन्तर नवीनता, व्यापकता और रस की अनेक दशाओं के निरूपण की दृष्टि से श्रृंगार का स्थान महत्वपूर्ण है। उसका

विस्तार वात्सल्य से भी अधिक है। शृंगार के दोनों पक्ष—संयोग और वियोग का चित्रण सूर ने सफलता से किया है। पिछले प्रश्न में हमने इसका विशद रूप से चित्रण कर दिया है। एक-दो उदाहरण देखिये—

हिंडोला माई झूलत हैं गोपाल।
संग राधा परम सुन्दरि चहूँछा ब्रज बाल॥

या—नवल किशोर नवल नागरिया।
अपनी भुज स्याम भुज ऊपर स्याम, भुजा अपने ऊपर धरिया।
क्रीड़ा करत तमाल तरुनतर, स्यामा-स्याम उमँग रस भरिया॥

यह तो संयोग उदाहरण हुआ। एक वियोग का देखिए—

सुपने हरि आयों हौं किलकी।
नींद जो सौति भई रिपु हमको सहि न सकी रति तिल की।
जो जागी तो कोउ नहि रोके रहति न दिल की।
तब फिर जानि भई नख शिख तें दिया बाति जनु मिलकी।

हास्य—सूर ने अनेक स्थानों पर हास्य की भी सुन्दर सृष्टि की है। इस हास्य में शिष्टता और मर्यादा है। एक उदाहरण देखिये—

मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हों तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं यहि रिस के मारे खेलन हौं नहि जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात॥
गोरे नन्द यशोदा गोरी तुम कत स्याम शरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर॥
तू मोही को मारन सीखी दाऊहि कबहुँ न खीजै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि यसुमति पुनि-पुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत को ही धूत।
सूर स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥

अद्भुत—अद्भुत रस के प्रसंग कवि ने सीधे भागवत से लिए हैं। उनमें मौलिकता नहीं पर जहाँ भी ये प्रसंग आये हैं, रस का परिपाक बड़ी निपुणता से हुआ है—

कर गहि पग अँगुठा मुख मेलत ।
प्रभू पौढ़े पालने अकेले हरषि-हरषि अपने रङ्ग खेलत ।।
सिव सोचत विधि बुद्धि विचारत वट बाढ़यो सागर जल झेलत ।
बिडरि चले घन प्रलय जानि के दिगपति दिग दंतिन न सकेलत ।
भयानक—चरन गहे अंगुठा मुख मेलत ।
उछलत सिंधु धराधर काँप्यो, कमठ पीठि अकुलाई ।।
वीर—सैन साजि ब्रज पर चढ़ धावहिं ।
प्रथम बहाइ देहुँ गोवर्धन ता पीछे व्रजगोदि बहावहि ।।
करुणा—अति मलीन वृषभानु कुमारी ।
हरि श्रम जल अन्तर तनु भीजै ता लालच न धुवावति सारी ।।

काव्य की कलात्मकता अथवा उसकी चमत्कारिक शैली के विवेचन के लिए अलंकार विशेष सहायक होते हैं । सूर के काव्य में अलंकारों के सर्वोत्कृष्ट रूप का समावेश है । इसकी अलंकार योजना केशव आदि की भाँति साध्य नहीं प्रत्युत् वह भाव-पक्ष की अभिव्यंजना का साधन मात्र है । सूर के अलङ्कारों में उसके दोनों प्रकार—शब्द व अर्थ का चित्रण है । शब्दालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप आदि के तथा कहीं-कहीं विभावना व वक्रोक्ति आदि के भी दर्शन होते हैं । कूट पदों में श्लेष और यमक का प्राचुर्य है परन्तु यहाँ कवि का ध्येय रसोद्रेक नहीं, चमत्कार मात्र है । अलंकारों के कुछ उदाहरण देखिये—

यमक—हरि सम आनन हरि सम लोचन हरितह हरिवर आगी ।
हरि हि चाहि हरि न सोहावये हरि हरि कर उठि जागी ।।
अनुप्रास—अल्प दशन कलबल कर बोलसि ।
उपमा—बने है विसाल कमल दल नैन ।।
रूपक—नन्दनन्दन वृन्दावन चन्द ।
जदु कुल नभ तिथि द्वितिय देवकी प्रकटे त्रिभुवन बंद ।।
उत्प्रेक्षा—लोचन जनु थिर भृङ्ग अकार । मधुमाताल किये उड़इ न पार ।
विभावना—मुरली तउ गोपालहिं भावत ।
सुनुरी सखी जदपि नन्दनन्दनहिं नाना भाँति नचावति ।।

सूरदास की एक विशेषता उनका रूप सौन्दर्य है। सूर ने अधिकतर राधा-माधव के सौन्दर्य का वर्णन किया है—क्योंकि वही उनके उपास्य हैं। सूर के कृष्ण सुन्दरता के सागर हैं "देखो माई सुन्दरता को सागर"। वे उनके रूप सौन्दर्य का वर्णन करते हैं—

सुन्दर बोलत आवत बैन।
ना जाने तेहि समय सखी री सब तन स्रवन की नैन॥
रोम-रोम में शब्द सुरति की नखसिख ज्यों चख ऐन।
ऐती मान बनी चंचलता सुनी न समझी सैन॥
जब तक जाकि ह्वै रही चित्र सी पल न लगत चित चैन।
सुनहु सूर यह साँच कि विभ्रम सपन किधौं दिन रैन॥

सूरसागर की सर्वोत्कृष्टता उनके पदों का गीत-माधुर्य है। आचार्य शुक्ल का कहना है कि सूरसागर किसी प्राचीन समय से चली आती हुई गीत-पद्धति का विकसित रूप है। कुछ भी हो, सूर के पदों का गीतमाधुर्य, छन्द, शब्द-चयन, भाव सौन्दर्य, व्यंजना और अर्थ-माधुर्य इन सभी काव्यांगों के मेल से सुन्दर बन गया है। सूर का शब्द-चयन भी अद्वितीय है। उन्होंने उसमें माधुर्य को कहीं भी अपने हाथ से नहीं जाने दिया है। प्रत्येक अवसर पर उन्होंने भाव-रस के उपयुक्त ही शब्दों का चयन किया है। यथा—

मधुकर काके मीत भये।
दिवस चारि की प्रीति सगाई रस ले अनत गये॥

भाव सौन्दर्य—भाव-सौन्दर्य सृष्टि और अर्थ व्यंजना भी सूर की उत्कृष्ट हुई है। सूर के गीतों की एक विशेषता उनका भाव-सौन्दर्य भी है। यह पाठक और श्रोता के मन में ऐसे घर कर लेता है कि देखते ही बनता है। गोपियाँ 'ऊधो' से तर्क नहीं करतीं, उनके सामने कृष्ण के साथ अतीत सम्बन्ध की स्मृति छा जाती है। वह कहती हैं—

एक दिवस हरि अपने हाथन कर्णफूल पहिराये।
दे मोहन माटी के मुक्ता मधुकर हाथ पठाये॥
बेनीं सुभग गुही कर अपने हाथन चरणन जावक दीनो।
कहा कहों वा स्याम सुन्दर सों निपट कठिन मन कीनो॥

इस पद में पहले मधुर व्यवहारों की स्मृति से मधुर भाव की सृष्टि हो जाती है, फिर अन्तिम पद तक आते-आते कृष्ण की निठुरता की व्यंजना होती है। यही सूर काव्य की श्रेष्ठता है।

सूर जहाँ अत्यन्त मौलिक और प्रभावशाली दिखाई पड़ते हैं, वह है मधुर भाव की व्यंजना। भ्रमरगीत में तो व्यंग्यार्थ ही उसके प्राण हैं। कवि ने कहीं शब्द मात्र से, कहीं संकेतमात्र से और कहीं केवल पद-ध्वनि से ही व्यंजना की सृष्टि की है। उपालम्भ के भीतर प्रेम की व्यंजना करने में वे अद्वितीय हैं। गोपियाँ यशोदा को उपालम्भ देती हैं—

तेरो लाल मेरो माखन खायो।
दुपहर दिवस जानि घर सूनो ढूँढ़ि ढँढ़ोरि आपहि आयो ॥
खोल किवार सूने मन्दिर में दूध दही सब सखन खबायो।
छींके काढ़ि खाट चढ़ि मोहन कछु खायो कछु लै ढरकायो ॥
दिन प्रति हानि होति गोरस की यह ढोठा कौने ढंग ढायो।
सूरदास कहतीं ब्रज नारी पूत अनोखे जायो ॥

इस पद में पहली पंक्तियों में जहाँ क्रोध और उलाहना है, वहाँ अन्तिम पंक्ति उलाहना देने वाली की आँखों में हँसी और हृदय में प्रेम की अभिव्यंजना करती है। एक "अनोखे" शब्द ने ही सारे वाच्यार्थ को बदल दिया है।

सूरदास की कविता का एक प्रधान गुण चित्रमयता भी है। उन्होंने सारे सूरसागर में सहस्त्रों सौन्दर्यपूर्ण चित्र अङ्कित किये हैं। वे चित्रों के बिना सोच ही नहीं सकते। भाव, रस, भक्ति आदि सभी का उन्होंने चित्र उतारा है। विरही ब्रज का एक चित्र देखिए—

ब्रज के बिरही लोग दुखारे।
बिनु गोपाल ठगे से ठाड़े अति दुर्बल तन कारे ॥

भाषा—सूरदास की भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रज भाषा नहीं है। उनकी भाषा बोल-चाल की प्रवाहपूर्ण और सरस है। (१) उसमें रसों को प्रस्फुटित करने की शक्ति है, (२) वाच्यार्थ के अतिरिक्त वह व्यंग्यार्थ को भलीभाँति प्रकट करती है। (३) वह भाव की अनुयायिनी है। सूरदास हमारे सामने कवि,

भक्त व गायक इन तीनों रूपों में आते हैं। उनकी भाषा भी तीनों रूपों में बदली हुई आती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर का काव्यपक्ष प्रौढ़ है। वास्तव में वे हिन्दी-साहित्य-जगत के 'सूर' हैं।

प्रश्न १८—सूरसागर में वर्णित यशोदा व नन्द का चरित्र चित्रित कीजिए।

उत्तर—सूरदास के काव्य में यशोदा व नन्द वात्सल्य-भक्ति के प्रतीक हैं। यशोदा स्नेहमयी-माता एवं नन्द स्नेही पिता के रूप में ही सर्वत्र दिखाई देते है। इन दोनों का चित्रण हम पृथक्-पृथक् ही करेंगे।

यशोदा—यशोदा में सूरदास ने मातृ-हृदय का अपूर्व रूप चित्रित किया हैं। उससे 'माता' शब्द सार्थक हो जाता है। वह कृष्ण की बाल-लीलाओं में व्यस्त रहती हैं। कभी उन्हें पालने में झुलाती हैं। नींद नहीं आती तो थपकियाँ देकर सुलाती हैं—

> **यशोदा हरि पालने झुलावै।**
> **हलरावै दुलराइ मल्हावै जोई सोई कछु गावै।**
> **मेरे लाल को आउ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।**
> **तू काहे नहिं बेगि-सों आवै तोको कान्ह बुलावै॥**

वह प्रत्येक क्षण अपने मन को बाल-कृष्ण में केन्द्रित किए रहती हैं। कृष्ण ज्यों-ज्यों बड़े होते हैं, उसके आनन्द का पारावार नहीं रहता। उसे चिन्ता है कि वे कब घुटनों से चलने लगेंगे, कब उनके दाँत निकलेंगे—

> **"कबहिं घुटुरुवनि चलहिंगे यहि कहि विधिहि मनाव।"**
> **"कबहिं दंतुली द्वै दूध की देखौं इन नैननि॥"**

यशोदा का यह चित्रण प्रत्येक सामान्य स्त्री का सा है, इसी में सूर की विशेषता है। यशोदा कृष्ण के प्रत्येक क्रिया-कलाप से सुख पाती है। खाने-पीने के सम्बन्ध में कृष्ण को कभी भुलावे भी देती हैं "कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बढ़ि है।" कृष्ण वन में दूर जाते हैं तो उसको शङ्का होती है। कि कहीं गाय उन्हें मार न दे। वह प्रत्येक ग्वाल व गोपी को कृष्ण को सौंपती हैं। उनके वापिस लौटने तक द्वार पर खड़ी उनकी प्रतीक्षा करती रहती हैं।

"आवहु कान्ह साँझ की बिरियाँ।" एक बार कृष्ण मिट्टी खा लेते हैं, उस समय की माता यशोदा का रूप देखिये—

मोहन काहे न उगिलौ माटी।
बार-बार अनुरुचि उपजावत महरि हाथ लिये साँटी।
महतारी को कह्यो न मानत कपट चतुरई ढाटी।
बदन पसारि दिखाइ आपने नाटक की परिपाटी॥
बड़ी बार भई लोचन उघरे भ्रम जामिनि नहिं फाटी।
सूरदास नन्दरानि भ्रमत भई कहत न मीठी खाटी।

कृष्ण की चंचल प्रकृति ने ब्रज की समस्त गोपियों को परेशान कर रखा था। वे उनके दधि-माखन की चोरी ही नहीं करते थे वरन् उनके "गोरस भाजनों" को भी तोड़ डालते थे। गोपियाँ यशोदा के पास जाकर शिकायत करती थीं, किन्तु सरल प्रकृति एवं स्नेहमयी माता को यह विश्वास ही नहीं होता था कि उनका अबोध बालक इस प्रकार की शरारतें कर सकता है। कई बार तो गोपियों ने कृष्ण को अपराधी भी प्रमाणित कर दिया, किन्तु यशोदा ने गोपियों को समझा-बुझाकर टाल दिया। उनकी समझ में यह बात नहीं आती थी कि जब उनके घर में गोरस का भण्डार है तो उनका कन्हैया दूसरों के यहाँ चोरी करने क्यों जाता है ? जब कृष्ण का यह नटखटपन सीमा से बाहर हो गया और माँ कृष्ण को समझाकर हार गई तो उन्हें क्रोध आ गया और एक दिन रोषपूर्वक उनके हाथों को रस्सी से कस उन्हें ऊखल से बाँध दिया और स्वयं हाथ में संटी लेकर उन्हें डाटने लगीं। कृष्ण हिचकियाँ लेने लगे। गोपियों ने जब यह देखा तो यशोदा से इसके लिए मना करने लगीं और कृष्ण को खोलने की प्रार्थना करने लगीं। इस पर उन्होंने गोपियों को भी खूब झिड़कियाँ दीं, क्योंकि शिकायत लेकर तो वे ही आयीं थीं। जब यमलार्जुन वृक्ष उखड़े और यशोदा ने यह देखा तो कृष्ण को हृदय से लगा लिया और फिर कभी भी भी कोप नहीं किया। यशोदा का प्रेम इतना पूर्ण है कि उनको कृष्ण के वियोग की जरा भी कल्पना नहीं, अमंगल की आशंका भी नहीं, किन्तु जब कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा जाते हैं तो उनके लिए यह असह्य हो जाता है। वे रो देती हैं और कहती हैं—

मोहन नेक बदन तन हेरो ।
राखो मोहि नात जननी को मदन गोपाल लाल मुख फेरो ॥

किन्तु जब उन्हें कृष्ण की ओर से ब्रज में रहने का आश्वासन नहीं मिलता तो वे दुखित हो जाती हैं और चिल्लाकर कहती है—

गोपालहि राखो मधुवन जात ।
लाज गये कछु काज न सरि है बिछुरत नन्द के तात ॥
रथ आरूढ़ होत बलि बलि गई होई आयो परभात !

कृष्ण को मथुरा में छोड़कर नन्द जब अकेले ब्रज को लौटते हैं तो एक बार फिर यशोदा का कोप जाग उठता है, और वे नन्द को धिक्कारती हैं—

यशोदा कान्ह कान्ह कै बूझे ।
फूटि न गई तिहारी चारों कैसे मारग सूझे ।
इक तनु जरो जात बिनु देखें अब तुम दीन्हें फूक ।
यह छतियाँ मेरे कुँवर कान्ह बिनु फाटि भई न द्वै टूक ।

यह कहते-कहते यशोदा मूर्च्छित हो जाती हैं । अब यशोदा को बार-बार कृष्ण की याद आती है । वे नन्द को उन्हें ले आने के लिए कहती हैं । कभी उन्हें मक्खन को देखकर कृष्ण की याद आती है ।

कृष्ण का वियोग उन्हें इतना दीन बना देता है कि वे देवकी के सामने कृष्ण की धाय बनना भी स्वीकार कर लेती हैं—

संदेसो देवकी सों कहियो ।
हों तो धाय तिहारे सुत की मया करति ही रहियो ॥

वह हमेशा कृष्ण की याद करती हैं । सोचती हैं कि अबकी बार कृष्ण फिर यहाँ आ गये तो मैं उन्हें भूलकर भी गाय चराने के लिए नहीं कहूँगी । माखन की चोरी करते हुए भी नहीं बरजूँगी—

मेरे कान्ह कमल दल लोचन ।
अबकी बेरि बहुरि फिर आवहु कहा लगे जिय सोचन ।
यह लालसा होत जिय मेरे बैठी देखत रहिहौं ।
गाय चरावन कान्ह कुँवर सों भूलि न कबहूँ कहिहौं ।

जब उद्धव ब्रज से मथुरा जाने लगे तो उन्होंने कृष्ण के लिए कुछ सन्देश देने के लिए कहा। यशोदा ने शाब्दिक सन्देश देने की अपेक्षा उद्धव द्वारा कृष्ण के पास उनकी मुरली भेजकर जो मूक वेदना व्यंजित की है, उसका अनुभव तो सहृदय पाठक ही कर सकते हैं। वस्तुतः यशोदा के मातृ-हृदय के चित्रण में सूरदास ने कमाल कर दिया है।

नन्द—सूर काव्य के नन्द गोकुल के सम्भ्रान्त व्यक्ति हैं। वृद्धावस्था होने के कारण वे "नन्द बाबा" कहलाते हैं। इस अवस्था में कृष्ण-बलराम जैसे भुवनभूषण पुत्रों को पाकर उनके हर्ष का पारावार नहीं। वैसे सूर ने नन्द के चित्रण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है, किन्तु यशोदा के चरित्र-चित्रण में ही एक प्रकार से नन्द का चित्रण भी हो गया है। किन्तु जैसे नन्द व यशोदा की प्रकृति में नैसर्गिक भेद है, इसी प्रकार का भेद उनके चरित्र में भी हो गया है। कृष्ण के वियोग के समय जबकि यशोदा मूर्छित तक हो जाती हैं, वहाँ नन्द पुरुष होने के कारण कुछ कठोर ही बने रहते हैं। यशोदा नहीं जानतीं कि उनके हृदय में वेदना है और जब उन्हें उलाहना देती हैं तब वे कुछ विचलित हो उठते हैं। उन्हें मूर्छा आ जाती है। इसके बाद उनमें वियोग के कोई चिन्ह नहीं दिखाई पड़ते। वे कृष्ण के वियोग को बड़े धैर्य से सहन करते हैं।

प्रश्न १९—सूरसागर की मुख्य नायिका राधा का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—सूर काव्य की प्रधान नायिका राधा है, जो परम सुन्दरी गोप-बालिका है। उसका वर्ण गोरा है। उसके प्रत्येक अंग की शोभा अनुपम है। सूर ने अगणित पदों में राधा के रूप-सौन्दर्य का वर्णन किया है। सब में राधा के प्रत्येक अंग का विस्तृत वर्णन है किन्तु उसके नेत्रों की छवि का तो अत्यन्त ही उत्कृष्टता से वर्णन किया है।

सूरदास की राधा न चण्डीदास की राधा की तरह परकीया है, न विद्यापति की राधा के समान प्रेयसी, न वह साधारण अथवा असाधारण गोपी है। वह तो कृष्ण की पत्नी है। नायिका-भेद की परिभाषा में उसे हम स्वकीया कहेंगे।

राधा व कृष्ण के आध्यात्मिक तत्व की जो व्यंजना सूरदास ने की है उसका वर्णन सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों वाले प्रश्न में हम कर चुके हैं। यहाँ हम उसके लौकिक पक्ष का ही चित्रण करेंगे।

एक दिन कृष्ण खेलने निकले। वहीं वे राधा को "औचक" ही देखते हैं। वह भी उन्हीं की तरह बालिका है, उन्हीं की तरह सखियों के साथ है। राधा को देखते ही कृष्ण मुग्ध हो गये हैं।

कृष्ण पूछते हैं—तू कौन है ? किसकी बेटी है ? व्रज में तो तू दीख नहीं पड़ी। राधा कहती है—मैं व्रज की ओर क्यों आती ? अपनी ही पौरी में खेलती रहती हूँ। हाँ, सुनती रही हूँ कि नन्द का लड़का माखन की चोरी करता है। कृष्ण कहते हैं—तुम्हारा हम क्या चुरा लेंगे ? चलो साथ खेलने चलें। हमारी तुम्हारी जोड़ी रही। यही से दोनों के मन में प्रेम-पूर्ण स्नेह उदित होता है। कृष्ण कहते हैं—

खेलन कबहुँ हमारे आवहु नन्दसदन ब्रज गाँउँ।
द्वारे आइ टेर मोहि लीजो कान्ह है मेरो नाउँ॥
जो कहियो घर दूर तुम्हारो बोलत सुनिये टेर।
तुमहिं सौंह वृषभानु बबा की प्रात साँझ एक फेर॥
सूधी निपट देखियत तुमकों ताते करियत साथ।
सूर स्याम नागर उत नागरि राधा दोऊ मिल गाथ॥

अब राधाकृष्ण बालिका-बालक नहीं, वे नागरी-नागर हैं। कृष्ण इशारे में ही राधा से कहते हैं—

खरिक आवहु दोहनी लै यहै मिस छल पाई।
गाइ गिनती करन जैहैं मोहि ले नन्दराई॥

धीरे-धीरे राधा-कृष्ण का प्रेम बढ़ता जाता है। राधा कभी देर से घर जाती है तो माँ कारण पूछती है। तो वह कहती है खरिक देखने गई थी। कृष्ण के बिना उसको अब अच्छा नहीं लगता। अत्यन्त व्याकुल हो जाती है। माँ से दोहनी माँगती है। और कहती है—

खरिक माँहि अब ही ह्वै आई अहिर दुहत अपनी सब गैया।
ग्वाल दुहत तब गाइ हमारी जब अपनी दुहि लेत॥
घरिक मोहि लगिहै खरिका में तू आवै जनि हेत।

उधर नन्द भी कृष्ण को लिए खरिक में आते हैं। कृष्ण राधा को देख बुला लेते हैं। नन्द कहते हैं खेलो, दूर मत जाना। मैं गिनती करता हूँ, पास रहना। देखना, वृषभानु की बेटी, कान्ह को कोई गाय न मारे। अब राधा-कृष्ण अकेले हैं। यहीं से सूरदास शृंगार-सागर में प्रवेश करते हैं। राधा कहती है—नन्द बाबा ने जो कहा वह सुना? अब छोड़कर गए तो मैंने पकड़ा। अब मैं तुम्हारी बाँह नहीं छोड़ूँगी। श्याम कहते हैं—कैसी उपरफट बातें करती है?

इस प्रसंग तक सूर ने बाल-केलि व प्रेम-लीला का ऐसा मिश्रण कर दिया है कि उनके इस कौशल पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। इसके बाद एक दिन जब आकाश में काली घटाएँ छा जाती हैं, नन्द इस आँधी पानी को देख डरते हैं। राधा को बुलाकर कहते है—कान्ह को घर लिए जा। राधा कृष्ण बूँदों में भीगते-भागते वन से लौटते हैं—परस्पर सटे-सटे! मार्ग में रति क्रीड़ा भी करते हैं। यहीं से राधा कृष्ण के संयोग शृंगार का वर्णन होता है।

चूमत अंग परस्पर जनु जुग चन्द करत हित धार।
रसन हसन भरि चापि चतुर अति रङ्ग विस्तार॥

फिर एक दिन राधा कृष्ण के घर आती है—

खेलन के मिस कुँवरि राधिका नन्द महर के आई हो।
सकुच सहित मधुरे करि बोली घर हों कुवँर कन्हाई हो॥
सुनत स्याम कोकिल-सम वाणी निकसे अति अतुराई हो।
माता सों करत कलह हरि सो डरियो बिसराई हो॥
मैया री तू इनको चीन्हति बारम्बार बताई हो।
यमुना-तीर कलिह हौं भूल्यो बाँह पकरि ले आई हो॥
आवति यहाँ तोहि सकुचो है हौं दै सौंह बुलाई हो।

यशोदा ने कहा—बुला लो। कृष्ण ने राधा का हाथ पकड़ कर उसे माँ के पास बिठा दिया। यशोदा व राधा में वार्तालाप होता है। यशोदा राधा के माता-पिता का परिचय पूछती है। राधा परिचय देती है कि मैं वृषभानु की बेटी हूँ। यशोदा कहती है मैं जानती हूँ उन्हें, बड़े "लंगर" हैं। राधा भी वैसे ही उत्तर देती है—उन्होंने, तुम्हें कब छेड़ा? यशोदा हँस कर उसे हृदय से लगा लेती है। फिर उसको संवार देती है और खेलने के लिए कहती हैं। एक बार राधा कृष्ण की मुरली चुरा लेती है। कई बार दोनों मान करते हैं, किन्तु फिर वही आँखों की लड़ाई। राधा की माँ उसे उलाहना देती है—

काहे को तुम जहँ तहँ डोलति हमको अतिहि लजावति।
अपने कुल की खबरि करौ धौं सकुच नहीं जिय आवति॥

एक बार कृष्ण ने राधा की गायें दुह दीं। वह लौटाती है किन्तु लौटा नहीं जाता। अन्त में मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। सखियाँ संभाल कर घर लाती हैं। घर जाकर वे कहती हैं—इस श्याम भुजंग ने डस लिया, कोई गारुड़ी बुलाओ। गारुड़ी आते हैं, पछता कर चले जाते हैं। सखियों के कहने पर माँ कृष्ण को बुलाती है। स्वयं वृषभानु-पत्नी उन्हें बुलाने जाती हैं। यशोदा के पाँव पड़ती हैं। कृष्ण राधा के पास पहुँचते हैं, उनकी मूर्छा दूर हो जाती है।

इसके बाद हम राधा को पनघट लीला में अन्य सखियों के साथ पाते हैं—

राधा सखियन लई बोलाइ।
चलहु यमुना जलहिं जैयै चली सब सुख पाय॥
सबनि एक एक कलश लीन्हों तुरत पहुँची जाइ।
तहाँ देखे स्याम सुन्दर कुंवरि मन हरसाय॥
नन्द नन्दन देखि रीझें चितै रहै चितलाय।
सूर प्रभु की प्रिया राधा भरत जल मुसुकाइ॥

दान लीला प्रसंग में भी राधा है—

ब्रज युवति नितप्रति दधि बेचन बनि बनि मथुरा जाति।
राधा चन्द्रावलि ललितादिक बहु तरुणी इक भाँति॥

इसमें राधा का उल्लेख पृथक नहीं हुआ। इसके अनन्तर अनेक गोपियाँ भी कृष्ण की लीला में भाग लेने लगती हैं। गोपियों के साथ कृष्ण अनेक लीलाएँ रचते हैं। कृष्ण की वंशी ध्वनि गोपियों को मोह लेती है। वे सब काम-काज छोड़ कृष्ण के पास जा पहुँचती हैं और उनकी लीला में भाग लेती हैं। इस युवती-मण्डली में राधा ही प्रधान है। वही कृष्ण की मुख्य नायिका है। रास का वर्णन देखिये—

रास मंडल मध्य स्याम राधा।
मनो घन बीच दामिनी कौंधति, सुभग एक है रूप द्वै नाहिं बाधा।
नायिका अष्ट अष्टहु-दिशा सोहहीं बनी चहुँ पास गोप कन्या।
मिले सब सङ्ग नहिं लखति कोउ परस्पर, बने षटदश सहस्र कृष्ण सैन्या।
सजे श्रृंगार नवसात जगमग रह्यौ, अंग भूषण रैनि बनी तैसी।
सूर प्रभु नवल गिरधर नवल राधिका, नवल ब्रज सुता मंडली जैसी।

सूरदास गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम लीला दिखाते हुए भी दाम्पत्य-प्रेम केवल राधिका में ही दिखाते हैं।

रास के प्रसंग में कृष्ण राधा के साथ अन्तर्धान हो जाते हैं, परन्तु राधा को गर्व होता है और वह कृष्ण के कन्धे पर चढ़ना चाहती है। फलस्वरूप कृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं और गोपियाँ राधा को एक पेड़ के नीचे बिलखते हुए पाती हैं। उसका गर्व दूर हो जाता है।

कृष्ण एक बार पुनः राधा के विरह में व्याकुल हो जाते हैं। भाँति-भाँति से राधा को मनाना चाहते हैं, किन्तु राधा नहीं मानती——

भरि-भरि-अँखियन नीर लेति पै ढारति नाहिं अतिरिस,
काँपत अधर करकि करि भृकुटि तानति।

अन्त में कृष्ण मूर्छित हो जाते हैं, किन्तु राधा का मान नहीं टूटता, क्योंकि उसे विश्वास है कि कृष्ण उसके ही हैं——

नाँहि हठि परयौ प्राण बल्लभ सो छूटत नहीं छुड़ाये।
देखो मुरछि परयौ मनमोहन मनहुँ भुजंगिनि खायो॥

यह तो हुई संयोग शृंगार की बात। विप्रलम्भ में तो राधा का चरित्र और भी खिल जाता है। जिस दिन अक्रूर कृष्ण को मथुरा ले जाते हैं, उस रात राधा को नींद नहीं आती।

> आजु रैन नहिं नींद परी।
> जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविन्द हरी ॥

कृष्ण के मथुरा चले जाने पर राधा की जो दशा है, उसका मार्मिक वर्णन देखिये। एक पथिक को मार्ग में देखकर राधा बुला लेती है और कहती है—

> कहियो पथिक जाइ हरि सों मेरो मन अटको नैनन के लेखे।
> इहै दोष दै दै झगरत हैं तब निरखत मुख लगो क्यों निमेषे ॥
> कै तौ मोहिं बताय दबकियो लगी पलक जड़ जाके पेखे।
> ते अब सब इन पै भरि चाहत विधि जो लिखे दरसन सुख पेखे ॥

गोपियाँ जब पंथी के सामने कृष्ण को दोष देती हैं, तब राधा कह उठती है—

> सखी री हरि को दोष जनि देहु।
> ता ते मन इतनो दुख पावत मेरोई कपट सनेहु ॥

भ्रमर-गीत के प्रसंग में राधा का उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु ब्रज से लौटने पर उद्धव कृष्ण से कहते हैं, उससे यह स्पष्ट होता है कि उद्धव के आगमन की बात सुनकर राधा द्वार तक अवश्य चली आई थीं। द्वार पर खड़ी राधा का वर्णन उद्धव ने इस प्रकार किया है—

> देखी मैं लोचना चुवत अचेत।
> मनहुँ कमल ससि भास ईस को मुक्ता गनि गनि देत ॥
> द्वार खड़ी इकटक मग जोवत अधर श्वास न लेत।
> मानहुँ मदन मिले चाहित हैं सुचंत मरुत समेत ॥
> श्रवण न सुनत चित पुतरी लौं समुझावत जितनेत।
> कहुँ कंकन कहुँ गिरी मुद्रिका कहुँ ताटंक कहुँ नेत ॥
> मनहुँ विरह दव जरत विस्व सम राधा रुचिर निकेत।
> धुज होइ सूखि रही सूरज प्रभु बँधी तुम्हारे हेत ॥

वे अन्य गोपियों के समान अपना संदेश भी न दे सकीं। राधा का कण्ठ भर आता है और जब उन्होंने कुछ संदेश दिया भी तो केवल इतना ही—

इतनी बिनती सुनो हमारी।
बारक हूँ पतिया लिख दीजै॥
चरण कमल दरसन नव नौका करुणा सिंधु जगत जस लीजै।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै॥

इसके बाद राधा के दर्शन तब होते हैं, जब श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र से लौट रहे हैं, उनके साथ रुक्मिणी भी है। राधा को विश्वास नहीं होता। उनका विरह उनके लिए इतना स्वाभाविक हो गया है कि कृष्ण के निकट आने पर भी उनकी प्रतीक्षा से अधीर हो जाती है एवं मिलन पर भी विश्वास नहीं करती! रुक्मिणी के पूछने पर कृष्ण उन्हें राधा को दिखाते हैं। राधा पूछती है—

हरि जी इतै दिन कहाँ लगाये ?
तबहिं अवधि हौं कहत न समुझी गनत अचानक आये॥
भली करी जु अबहिं इन नैनन सुन्दर चरण दिखाये।
"जान कृपा" राज काजहुँ हम निमिष नहीं बिसराये॥
बिरहन विकल बिलोकि सूर प्रभु धाइ हृदय कर लाये।
कछु मुसुकाय कह्यौ सारथि सुन रथ के तुरंग छुराये॥

इसके अनन्तर रुक्मिणी राधा को अपना लेती हैं।

"राधा माधव भेंट भई"

अन्त में कृष्ण राधा से कहते हैं—'हम तुम में तो कोई अन्तर नहीं', और उसे ब्रज भेज देते हैं। सखी के प्रति राधा के वचन से राधा का चित्रण समाप्त होता है—

कहत कछु नाहीं आज बनी।
हरि आए हौं रही ठगी सी जैसे चित्त धनी॥

राधा के चरित्र की विशेषता है, सर्वस्व समर्पण। संयोग व वियोग के अवसरों पर उसने कृष्ण पर पूर्ण विश्वास किया है। उसने आर्य महिला होने

के नाते अपने प्रेमी या पति के दोषों को अपने ऊपर ले लिया है। वस्तुत: राधा का यह चित्रण सूर की सबसे उत्कृष्ट और एवं मौलिक कल्पना है।

प्रश्न २०—विवेचन कीजिये कि सूर काव्य के मुख्य नायक श्रीकृष्ण का चित्रण अनेक दृष्टियों से हुआ है।

उत्तर—सूरदास के कृष्ण लीला-पुरुष हैं। सूरदास की समस्त लीलाएँ उन्हीं से सम्बन्धित हैं। वे सूर काव्य के नायक ही नहीं, प्रत्युत् सूरदास के आराध्य देव भी हैं, इसलिये कवि ने उनका यशोगायन मनोयोगपूर्वक किया है। सूरकाव्य के समस्त पात्रों में श्रीकृष्ण की प्रधानता ही नहीं, अपितु शेष समस्त पात्रों के चरित्र भी कृष्ण चरित्र से गुँथे हुए हैं। सूर काव्य में से कृष्ण चरित्र को निकाल देने से अन्य पात्रों का कोई भी महत्त्व नहीं रह जाता। कृष्ण अपनी एक लीला से निकल दूसरी में चले जाते हैं। पुरानी लीला की एक क्षीण स्मृति मात्र उनके मन में रहती है। इतने पर भी वे प्रत्येक लीला में पूर्ण हैं।

सूरदास के कृष्ण परम सुन्दर, स्वस्थ एवं चंचल प्रकृति के नटखट बालक हैं। एक समृद्ध ग्रामीण परिवार के बालक की भाँति उनका लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से हुआ है। वृद्धावस्था की सन्तान होने के कारण वे माता-पिता के तो दुलारे हैं ही, साथ ही उनमें ऐसा आकर्षण भी है कि वे ब्रज के नर-नारी तथा पशु-पक्षियों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं के गान में सूर ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है। बाल कृष्ण की प्रत्येक चेष्टा का उन्होंने अत्यन्त स्वाभाविक एवं विशद वर्णन किया है। श्रीकृष्ण अपनी लीलाओं से नन्द यशोदा को परम आनन्दित करते हैं। वे नाना भाँति के खेल-कूद और आमोद-प्रमोद द्वारा गोप-बालकों को एवं अपने रूप-लावण्य द्वारा गोप-बालिकाओं एवं गोपांगनाओं को उल्लसित करते हैं। वे ब्रज-नारियों के घरों में घुस उनका दधि-माखन चुराकर खा जाते हैं। पनघट या यमुनातट पर उन्हें परेशान करते हैं, एकान्त वन में जाती हुई गोपियों को रोक कर उनसे 'दान' माँगते हैं एवं उनके आना-कानी करने पर उनके दधिभाजनों को तोड़ डालते हैं। कृष्ण

की इन करतूतों से गोपियाँ रुष्ट भी हैं, पर इससे उन्हें सुख भी मिलता है और इसे वे अपना अहोभाग्य समझती हैं।

कृष्ण मुरली बजाने की कला में भी अत्यन्त निपुण हैं। जब भी वे मुरली बजाते हैं समस्त ब्रज को आत्म-विभोर कर देते हैं। शरद् की ज्योत्सना से ज्योतित रात्रि में वे नाना प्रकार के गान, नृत्य आदि द्वारा सबका मनोरंजन करते हैं।

उन्होंने अल्पायु में ही बलशाली दैत्यों का संहार एवं खेल-कूद में ही कालियदमन जैसे साहसपूर्ण कार्य कर डाले हैं। कंस जैसे अत्याचारियों को भी मार डाला है। उनके इन्हीं दैवी कार्यों से प्रभावित होकर ब्रजवासी उन्हें एक क्षण के लिए भी छोड़ना नहीं चाहते, वे उन्हें अवतारी पुरुष समझने लगते हैं, किन्तु दूसरे ही क्षण साधारण सखा भी।

जब अक्रूर श्रीकृष्ण को लेने आते हैं और वे मथुरा जाने लगते हैं, उस समय उनका मन अपने माता-पिता एवं बाल-सखाओं से बिछुड़ते तनिक भी विचलित नहीं होता जबकि दूसरी तरफ समस्त ब्रजवासी आर्तनाद करते हैं। मथुरा में भी कंस को मारने के बाद वे नन्द आदि को वापस भेज देते हैं। स्वयं वहाँ की राजनीति में इतने मग्न हो जाते हैं कि ब्रज समीप होने पर भी वहाँ नहीं जाते।

कृष्ण की अनुपस्थिति में तो ब्रज की बहुत ही बुरी अवस्था थी। सभी ब्रजवासी उनके विरह में व्याकुल थे किन्तु कृष्ण को उनकी याद तक न आई। बहुत दिनों बाद उन्होंने अपने मित्र उद्धव को भेजा। उद्धव गोपियों को समझाने आये किन्तु स्वयं ही उनके प्रेम-रस में डूब गये। लौटने पर उद्धव ने श्रीकृष्ण को ब्रज की जो दशा बताई उसके सुनने पर भी वे ब्रज नहीं गये।

मथुरा से वे जब बहुत दूर द्वारिका चले गये तब जाते समय भी ब्रजवासियों से नहीं मिले। वहाँ उन्होंने गार्हस्थ्य सुख का उपभोग किया। द्वारिका के राजा के रूप का वर्णन सूर ने संक्षेप में किया है। सुदामा दारिद्रय-मोचन में उन्होंने उनके दीन-बन्धु स्वरूप का भी दर्शन कराया है पर ऐसा स्पष्ट प्रतीत

होता है कि सूर का मन बाल-कृष्ण के स्वरूप के वर्णन के अतिरिक्त किसी भी अन्य वर्णन में नहीं रमता।

अन्त में कृष्ण को द्वारिका में ब्रज की याद आती है तब वे सूर्य ग्रहण पर्व पर कुरुक्षेत्र जाते हैं। ब्रजवासियों को भी बुलाते हैं। वहीं ब्रजवासियों को कृष्ण मिलन का सौभाग्य प्राप्त होता है।

इस प्रकार समस्त सूरसागर का अध्ययन करने पर श्रीकृष्ण का चरित्र हमारे समक्ष निम्न रूप में आता है—

क—अत्यन्त मुखर बालक के रूप में।

ख—चंचल किशोर के रूप में।

ग—किशोर प्रेमी के रूप में।

घ—क्रीड़ा-कौतुक प्रिय सखा के रूप में।

ङ—तरुण नायक के रूप में।

च—अति प्राकृत अलौकिक सत्ता के रूप में (जो अनेक आश्चर्यमयी लीलायें करती हैं, एवं भक्तों की रक्षा करती है।)

छ—गौरव-गम्भीर महाराज के रूप में।

यद्यपि इसमें कृष्ण के ज्ञानी एवं राजनीतिज्ञ रूप का भी निर्देश हुआ है। परन्तु कृष्ण के चरित्र के ये अंग भागवत व महाभारत में ही मुख्य हैं। सूरदास को तो—जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं, कृष्ण केवल लीलामय शिशु तथा चंचल किशोर प्रेमी के रूप में ही अधिक प्रिय हैं।

संक्षेप में कृष्ण के चरित्र को दो भागों बाँटा जा सकता है (१) उनका असामान्य या अलौकिक चरित्र, एवं (२) सामान्य या लौकिक चरित्र। प्रथम रूप में सूर ने कोई विशेषता उत्पन्न नहीं की। हाँ, उनका मानवीय चरित्र पूर्ण लौकिक है। जिस प्रकार कुरुक्षेत्र से ब्रज आने पर कृष्ण को महाराज के सिंहासन से उतर कर राधा के पास सामान्य प्रेमी के रूप में जाना पड़ा, उसी प्रकार अलौकिक कृष्ण-चरित्र सूरदास के लिये एक सामान्य पुरुष का सामान्य चरित्र बन गया है। उन्होंने ये दोनों चरित्र अलग-अलग प्रगट नहीं किये। उन्होंने सामान्य व असामान्य का इतना सुन्दर समिश्रण किया है

कि उसमें भक्ति और काव्य के विकास के लिए एक साथ ही स्थान मिल सका है।

प्रश्न २१—दृष्टकूट किसे कहते हैं? सूर के दृष्टकूट किस प्रवृत्ति के सूचक हैं? क्या सूरसागर व साहित्यलहरी के दृष्टकूट विभिन्न व्यक्तियों की रचनाएँ हैं?

उत्तर—दृष्टकूट एक प्रकार का अलंकार है। इसमें शब्द चमत्कार या शब्दों की क्रीड़ा होती है, कष्ट-साध्य दूरागत अर्थों का चमत्कार उपस्थित किया जाता है। इसमें शब्दार्थों का आधार अभिधा शक्ति होती है। कोष में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। एक शब्द के अर्थ से दूसरे शाब्दिक अर्थ की प्रतीति और दूसरे से तीसरे अर्थ की, इस प्रकार शृंखला रूप में (अर्थ) प्रतीति होती है। इस प्रकार वांछित अर्थ चमत्कार स्पष्ट हो जाता है। जैसे—

"मन्दिर अधर अवधि हरि बढ़ि गये हरि अहार चलि जात।"

इसमें मन्दिर-मकान उसका आधा पाख-पक्ष-१५ दिन। इसी प्रकार हरि-अहार में, हरि शब्द के अनेक अर्थों में एक अर्थ सिंह भी है—सो हरि-सिंह, उसका आहार माँस, का उच्चारण परिवर्तन करने पर मास अर्थात् ३० दिन। अतः इस पद्यांश का अर्थ हुआ कि श्रीकृष्ण ने १५ दिन की अवधि दी थी, पर अब तो महीना भी बीत गया।

ज्ञान और साधना इतने सरल-साधारण न हो जायँ कि उनमें विकार आ जाय, इस प्रकार की भावना हमारे देश में प्राचीन काल से चली आती है। ऋषियों ने इसे वांछनीय समझा कि जिस ज्ञान को उन्होंने अत्यन्त कष्ट से प्राप्त किया है वह उपयुक्त पात्र को ही मिले। ऋग्वेद में बहुत कुछ प्रतीकों के रूप में कहा गया है। नरमेध व अश्वमेध को मानसिक बलि का प्रतीक बताया गया है।

हिन्दी में इस प्रकार की प्रवृत्ति का परिचय हमें सिद्धों की कविताओं में ही मिल जाता है। कबीर पंथियों ने भी साधना द्वारा प्रायः ज्ञान को छिपाने के लिये कूटपद कहे! कबीर की उलट बाँसियाँ तो इस दृष्टि से प्रसिद्ध ही हैं। लोक-साहित्य में भी पहेलियाँ-मुकरियाँ आदि चलती थीं। उनमें भी कौतुक के लिये कूट उपस्थित किया जाता था। इन्हीं दो उद्गमों से प्रभावित होकर

हिन्दी साहित्य में यह प्रवृत्ति आई। कुछ ऐसा कहा जाए जिसमें चमत्कार हो, अर्थ छिपाने की चेष्टा हो, पाण्डित्य का प्रदर्शन हो। यमकालंकार ने इसमें विशेष सहायता की। भक्ति साहित्य में इस प्रकार का सर्वप्रथम प्रयोग विद्यापति की पदावली में मिलता है--

"हरिसन आनन हरिसम लोचन हरिवर आगी।
हरिहि चाहि हरि-हरि न सोहावए हरि-हरि गए उठि जागी।

विद्यापति के बाद सूर का साहित्य आता है। उनके दृष्टकूटों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे विद्यापति से प्रभावित थे। अस्तु, हमें यह देखना है कि सूर के ये पद किस प्रवृत्ति के सूचक हैं? कुछ लोग तो इसे सूर का कल्पना-विलास मात्र समझते हैं किन्तु बात वास्तव में ऐसी है नहीं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर उसमें कवि की एक विशिष्ट मनोवृत्ति का प्रकाशन दिखाई पड़ता है। सूरदास ने गोपियों की दान-लीला में अंगों का दान कराया है। इसमें दान की वस्तुओं को गिनाना था। इसी प्रकार ये राधा की माता द्वारा राधा का नख-शिख वर्णन कराते हैं। मानवती राधा के रूप की प्रशंसा वे सखियों द्वारा कराकर मिलन की प्रार्थना करते हैं। सूरदास की वाणी से इन वर्णनों का साधारण भाषा में आना उचित न था, इसीलिये उन्होंने ऐसे प्रसंगों में कूट शब्दों का प्रयोग किया है। मान की अवस्था में स्पष्ट रूप से कहने में सखी की धृष्टता प्रकट होती है। इसलिए दृष्टकूट शब्दों द्वारा सखी अपना मन्तव्य कह देती है। राधा और कृष्ण दोनों की अवस्थाओं का गूढ़ार्थ द्वारा ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए निम्न कूट को लीजिए—

राधे हर रिपु क्यों न दुरावति।
सैल सुतापति तासु सुतापति ताके सुतहि मनावति॥
हरि बाहन सोभा यह ताकी कैसे धरे सुहावति।
द्वै अरु चारि छहौं वै बीते कहु क्यों गहरु लगावति॥
नौ अरु सात एजु तँहँ सोहत तै तू कहि क्यों दुरावति।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को श्री रंग-रंग भरि आवति॥

गोपी राधा से कहती है कि राधे! तू मान किए तो बैठी है पर हररिपु=कामदेव को क्यों नहीं छिपाती है, सैल सुता=गिरजा उसका पति

शङ्कर की सुता लक्ष्मी, उस लक्ष्मी का पति विष्णु=विष्णु का पुत्र कामदेव [कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न कामदेव का अवतार माना जाता है] तू उसको मानती है। भाव यह कि तू नित्य प्रति मन में कामदेव का भजन करती है। दो+चार छ: अर्थात् बारह घन्टे बीत चुके हैं, तू देर क्यों लगा रहा है। नौ+सात १६ श्रृंगारों से तेरा अंग-अंग शोभित हो रहा है। तेरे अंग में कृष्ण के मिलन का रंग भरा है।

कैसी सुन्दर व्यंजना है। सखी ने राधा के हृदय की प्रेमोत्कटता और कृत्रिम मान को भी प्रकट कर दिया है एवं उसमें राधा की धृष्टता भी नहीं दिखाई गई है।

इसी प्रकार कृष्ण के समक्ष सखी राधिका के नख-शिख का वर्णन करती है। इसमें रूपकातिशयोक्ति का आश्रय लेकर अत्यन्त सुन्दर काव्य-सौन्दर्य का प्रतिपादन हुआ है—

अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त ता पर सिंह करत अनुराग।।
हरि पर सरवर, सरपर, गिरिवर, गिरिपर फूलै कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक-पिक मृद मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग।।

इन प्रतीकों का अर्थ—गज क्रीड़ा=चाल, सरवर=नाभि, गिरवर=कुच, कच=कुचाग्र, कपोत=कंठ, अमृतफल=मुख, पुहुप=चिबुक (ठोड़ी) पल्लव=ओष्ठ, शुक=नासिका, पिक=स्वर, खंजन=नेत्र, धनुष=भौंह, चन्द्रमा=मस्तक, मणिधरनाग=सिन्दूर बिन्दु व ऊपर की लट।

भाव यह है कि—राधा के शरीर का सौन्दर्य एक विचित्र बाग की भाँति है, जिसमें दो चरण कमलों के ऊपर गज की सूँढ़ के समान कोमल जंघाएँ हैं। उनके ऊपर सिंह के समान कटि है। कटि पर नाभी और उसके ऊपर वक्ष, तथा वक्ष पर दो कुच हैं। उसके ऊपर कबूतर के समान कोमल और पतली सी गर्दन है तथा गर्दन के ऊपर ठोढ़ी है। उसके ऊपर मुख और उस

पर पल्लव अर्थात् अधरोष्ठ हैं। उस पर नासिका, कोयल के समान वाणी बिन्दी और बाल हैं, मुख रूपी चन्द्रमा के ऊपर खंजन पक्षी के समान आँखें और फिर भौंह हैं। उसके ऊपर वेणी है। इस प्रकार चतुर गोपी कृष्ण को राधा के अधरामृत का पान करने की प्रेरणा देती है। इसी प्रकार का वर्णन विद्यापति ने भी किया है।

रहस्यात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करने के लिए भी कहीं-कहीं कूट पदों का प्रयोग हुआ है। निम्न पद में उपमेय को छुपाकर केवल उपमान उपस्थित किए गए हैं और शरीर के अंगों का क्रम लेकर उन्हें एक दूसरे के ऊपर अवस्थित कहा गया है। यह कृष्ण का सौन्दर्य चित्रण है—

गृह ते चली गोप कुमारि
बरक ठाढ़ो देख अद्भुत एक अनुपम मार।
कमल ऊपर सरस कदली कदलि पर मृगराज ॥
सिंघ ऊपर सर्प दोई सर्प पर ससिराज ॥
मद्ध ससि के मीन खेलत रूप कांत सुजुक्त ॥
सूर लखि भई मुदित सुन्दरि करत आह्ी उक्ति।

प्रतीकार्थ—कमल=चरण, कदली=जंघा, मृगराज (सिंह)=कमर, सर्प=भुजा, ससिराज=मुख, मीन=आँख।

भाव यह है कि श्रीकृष्ण के चरण कमलों के ऊपर कदली सी जंघा है, जंघा के ऊपर शेर की कमर सी पतली कमर है और ऊपर सर्प के समान दो भुजायें हैं और ऊपर चन्द्र सा मुख चमक रहा है, मुख पर मछली की सी सुन्दर चंचल आँखें हैं।

अलङ्कार स्पष्ट करने और नायिका भेद का निरूपण करने के लिए भी कूट का प्रयोग किया गया है। यही सूर की मौलिकता है। देखिए—

ठाढ़ी सलज सुता कर लीन्हे।
दधि सुत बाहन हित सजनी भष बिचारवित दीने ॥
को जाने केहि कारण प्यारी सो लख तुरत उठाने।
चपला औ बारह रस आखर आग देखि झपटाने ॥
तद् गुन देख सबैं मिल सजनी मन ही मन मुसकानी।
सूर स्याम को लगी बुलावन आपु सयानप मानी ॥

इस पद में राधा के अज्ञात यौवन का वर्णन है। अज्ञात-यौवना में यौवन का प्रादुर्भाव देखकर सखियाँ हँसी और कृष्ण को बुलाने लगीं।

इस प्रकार दृष्टकूट के पदों में कवि सूरदास का एक विशेष प्रयोजन परिलक्षित होता है। वह प्रयोजन है साधना के गोपन का। परन्तु हमें यह जानना भी आवश्यक है कि सूर ने साधना को गोप्य क्यों समझा ? यह हम जानते हैं कि राधा-कृष्ण सूर के साध्य थे। उनका ध्येय राधा-कृष्ण की अनेक भाव-भंगिमाओं, लीला और मुद्राओं पर ध्यान जमाना था। सूरदास ने इसे सहज समाधि कहा है। इन कूट पदों में कृष्ण के ऐसे चित्र सुरक्षित हैं जो भक्ति की ध्यान-धारणा और समाधि के लिए आवश्यक हैं। इन चित्रों में से कुछ साधारण समाज को कलुषित लग सकते थे, किन्तु भक्त को इसमें कुछ भी बुराई न दिखाई देती थी। फिर भी समाज में उनका निरादर होना संभव था। इसलिए उन्हें गुप्त रखा गया। वस्तुतः ये दृष्टकूट सूर की भक्ति भावना और काव्य-कला के मणि-कांचन संयोग से सुशोभित हैं।

साहित्य लहरी के दृष्टकूटों में उक्त प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। उनमें कवि की आलंकारिक प्रवृत्तियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। इनमें यमक का प्रयोग विशेषतया हुआ है—

"सारंग सम कर नीक, नीक सम सारंग सरस बखाने।
सारंग बस भय, भय बस सारंग, सारंग बिसमै माने॥"

इसमें सारंग शब्द के हरिण, राग सारंग, कृष्ण, कमल, हृदय आदि अनेक अर्थ हैं। इसी प्रकार की विद्यापति की ये पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

सारंग नयन बयन पुनि सारंग, सारंग, तसु समधाने।
सारंग ऊपर उगथ दस सारंग केलि करथ मधुपाने॥

इसी प्रकार अनेक पदों में श्लेष, परिसंख्या, मुद्रा आदि अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। यथा—

'भूपुत मेघकाल निसि इनके आदि वरन् चित आवै।

भूपुत-कंज, मेघकाल-वर्षा, निसि-जामिनी,
इनके आदि वरन अर्थात् कुब्जा के मन में समाई है।

संख्या शब्दों का प्रयोग चमत्कार प्रदर्शन के लिए किया गया है। साहित्य, लहरी के निर्माण-काल के विषय में कवि कहता है—

"मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नन्द को लखि सुवल सम्वत् पेख॥"

मुनि ७, रसना २ या १, रस ६ गणेशदशन १, के द्वारा और 'अङ्कानां वामतो गति" के अनुसार रस का अर्थ हुआ १६२७ या १६१७। इस प्रकार साहित्य लहरी के पदों में भाव की अपेक्षा कला की ही प्रधानता है। भाषा शैली के विचार से तो साहित्य-लहरी सूरसागर की विभिन्न शैलियों में किसी के समकक्ष नहीं रखी जा सकती। साहित्य-लहरी सूरसागर के उन पदों के अनुकरण में रची जान पड़ती है, जिसमें कवि की उच्च कवित्व शक्ति और काव्य कला का उत्कृष्ट प्रदर्शन हुआ है। साहित्य-लहरी की कूट शैली में रूपकातिशयोक्ति अलङ्कार नहीं प्रत्युत प्रहेलिका अलङ्कार की प्रधानता है। इसी कारण कुछ विद्वान इसे सूर की रचना नहीं मानते किन्तु हम इसी पुस्तक के एक प्रश्न में विचार कर चुके हैं कि साहित्यहरी निश्चित् ही सूर की रचना है, उसकी रचना का विशेष हेतु था। अतः पण्डितों का यह सिद्धान्त कि सूरसागर व साहित्यलहरी के दृष्टकूट दो विभिन्न कवियों के हैं, ठीक नहीं है। इन दोनों के लेखक एक ही हैं और वह हैं सूरदास।

प्रश्न २२—हिन्दी काव्य में पद-साहित्य के विकास को देखते हुए उसमें सूर का स्थान निर्धारित कीजिए।

उत्तर—सूर ने अपनी रचना गेय पदों में की है। गीतिकाव्य की परम्परा प्राचीन काल से चली आती है। सामवेद के रथन्तरादि गीत यज्ञ के अवसर पर गाये जाते थे। धार्मिक कृत्यों के साथ सामाजिक पर्व और उत्सवों में भी गीतिकाव्यों का प्रचार था। जब समाज में संघर्ष प्रबल हुआ तो गीत भी धार्मिक शान्ति और सामाजिक चहल-पहल को छोड़कर उग्र रूप धारण करने लगे। विरक्ति व विनोद के स्थान पर वे विप्लव एवं विरोध भाव के उत्तेजक बन बैठे। माधुर्य एवं प्रसाद के स्थान पर उनमें ओज भी भरने लगा। सूर ने

जिस युग में अपनी रचना की उससे पूर्व उक्त तीनों प्रकार के गीति काव्य प्रचलित थे। सूर की रचना यद्यपि प्रसाद गुण सम्पन्न एवं माधुर्य भाव मंडित है तथापि उसमें ओज की भी मात्रा विद्यमान है।

सूर ने यह गीत शैली अपने पूर्ववर्ती जयदेव, विद्यापति एवं कबीर आदि से धरोहर के रूप में प्राप्त की और उसे अपनाकर उसे और भी अधिक गौरवान्वित किया।

किसी साहित्य में गीत-काव्य की परम्परा वीर-गीतों से आरम्भ होती है। उस समय के कवि अपने आश्रयदाताओं के यशोगान या युद्धोन्मुख वीरों को उत्साह प्रदान करने के लिये वीर गीतों की रचना किया करते थे। देश में वीरता के लोप के साथ ही वीर गीतों की ध्वनि भी मन्द पड़ गयी। इसके अनन्तर सन्त-कवि कबीर आदि ने निर्गुण भक्ति के गीत गाये, जो सूर के समय तक और उनके अनन्तर भी गूंजते रहे। सन्तों के पदों में वाह्य वस्तुओं का वर्णन होता था। उनमें आत्मा को अन्दर ढूँढ़ने का ही प्रयत्न किया गया है। भगवान के साथ दैन्यभाव का विशेष सम्बन्ध इन पदों में पाया जाता है। है। पर सूर के पदों में केवल प्रभु की महिमा ही गाई गई है।

सूरदास ने जिस पद्धति का अनुसरण किया वह जयदेव व विद्यापति से मेल खाती है। जयदेव ने अपने दृष्टिकोण को इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> "यदि हरि स्मरणे सरस मनः,
> यदि विलास कलासु कुतूहलम्।
> सरस-कोमल कान्त पदावलीम्,
> भज तदा जयदेव सरस्वतीम्॥"

जयदेव के इस आदर्श को लेकर ही मैथिल-कोकिल विद्यापति ने कृष्ण-काव्य लिखा जिसमें संगीतमयता भरी पडी है। यथा—

> "नन्दक नन्दन कदम्बक तरुतर
> धिरे धिरे मुरली बजाव।
> समय सँकेत निकेतन बइसल
> बेरि बेरि बोलि पठाव।"

ये हैं जयदेव व विद्यापति के उदाहरण व आदर्श। 'सूर ने उन्हीं का अनुकरण किया', जब हम ऐसा कहते हैं तो उसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने उनका अन्धानुकरण किया। उनकी अपनी विशेषताओं की मुद्रा सूरसागर के प्रत्येक पृष्ठ पर लगी है। जयदेव व विद्यापति से उन्होंने कोमल कान्त पदावली अवश्य ली है पर उसे उन्होंने अपने रंग में रंग लिया है। सूर की रचना में जो व्यंग्य, सजीवता, स्वाभाविकता, चित्रमयता एवं भाव-गाम्भीर्य है, वह विद्यापति और जयदेव में कहाँ ? उनका मातृ-हृदय का चित्रण, कृष्ण के बाल-स्वरूप का वर्णन एवं यौवन के नाना रूपों का चित्रण अन्यत्र ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलेगा।

सूरदास का अधिकांश काव्य कीर्तन के लिये रचा गया है, इसलिये वह मुक्तक गेय पदों में है। ये गेय पद विभिन्न राग-रागनियों में बँधे हैं। गीति काव्य की शैली आत्माभिव्यंजन की अतीव उत्कृष्ट शैली है। जिसे भाव की एक-एक शृङ्खला को सुसज्जित गुलदस्ते के रूप में सजाना है, अपनी अनुभूति का अंग-अंग आकर्षक रूप में प्रकट करना है, उसके लिये गीति काव्य के अतिरिक्त कोई भी शैली उपादेय नहीं। सूर ने इसी शैली में हरिलीला का गान किया है। इस गायन में कौनसी राग व रागिनी है जिसका उपयोग सूरदास ने किया होगा ? ऐसा कहते हैं कि सूर ने न तो ऐसे राग व रागिनियों का उपयोग किया है जिनके लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। इसीलिए संगीत काव्य की दृष्टि से भी सूर काव्य का अनुपम महत्व है। एक विद्वान ने लिखा है कि "संगीत विषयक ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं, तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते हैं। वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर सका है तो वह सूर ही है।" इसी सम्बन्ध में सूर व तुलसी की तुलना करते हुए वे ही विद्वान् लिखते हैं—'जहाँ तुलसी की संस्कृत पदावली संगीत के माधुर्य को किन्हीं अंशों में कम कर देती है, वहाँ सूर की प्रकृति रूप से प्रसवित होने वाली शब्द लहरी स्वाभाविकता, सादगी, अल्हड़पन और प्रसाद को समान रूप से लिये आगे बढ़ती है। तुलसी के अनावश्यक रूप से प्रयुक्त बड़े-बड़े रूपक भी संगीत लहरी में अवरोध उपस्थित करते हैं, पर सूर के रूपक छोटे, आवश्यक, फबते हुए, सरल, आकर्षक और संगीत के

लिए उपयुक्त हैं।" इसलिए तुलसी अपने गीतों में संगीत का वह माधुर्य न ला सके जो उनके लिए आवश्यक है। ऐसा करने में केवल सूर ही समर्थ हो सके हैं। उन्होंने संगीत की स्वर लहरी को भावुकता, प्रबलता और दक्षता के साथ प्रवाहित किया है। कुछ पदों की गीतात्मकता देखिये--

(क) माई, आजु तो बधाई बाजै, मन्दिर महर के।
फूले फिरै गोपी-ग्वाल, ठहर-ठहर के।।
फूली धेनु, फूले धाम, फूली गोपी अंग-अंग।
फिर फूले तरुवर, आनन्द लहर के।।

(गीत में स्थायी की गति शान्ति है, अंतरे की गति तीव्र है। भिन्न चरणों में यति की संख्या व स्थान भेद होने के कारण गीत तल्लीनता को अभिव्यक्त करने में उत्कृष्ट बन पड़ा है)।

(ख) ललिता ललित बजाय रिझावत बीन कर लीनें।
जान प्रभात राग पंचम षट् भाल कोस रस भीनें।।
सूर हिंडोल मेघ मालव पुनि सारंग सुर नट जान।
सुर सावंत भूपाली ईं मन करत कान्हरौ गान।।

सूर सारावली की इन पंक्तियों में संगीतमयता भी है एवं साथ ही राग-रागिनियों के नाम भी। सूर के गीति पद अनिवार्यतः गेय हैं। वस्तुतः उनकी रचना जिस हार्दिक प्रेरणा से हुई है, वह मूलतः संगीतमय है। सौन्दर्य और संगीत का नित्य सम्बन्ध है। अतः प्रेम की वह गम्भीर अनुभूति जिसका आलम्बन कृष्ण का अनिवर्चनीय सौन्दर्य और माधुर्य है, निश्चित ही संगीतमय होगी। कृष्ण की पूजा-आराधना में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पुष्टि मार्ग की सेवा-पद्धति में आठ समय की आरती के विधान के सम्बन्ध में समयानुसार भिन्न-भिन्न रागों का निर्देश किया गया है। प्रारम्भ से ही श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तनकार का पद महत्त्वपूर्ण रहा है। आचार्य वल्लभ ने सम्भवतः पहले यह पद कुम्भनदास को दिया था और बाद में सूरदास के पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाने पर यह उन्हें प्राप्त हुआ। अतः यह

अनुमान किया जाता है कि सूरदास की समस्त रचना कीर्तनों के रूप में ही रची गई थी। उनके समस्त पद किसी न किसी राग के अनुसार गाये जाने के लिए रचे गये थे। सूर के गीति पदों में संगीतात्मकता और वाद्ययन्त्रों की संगति में उनकी सुगेयता अतर्क्य है। भारतीय संगीत परम्परा में भावपूर्ण भजनों की जो शास्त्रानुमोदित लोकप्रिय संगीत शैली विकसित हो गई उसका सबसे अधिक श्रेय सूरदास को ही है। सूर के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें काव्य और संगीत का अनुपम समन्वय हुआ है। सूर के गीति पदों की सम्भवतः सबसे अधिक विलक्षण विशेषता यह है कि उनमें स्वानुभूति-मूलक भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ कृष्ण लीला से अनेक प्रसंगों को क्रमबद्ध कथा रूप में रचा गया है।

भक्ति काल में भी मीरा ने अपने भावों को पदों में ही व्यक्त किया आधुनिक युग में प्रसाद एवं महादेवी वर्मा ने भी पदों में पर्याप्त काव्य की रचना की है। प्रसाद जी का एक पद देखिए—

"तुम कनक किरन के अन्तराल में
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के धन, रसकन भरते ॥
हे लाज भरे सौन्दर्य !
बतादो मौन बने रहते हो क्यों ?"

"तुम्हें बाँध पाती सपनों में" महादेवी वर्मा की ये पंक्तियाँ तो संगीत का अन्यतम उदाहरण हैं।"

इस प्रकार आरम्भ से लेकर आज तक पद-साहित्य का विकास होता चला जा रहा है।

अब प्रश्न यह है कि इनमें सूर का क्या स्थान है ? अगर सारे पद साहित्य का अध्ययन करें तो पता चलता है कि सूरदास का स्थान उसमें मूर्द्धन्य है। आचार्य वल्लभ से दीक्षित होने के बाद मानो साक्षात् वीणापाणि सरस्वती ही उनकी जिह्वा में आ विराजी थीं। उस समय गीतों की जो अजस्र धारा प्रवाहित हुई, उससे सूर का सागर लबालब भर गया। एक या दो

अथवा सौ नहीं किन्तु, सहस्रावधि पदों का निर्माण हिन्दी साहित्य में तो क्या आज तक विश्व-साहित्य में कोई नहीं कर सका है। सूर के इसी संगीत ने ब्रजभूमि को वन्दनीय एवं ब्रजभाषा को वरेण्य बना दिया है। भाषा व संगीत के कारण सूरदास ने जिस गीति-परम्परा को वृद्धिगत करने में सहयोग दिया है, वह अत्यन्त उच्च कोटि का है। वस्तुतः सूर पद-साहित्य में अपना सानी नहीं रखते।

प्रश्न २३—सूर की भाषा पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—किसी भी महाकवि के काव्य की एक विशिष्ट शैली होती है। शैली का सौन्दर्य और महत्त्व कुछ काव्य की भाषा की समृद्धि पर भी आधारित है। सूरदास के काव्य के मूल्यांकन में उनकी भाषा का भी एक विशिष्ट महत्त्व है।

सूरदास के काव्य की भाषा ब्रजभाषा है, जो हिन्दी का एक विशिष्ट रूप है। यद्यपि सूरदास के पूर्ववर्ती कतिपय कवियों के काव्य में भी ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है, तथापि व्यवस्थित और साहित्यिक भाषा के प्रयोग के कारण सूरदास को ही ब्रजभाषा का आदि कवि माना गया है। वे ब्रजभाषा के वाल्मीकि कहे जाते हैं। सौरसेनी अपभ्रंश के विकसित रूप में ही ब्रजभाषा का प्रचलन विक्रम की बारहवीं शताब्दी से सूरसेन प्रदेश एवं उसके पार्श्ववर्ती भू-भागों में था। इस बोली में माधुर्य स्वाभाविक रूप से विद्यमान था। अतः तत्कालीन साधु-सन्तों एवं संगीतज्ञों ने इसे अपनाया। ब्रजभाषा के माधुर्य के कारण इसे अन्य—ब्रज से इतर—लोगों ने भी ग्रहण किया। सूर से पूर्व खुसरो, कबीर, नामदेव आदि की भाषा में ब्रजभाषा का रूप दिखाई देता है, किन्तु उन्होंने उसका साहित्यिक रूप न तो अपनाया ही और न उस ओर उनका ध्यान ही गया। ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप देने का श्रेय —जैसा कि हम आरम्भ में ही कह चुके हैं—सूरदास को ही प्राप्त है। सूर के बाद "वार्ता" की ब्रजभाषा भी व्यवस्थित नहीं। यह सूर का ही कार्य है कि उन्होंने इस भाषा को अपनी प्रतिभा-पारस मणि से छूकर कंचन (साहित्यिक) बना दिया।

कोमल-कान्त पदावली के साथ ही सूर की ब्रजभाषा सानुप्रास, स्वाभाविक प्रवाहमयी, सजीव व भावों के अनुरूप है। (दृष्टकूटों की क्लिष्ट भाषा को सूर की भाषा का मापदण्ड नहीं कहा जा सकता) उनकी भाषा तो आडम्बर-विहीन, व्यावहारिक और अन्तस्तल का चित्रण करने वाली है। एक उदाहरण देखिए--

चलौ किन मानिनि कुंज कुटीर।
तुव बिन कुंवर कोटि बनिता तजि सहत बदन की पीर ॥
गद्‌गद् सुर पुलकित विरहानल नैन बिलोकत नीर।
क्वासि क्वासि वृषभानु कुमारी बिलपत विपिन अधीर ॥
मलयज गरल सुतासन भासत शाखा मृग रिपु वीर।
हिय में हरिष प्रेमअति आतुर-चातुर चलहु पिय तीर ॥

× × ×

खेलन अब मेरी जात बलैया
जबहिं मोहि देखत लरिकन संग तबहिं खिजत बलि भैया।

सूरदास की भाषा में ब्रज के ठेठ शब्दों के साथ ही संस्कृत के तत्सम् और तद्‌भव शब्द भी प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। सूर ने तत्सम् शब्दों का प्रयोग करके इस भाषा को ब्रज की ही नहीं वरन् समस्त भारत की भाषा बना दिया। प्राय: चार सौ वर्षों तक वह कविजनों का कण्ठ-हार बनी रही। सूर के समस्त साहित्य का विलोकन करने से ज्ञात होता है कि उनके पास शब्दों का विशाल भण्डार था जिसके कारण वे किसी भी भाव को किसी भी प्रकार से व्यक्त करने में समर्थ थे। उनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का तो प्रयोग हुआ ही है, इसके अतिरिक्त उसमें खड़ी बोली, पूर्वी, पंजाबी, बुन्देली, गुजराती और अरबी-फारसी के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। अरबी-फारसी के शब्दों का उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग किया है, क्योंकि मुसलमानों के कारण उनका प्रचलन यहाँ हो गया था, अत: सूर ने उनका बहिष्कार नहीं किया। इन शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा मिश्रित हो गई पर साथ ही वह बलवती एवं प्रभावशालिनी भी बन गई।

संस्कृत के तत्सम् शब्दों का प्रयोग सूर ने प्रचुरता से किया है। देखिए--

सुख पर्यङ्क अङ्क ध्रुव देखियत कुसुम कन्द द्रुम छाये।
मधुर मल्लिका कुसुमित कुंजन दम्पति लगत सुहाये॥

उक्त पंक्तियों में पर्यङ्क, ध्रुव आदि शब्द संस्कृत के हैं। ब्रजभाषा के ठेठ शब्दों का प्रयोग अगर न हों, तो वह ब्रजभाषा ही क्या? निम्न कुछ शब्द केवल ब्रज में ही प्रयुक्त होते हैं--

दुर=पुरुषों के कान का भूषण, छाक=कलेऊ, मौंड़ा=लड़का, भौंरा चक डोरी=बच्चों के खिलौने, झारी=लोटा, कनियाँ=गोद, अबेर=देर।

अन्य भाषाओं के शब्द भी देखिये--

फारसी—खसम, जवाब, बकसो, जहाज, मुहकम, खर्च।

अबधी—खोइस, सोइस, होइस, इहवाँ, मोर, तीर, जिनि।

पंजाबी—प्यारी।

गुजराती—वियो।

बुन्देलखण्डी—गहिबी, सहिबी।

प्राकृत—सायर।

कहीं-कहीं शब्दों को छन्द की गति के अनुसार नियमित करने के लिये तोडा-मरोड़ा भी गया है। जैसे नवनीत को नवनी, केतु को केत।

सूर की भाषा में प्रवाह है। कवि को भावों के लिये शब्द सोचने नहीं पड़ते, वे भावानुकूल स्वतः ही प्रवाहित हो जाते हैं। देखिये—

ब्रज के लोग उठे अकुलाई।
ज्वाला देखि अकास बराबरि दसहुँ दिसा कहुँ पार न पाई॥
अरहरात बनपात गिरत तरु धरणी तरकि तड़ाक सुनाई।
जल बरसत गिरिवर तर बाँचे अब कैसे गिरि होतु सहाई॥

सजीवता भाषा का आवश्यक गुण है और भाषा में वह सजीवता लोकोक्ति एवं मुहावरों के प्रयोग से आती है। सूरसागर में लोकोक्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। कुछ उदाहरण देखिये—

(क) कहन लगी अब बढ़ि बढ़ि बात ।

(ख) छठि आठें मोहि कान्ह कुँवर सों ।

(ग) दाई आगे पेट दुरावति । पाँच की सात लगायी झूँठी ।

(घ) बिना भीति तुम चित्र लिखत हो ।

निम्न शब्द भी दर्शनीय हैं, जिनमें सजीवता के साथ ही चित्रमयता भी है—

लटकत मुकुट, मटक भौंहनि को, चटकत चलत, मन्द मुसुकात ।

उक्त उद्धरणों एवं सूर-काव्य के अध्ययन करने से सूर-काव्य की भाषा की विशेषतायें इस प्रकार लक्षित होती हैं—

(१) सूरदास की कविता के अधिकांश विषय शृङ्गार एवं वात्सल्य के हैं, अतः उनके काव्य में ओज की अपेक्षा प्रसाद एवं माधुर्य गुण अधिक परिमाण में है । इन गुणों के कारण कोमलकान्त पदावली का बाहुल्य उनकी पहली विशेषता है ।

(२) उनकी भाषा की दूसरी विशेषता है भावों के अनुकूल शब्दों का प्रयोग, जिसके कारण वस्तुचित्र भी पाठकों के सामने आ जाता है ।

(३) उनकी भाषा की तीसरी विशेषता है सार्थक शब्द योजना ।

(४) भाषा का धारावाही प्रवाह उसकी चौथी विशेषता है, जो संगीत के ताल के कारण और भी आनन्ददायिनी हो गई है ।

(५) उनकी भाषा की पाँचवीं विशेषता यह है कि वह बलवती एवं सजीव है । भावों के अनुरूप विशिष्ट शब्दावली, मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा भाषा को बल एवं सजीवता प्राप्त हुई है ।

इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सूर हमारे सामने तीन रूपों में आए हैं । भक्त, कवि एवं कथागायक के रूपों में । उनकी भाषा इन तीनों रूपों में बदली हुई आई है । कथागायक के रूप में उनकी भाषा में वह सौन्दर्य व सौष्ठव नहीं जो भक्त एवं कवि के रूप में है । देखिए—

भारत युद्ध जीतत जब भयो ।
दुर्योधन अकेले तहँ रह्यो ।

अश्वत्थामा तापै जाई ।
ऐसी भाँति कह्यो समुझाई ।

इस अवतरण में भाषा की दृष्टि से कोई भी काव्यगत विशेषता नहीं । अतः भाषा का यह रूप गौण है । उनकी भाषा का दूसरा रूप वह है जिसमें उनका भक्त हृदय बोलता है, उसी में उनका कवित्व भी प्रस्फुटित हुआ है । सूरदास की इस भाषा का रूप उनके विनय के पदों में देखा जा सकता है, किन्तु इससे भी चमत्कारी रूप देखना हो तो वह उनके बाल-कृष्ण के चरित्र वर्णन में मिलता है। उसमें भी जहाँ प्रेम-प्रसंग आता है वहाँ तो चमत्कार की पराकाष्ठा हो गई है । इस प्रकार की भाषा में काव्य के अंगों का प्रयोग इतनी अधिकता से हुआ है कि उसे देख सूर की प्रतिभा पर मुग्ध हो जाना पड़ता है । यह सूर की ही भाषा का गुण है कि एक ही लीला पर अनेक पद होते हुए भी उनसे पाठक को अरुचि नहीं होती ।

प्रश्न २४—"दैन्य भाव सूरदास के मानस का एक स्थायी भाव है, जो उनकी श्रद्धा, विनय-शीलता, भक्ति-भावना की तीव्रता तथा सहज द्रवणशीलता का परिचायक है।" इस कथन की यथार्थता पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर—भगवान् को महान् और अपने को लघु मानकर भक्त जिस भाव की अभिव्यक्ति करता है, उसकी गणना दैन्य भाव में की जाती है । सूरदास ने अपने विनय के पदों में भगवान् का माहात्म्य केवल उनकी दयालुता, पतितपावनता, सर्व समर्थता और भक्त वत्सलता के रूप में चित्रित किया है तथा भक्त की लघुता उसकी अवलम्बन-हीनता, पतितावस्था, असमर्थता और हीनता के रूप में उपस्थित की है । भक्त इनके द्वारा भगवान् के निकट पहुँचना चाहता है और भगवान् से अपनी रक्षा की याचना करता है । इस रूप में भगवान् भक्त की योग्यता नहीं देखते । उसकी रक्षा करते हैं । इस प्रकार के कितने ही पद सूरदास ने लिखे हैं । भक्त भगवान से कहता है—

जो हम भले बुरे तो तेरे ।
तुम्हें हमारी लाज बड़ाई विनति सुनहु प्रभु मेरे ।।

सब तजि तुम सरनागत आयो, दृढ़ करि चरन गहेरे।
तुव प्रताप बल बदत न काहू निडर भये घर चेरे॥
और देव सब रङ्क भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरी कृपा तें पाये सुख जु घनेरे॥

भगवान् से सुरक्षा पा भक्त निर्भय हो गया है। श्याम का 'दास' कहलाने में ही उसे गौरव का अनुभव होता है और उसे क्रीतदास बनकर अपने स्वामी की जूठन खाने में सुख मिलता है—

हमें नन्द नन्दन मोल लियो।

× × ×

सब कोउ कहत गुलाम स्याम को सुनत सिरात हिये।
सूरदास कौं और बड़ो सुख, जूठन खाय जिये॥

भक्त भगवान् की कृपालुता की प्रशंसा करता थकता नहीं। भगवान् भक्त की रक्षा ऐसे करते हैं, जिस प्रकार गौ अपने बछड़े के पीछे-पीछे उसकी चिन्ता में फिरती रहती है—"लग्यौ फिरत सुरभी ज्यों सुतसंग, ओयट गुनि गृह बन कौं।" भगवान् भक्त की योग्यता भी नहीं देखते। भक्त की सबसे बड़ी योग्यता उसकी अयोग्यता ही है। वे भक्त के कुल, मान, जाति-कुजाति एवं मर्यादा का विचार नहीं करते। वे तो केवल प्रीति का आदर करते हैं। वे दुःखी एवं आर्त के सहज सहायक हैं—

स्याम गरीबन हूँ के गाहक।
दीनानाथ हमारे ठाकुर साँचे प्रीत निबाहक॥
कहा विदुर की जाति-पाँति कुल प्रेम प्रीति के लाहक।
कहँ पण्डव के घर ठकुराई अरजुन के रथवाहक॥
कहा सुदामा के धन हो तौ सत्य प्रीति के चाहक।
सूरदास सठ तातें हरि भजि आरत के दुख-दाहक॥

सूरदास ने भगवान् की भक्ति में उनके ऐश्वर्य रूप का चित्रण नहीं किया। उन्हें तो उनका सरल रूप ही रुचिकर लगता है, जिसे वे निर्विरोध

रूप से अपना सकें। इतना ही नहीं वे भगवान् से हठ भी ठान सकें। वे कहते हैं—

आजु हौं एक-एक करि टरि हौं।
कै तुम ही, कै हम ही माधौ, अपने भरोसे लरिहौं॥
× × ×
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
"सूर' पतित तबहीं उठिहै प्रभु, जब हँसि दैहौ बीरा॥

सूरदास ने इस दशा में अपनी पतितावस्था बताकर भगवान् से कहा—हे भगवान् ! यदि तुम मेरे जैसे को तारो तो जानै। अजामिल, गज, गनिका आदि का तारना कठिन नहीं था। मैं तो उन सबमें शिरोमणि हूँ। "प्रभु हौं सब पतितन को टीकौ। और पतित सब दिवस चारि के हौं जनमांतर ही कौ। को करि सकै बराबरि मोरी खैंचि कहत हों लीकौ।" स्वतः के प्रति भक्त के ये निरादर भरे भाव भगवान् की महत्ता और पतित पावनता के सूचक हैं। यह ठीक है कि भगवान् की आत्मीयता उन्हें कृष्ण के प्रति यशोदा, नन्द, गोपि-गोपियों आदि ब्रजवासियों के भावों में मिलती है और इसी कारण उन्होंने वात्सल्य, सख्य और माधुर्य का अधिक चित्रण किया है, किन्तु दैन्य भाव भी उनका गौण भाव नहीं। सत्य तो यह है कि दैन्य के बिना भक्ति-भाव संभव ही नहीं। भाव-मात्र की भक्ति किसी न किसी प्रकार दैन्य-युक्त होती है। सूर की मार्मिक दैन्य-भावना अनेक पदों में प्रकट हुई है—

अबके राखि लेहु भगवान्।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम डरिया, पारधि साधै बान।
ताके डर मैं भाज्यो चाहत, ऊपर ढुक्यो सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबारै प्रान॥

उक्त दैन्य भाव की अभिव्यक्ति अन्य—वात्सल्य, माधुर्य आदि— भावों के साथ भी हुई है, उसका दिग्दर्शन भी हम करेंगे।

सूर के वात्सल्य में भी दैन्य है। उनका हृदय इतना कोमल और द्रवणशील है कि तनिक से वियोग में कातर हो उठता है। यही नहीं, वियोग की

आशंका उन्हें कातर और दयनीय बना देती है। चाहे यशोदा हो या नन्द, गोप सखा हों या साधारण ब्रजवासी, गोपियाँ हों या राधा—यह करुण धारा सबके हृदय में प्रवाहित होती है। कृष्ण जब तक गोकुल में रहते हैं, तब तक तो यशोदा प्रसन्न-वदन रहती हैं, किन्तु ज्योंही अक्रूर कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए आते हैं और यशोदा देखती हैं कि कृष्ण समस्त मोह तोड़ मथुरा को चल पड़े हैं तो यशोदा अत्यन्त दीन हो पुकार उठती हैं—

मोहन नेकु बदन-तन हेरो।
राखो मोहि नात जननी को, मदन गुपाल लाल मुख फेरो॥
पीछे चढ़ौ विमान मनोहर, बहुरौ ब्रज में होत अँधेरो।
बिछुरन भेंट देहु ठाड़े ह्वै, निरखौ घोष जनम को खेरो॥
समदौ सखा स्याम यह कहि कहि अपने खाइ ग्वाल सब घेरो।
गये न प्रान सूर तिहि औसर, नन्द जतन करि रहे घनेरो॥

कृष्ण को मथुरा में छोड़ जब बाबा नन्द लौटने लगते हैं तो उनका हृदय ग्लानि से भर जाता है। यहाँ उन्हें अपनी हीनता और कृष्ण की प्रभुता में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। वे करुण स्वर में कहते हैं—

तुम मेरी प्रभुता बहुत करी।
परम गँवार ग्वाल पसु पालक, नीच दशा लै उच्च धरी॥

इसी प्रकार दीनता में नन्द जब अकेले ही गोकुल लौटे तो यशोदा ने पूछा—मेरा कृष्ण कहाँ है? उसके बिना तुम अकेले कैसे चले आये। "फूट न गईं तिहारी चारों कैसे मारग सूझै।" तुमने दशरथ की ही भाँति वहीं प्राण क्यों न त्याग दिये? क्या तुम कृष्ण को छोड़ दूध-दही चखने आये हो? इस प्रकार यशोदा नन्द को धिक्कारने लगी। नन्द भी यह सुनकर व्याकुल हो गये और मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। सचेत होने पर कभी नन्द यशोदा से कहते हैं—"तब तू मारबोई करति। रिसिनि आगे फिर जो आवत अब लै भांड़े भरत", तो कभी यशोदा नन्द से कहती—

"सूर नन्द फिरि जावहु मधुपुरी ल्यावहु सुत करि कोटि जतन।"

उक्त बातों में नन्द या यशोदा की दारुण दीनता प्रकट होती है।

इसके अन्तर यशोदा कृष्ण से मिलने का उपाय सोचती है। कभी पथिकों द्वारा कृष्ण के लिए सन्देश भेजती है—"कहियो पथिक जाइ घर आवहु राम कृष्ण दोउ भैया, सूर स्याम कत होत दुखारी जिनके मोसी मैया"। इतना ही नहीं, वह वसुदेव की दासी तक बनना चाहती है। विरह-जन्य वात्सल्य के कारण यशोदा का हृदय यह सोचकर पश्चात्ताप करता है कि कृष्ण को बालहठ करने के कारण मैंने जो कष्ट दिये थे, स्यात् उन्हीं के कारण वे लौटकर नहीं आते। कभी वह पथिकों के पैर पकड़ कर भी विनती करती है। कृष्ण के बिना उन्हें सब निरर्थक जान पड़ता है—"सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहै।" कभी-कभी तो यशोदा का आत्म-विश्वास भंग होने लगता है, फिर भी वह जानती है कि—

खान पान परिधान राज सुख जो कोउ कोटि लड़ावै।
तदपि सूर मेरो बाल कन्हैया माखन ही सचु पावै॥

उसे अब भी यह विश्वास है कि कृष्ण प्रेम के भूखे हैं, धन-वैभव के नहीं। उसका यह विश्वास भक्त के इस विश्वास से भिन्न नहीं कि उसके भगवान् को भक्त ही सर्वाधिक प्रिय होता है। जब उद्धव ब्रज में आते हैं तो यशोदा उनसे भी अपने हृदय की दीनता प्रकट करती है—

ऊधो हम ऐसी नहिं जानी।
सुत के हेतु मरम नहिं पायो प्रकटे सारंग पानी॥

जब उद्धव मथुरा जाने लगते हैं तो यशोदा मूर्छित होकर गिर पड़ती है, किन्तु प्रेम के कारण उसके प्राण नहीं छूटते। वात्सल्य का यह दैन्य ही उसे सामान्य मानवीय धरातल की सचाई के साथ ऊपर उठाकर अलौकिक बना देता है। कबीर के शब्दों में—

विरहबान जेहि लागिया, औषध लगत न ताहि।
सुसुकि भरि भरि जिये, उठे कराहि कराहि॥

भक्त भी भगवान् के वियोग में मूर्छित होता है, किन्तु प्रेम की फाँसी ऐसी होती है कि तड़फते हुए भी प्राण नहीं निकलते।

गोप-मित्रों का प्रेम भी वियोग दशा में अत्यन्त करुण हो जाता है और वे ही सखा, जो कृष्ण के साथ अत्यन्त ढिठाई का व्यवहार करते थे, अत्यन्त

दीन बन जाते हैं। कृष्ण-वियोग की स्वल्पमात्र आशंका भी उन्हें कातर बना देती है। जब कृष्ण के दैवी रूप के संकेत उन्हें भावी वियोग का आभास देने लगते हैं, तब वे सखा भाव भूलकर कृष्ण से प्रार्थना करने लगते हैं—

ग्वाल सखा कर जोरि कहत हैं, हमहि स्याम तुम जनि बिसरावहु ॥
जहाँ जहाँ तुम देह धरत हौ, तहाँ तहाँ जनि चरण छुड़ावहु ॥

माता यशोदा की वात्सल्य पोषित दीनता और गोपों की सख्य पोषित दीनता का वर्णन ऊपर हुआ है। गोपियों और राधा की दीनता माधुर्य या प्रेम के अन्तर्गत है। कभी समय था जब गोपियाँ कृष्ण के साथ क्रीड़ा करती हुई उत्फुल्ल रहती थीं परन्तु कृष्ण के मथुरा जाते ही उनकी यह प्रसन्नता दीनता में परिवर्तित हो गई। गोपियों की करुण दशा के चित्रण में कवि ने भक्त हृदय का दैन्य सबसे अधिक मार्मिकता के साथ प्रदर्शित किया है। अक्रूर जब कृष्ण को रथ पर चढ़ाकर मथुरा ले गये, उस समय तो सभी देखती रह गई। बाद में वे पश्चात्ताप करने लगीं—

हरि बिछुरत फाट्यौ न हियौ।
भयो कठोर बज्र तें भारी, रहि के पापी कहा कियौ।
घोरि हलाहल सुन री सजनी, तिहि अवसर काहे न पियौ ॥

कृष्ण के बिना उन्हें जीवन व्यर्थ लगने लगा। वे अनाथ हो गई। किन्तु उन्हें आशा है कि स्यात् कृष्ण उनकी विनती सुन लें। उनके हृदय के कातर हृदय की गम्भीर करुणाा है—

नाथ अनाथन की सुधि लीजै।
गोपी, ग्वाल, गाइ, गो-सुत सब दीन मलीन दिनहि दिन छीजै।
चरन कमल दरसन नव नौका करुना सिन्धु जगत जस लीजै।
'सूरदास' प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै ॥

गोपियों का हृदयगत विषाद अधिकतर उद्धव के साथ परिहासपूर्ण व्यंग्यों में ध्वनित हुआ है। गोपियों की दशा बहुत ही करुणापूर्ण है। वे उद्धव को क्या सुनायें? गौओं की दशा से ही उनकी दशा का भी अनुमान किया जा सकता है—

ऊधौ, इतनी कहियो जाइ।
अति कृस गात भईं ये तुम बिन परम दुखारी गाइ॥
जल समूह बरसति दोउ अँखियाँ, हूँकति लीन्हे नाउँ।
जहाँ-जहाँ गोदोहन कीन्हों सूँघति सोई ठाउँ॥
परति पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु 'सूर' काढ़ि डारी हैं, बारि मध्य ते मीन॥

जब गौओं की यह दशा है तो गोपियों की—जो मानवी हैं—क्या दशा होगी? गोपियों में भी सबसे दीन-मलीन अवस्था राधा की है—

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रम जल भीज्यो उर अंचल, तिहि लालच न धुवावत सारी॥
अध मुख रहत अनत नहिं चितवति ज्यों गति हरि थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि दूजे अलिजारी।
'सूरदास' कैसे करि जीवै, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी॥

राधा ही नहीं अन्यान्य गोपियाँ भी अत्यन्त कातर हैं। उनके होठ सूख गये हैं, मुँह से बात नहीं निकलती, उलटी सासें चलती हैं, चेहरे मुरझा गये हैं—

परम वियोगिनी सब ठाढ़ीं।
ज्यों जलहीन दीन कुमुदनि, बन रवि प्रकाश की डाढ़ी॥
जिहिं विधि मीन सलिल ते बिछुरै तिहि अतिगति अकुलानी।
सूखे अधर न कहि आवै कछु, बचन रहित मुख बानी॥
उन्नत स्वास बिरह बिरहातुर कमल बदन कुम्हिलानी।

गोपियों की करुण दशा के वर्णन में भी वही मनोवृत्ति दिखाई देती है जो कवि ने विनय के पदों में हरि से करुणा याचना प्रकट करने में की थी। तब उन्हें विश्वास नहीं था कि हरि मुझे अपना लेंगे, अब हो गया है। इसी कारण उनके दैन्य में निराशा नहीं। वस्तुत: यह दैन्य उनके प्रेम की ज्योति है, जिसको आरम्भ में उन्होंने आदर्श रूप में ग्रहण किया था। प्रेम की प्राप्ति

हो जाने पर वियोग का दुःख भी सुख ही देता है। यह देखने योग्य है कि दैन्यभाव सूर के मन का स्थायी भाव है जो उनकी श्रद्धा, विनयशीलता, भक्ति-भावना की तीव्रता तथा सहज द्रवणशीलता का परिचायक है। भक्त के लिए यह भाव परम आवश्यक है। दैन्य के बिना भक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती।

प्रश्न २५—"कृष्णलीला का सम्पूर्ण वातावरण सौन्दर्य और माधुर्य से ओत-प्रोत है।" आप इस उक्ति से कहाँ तक सहमत हैं? तर्कपूर्ण उत्तर दीजिए।

उत्तर—काव्य और कला के समीक्षकों ने काव्य के मूल में किसी न किसी रूप में सौन्दर्य का अस्तित्व स्वीकार किया है। मनुष्य का यह निसर्ग भाव है कि वह सुन्दर के प्रति आकृष्ट होता है, किन्तु किसको कौन-सी वस्तु अधिक सुन्दर लगती है, यह मानव की रुचि पर निर्भर है। उसका कोई मानदण्ड निर्धारित नहीं किया जा सकता किन्तु रुचि-वैचित्र्य होने पर एक बात तो निश्चित है कि उस अनुभूति का परिणाम है आनन्द। इसका स्वाभाविक सा अर्थ यह हुआ कि सुन्दर वस्तु हमें आनन्द देती है और जो आनन्द देती है वही सुन्दर है। इसके साथ ही यह जान लेना आवश्यक है कि सौन्दर्य की अनुभूति भावात्मक अथवा मानसिक होती है। सौन्दर्य आनन्द का ही प्रतिरूप है। सौन्दर्य की यह अनुभूति और कल्पना शक्ति जब अत्यधिक तीव्र हो जाती है, तभी संगीत, चित्र, काव्यादि कलाओं की उत्पत्ति होती है।

सूरदास की रचना में आनन्द का उद्रेक है। यद्यपि उनका उद्देश्य काव्य रचना नहीं, भक्ति की अभिव्यक्ति करना था, तो भी यह एक विलक्षण संयोग की बात है कि उनकी रचना में सौन्दर्य और भक्ति दोनों का अपूर्व समन्वय हुआ। उन्होंने श्रीकृष्ण को रसेश्वर और रूप की राशि मानकर ग्रहण किया है। श्रीकृष्ण का वस्तुतः कोई रूप न होते हुए भी वे भक्त के भावानुसार साकार सौन्दर्य के प्रतीक हैं। उनका रूप सुन्दर है, किन्तु वह गतिशील है। सूर ने उनकी प्रत्येक चेष्टा व क्रिया को ललित और मनोहर चित्रित किया है। सूरदास ने कृष्ण का सौन्दर्य केवल सौन्दर्य (आनन्द) के लिए चित्रित किया

है। रसेश्वर कृष्ण के लीला-सौन्दर्य से प्रेरित होकर उन्होंने अपने पदों की रचना की है। इसलिए निसर्गतः उनकी पद रचना में सौन्दर्य का समावेश हो गया है।

सूर के सौन्दर्य-चित्रण को हम मानव-रूप-सौन्दर्य-चित्रण, प्राकृतिक सौन्दर्य-चित्रण और लीला-सौन्दर्य-चित्रण—इन तीनों रूपों में विभक्त कर सकते हैं।

मानव रूप-सौन्दर्य-चित्रण—इसमें सूरदास ने श्रीकृष्ण के शैशव से लेकर किशोर अवस्था तक के अनेक रूप चित्रित किए हैं, जिनमें कवि की भावना, कल्पना, और शैली का चमत्कार एक साथ व्यक्त हुए हैं। श्याम घुटुनुओं चलते हुए नन्द के आँगन में खेलते हैं। तोतली बोली बोलते हैं। धूल-धूसरित उनका शरीर सबको प्रसन्न करता है। यह चित्रण ही वात्सल्य भाव को उद्दीप्त करने को पर्याप्त था, किन्तु सूर ने अनेक सौन्दर्य के उपकरणों से सजाकर इसे और अधिक प्रभावशाली बना दिया है। देखिए—

> कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई ॥
> खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छबि पाई ॥
> कुलही लसति सिर स्याम सुन्दर के बहुविधि सुरंग बनाई ।
> मानो नव घन ऊपर राजत मघवा धनुष चढ़ाई ॥
> अति सुदेश मृदु-हरत चिकुर मन मोहन मुख बगराई ।
> मानो प्रकट कंज पर मंडल अलि अवली घिरि आई ॥
> नील, सेन अरु पीत, लाल मनि लटकन भाल लुनाई ।
> सनि गुरु-असुर देव-गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई ॥
> दूध दन्त-दुति कहि न जाति कछु अद्‌भुत उपमा पाई ।
> किलकत-हँसति दुरति, प्रकटति मनु धन में बिज्जु छटाई ॥
> खण्डित वचन देत पूरन सुख अलप-अलप जलपाई ।
> घुटुरिन चलत रेनु-तन मण्डित, 'सूरदास' बलि जाई ॥

इस प्रकार अनेक पदों में सूर ने कृष्ण के बाल-सौन्दर्य का चित्रण किया है। शिशु के हँसने, लड़खड़ाकर चलने, तुतलाकर बोलने, चन्द्रमा के लिए

हठ करने, माखन चुराने, अपराध पर माता से पिटने आदि के कितने ही मनोहर और आकर्षक चित्र सूर ने खींचे हैं। माखन चोरी के अपराध में माँ ने श्रीकृष्ण को ऊखल से बाँध दिया है—उस समय का उनके बिलखने का चित्र देखिये—

देखि री देखि हरि बिलखात।
अजिर लोटत राखि जसुमति धूलि धूसर गात॥
मूँद मुख छिन सुसुकि रोवत, छिनक मौन रहात।
कमल मधि अलि उड़त सकुचत पच्छ दल आघात॥
चपल दृग पल भर अँसुवा अचुक ढरि-ढरि जात।
अलप जल सीप द्वै लखि मीन मनु अकुलात॥
लकुट के डर ताकि तोंहि तब पीत पट लहरात।
'सूर' प्रभु पर वारिये ज्यों भलेहि माखन खात।

कृष्ण की छवि का अधिक प्रभाव तो कान्ता-रति से प्रेरित ब्रज-गोपियों पर पड़ता है। एक वधू अपने अनुभव सुना रही है—

आज गई हौं नन्द भौन में कहा कहौं गृह चैन री।
चहुँ ओर चतुरंग लच्छमी कोटिक दुहियत धेनु री।
घूमि रहीं जित-तित दधि-मथनी सुनत मेघधुनि लाजैं री।
बरनौं कहा सदन की शोभा बैकुण्ठहु तें राजै री।
बोलि लई नव बधू जानि तहँ खेलत कुँवर कन्हाई री।
मुख देखत मोहिनी सी लागै रूप न बरन्यौ जाई री॥

सूरदास ने कृष्ण के सौन्दर्य का अनेक प्रकार से वर्णन किया, किन्तु वह तो रूप-सागर हैं; भला उनकी थाह कौन पा सकता है? अतः सूरदास ने कहा—

जौ मेरी अँखियाँ रसना होतीं कहती रूप बनाई री।
चिरजीवहु जसुदा के ढोटा सूरदास बलि जाई री॥

सूरदास ने कृष्ण के श्याम रंग का अत्यन्त मार्मिक चित्रण किया है। पुरुष के श्याम रंग में गौरवर्ण की अपेक्षा अधिक आकर्षण होता है। श्रीकृष्ण

के इसी श्याम वर्ण का और अंग-प्रत्यङ्ग का अत्यन्त सुन्दर वर्णन सूरदास ने किया है। उनके नख अत्यन्त चमकीले हैं, उनके चरणों का रंग कुछ अरुणाभ है, उनके जानु-जंघारी सुन्दर हैं। कमर उनकी कृश है, नाभि भी अत्यन्त आकर्षण युक्त है। उनकी घुँघराली अलकें, धनुषाकार भृकुटि, चन्द्र-मुख, मोर मुकुट, पीताम्बर, किंकणी, तिलक आदि का जितना मनोहर और ललित चित्र सूरदास ने खींचा है, उतना कोई अन्य कवि न खींच सका। कृष्ण से सम्बद्ध लकुटी, कामरिया, मुरली आदि का भी सूर ने चित्रण किया है। इतना करने पर भी सूर कहते हैं कि कृष्ण के रूप-सौन्दर्य-सागर का अवगाहन-चित्रण कठिन है।

> देखौ माई सुन्दरता को सागर।
> बुधि, विवेक, बल पारन पावत मगन होत मन नागर।
> तनु अति स्याम अगाध अम्बुनिधि कटि पट पीत तरङ्ग।
> चितवत चलत अधिक रुचि उपजत, भँवर परत अँग-अँग।।
> मीन नैन मकराकृत कुण्डल, भुज सरि सुभग भुजंग।
> कनक खचित मनिमय आभूषन भुज भ्रमकन सुख देत।
> जनु जलनिधिमथि प्रकट कियौ ससि श्री अरु सुधा समेत।।
> देखि सरूप सकल गोपी जन, रहहिं विचारि विचारि।
> तदपि सूर तरि सकीं न शोभा, रहीं प्रेम पचि हारि।।

सूरदास अपनी कल्पना के सम्मुख शोभा का जो सागर लहराते हुए देखते हैं वे उसे एक साँगरूपक द्वारा कहना चाहते हैं, किन्तु फिर भी सौन्दर्य का वह सागर उनकी कल्पना में नही समाता। श्रीकृष्ण की शोभा भी एक सी नहीं रहती। प्रतिक्षण उनका सौन्दर्य नवीन आकर्षण उपस्थित करता है—

> सखी री सुन्दरता को रङ्ग।
> छिन-छिन माँहि परत छबि औरे, कमल नैन के अंग।।

× × ×

> स्याम सुभग के ऊपर वारौं आली कोटि अनङ्ग।।
> सूरदास कछु कहत न आवै, भई गिरा-गति पंग।।

क्यों न हो ? "क्षणे-क्षणे यन्नावतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः" क्षण-क्षण में जिसमें नवीनता आवे वही तो वास्तव में सुन्दरता है ।

वस्तुतः सौन्दर्य मन और वाणी से परे की वस्तु है । आँखें भी उसे देख नहीं पातीं, क्योंकि वह इतना विचित्र है कि वे उसमें ठहरती नहीं । किन्तु वही मूर्ति राधा और गोपियों के शरीर में ऐसी समा गई है कि वहाँ से निकलने का नाम नहीं लेती । कृष्ण के सौन्दर्य को तो केवल राधा ही जान सकी है अतः राधा को भी सूर ने अपूर्व सुन्दरी चित्रित किया है । सूरदास ने सूरसागर में इस प्रकार अनेक मानव-रूप-सौंदर्य के चित्र अंकित किये हैं ।

प्राकृतिक-सौंदर्य-चित्रण—मानव की भाँति प्रकृति भी अपूर्व सौंदर्य से परिपूर्ण है । सूरदास ने प्रकृति को भी कृष्णमय देखा है । उनकी शोभा को सूर जिस पैनी नजर से देख सके, अन्य नहीं । उन्हें प्रभात इसलिए प्रिय है कि उस समय श्रीकृष्ण जागते हैं । प्रभात में विकसित होते हुए कमल कृष्ण की अधखुली आँखों की याद दिलाते हैं, कलरव करते पक्षी कृष्ण का यशोगान करते जान पड़ते हैं, कमलों पर गुंजारते भौंरे कृष्ण का गुणगान करते जान पड़ते हैं । जैसे सूर्योदय से अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण के जागने पर दुःख, दैन्य, ताप आदि भी नष्ट हो जाते हैं एवं चतुर्दिक आनन्द छा जाता है ।

सूर ने वसन्त ऋतु के अनेक चित्र अंकित किये हैं । क्योंकि उस काल में कृष्ण यमुना तट पर गोपियों के साथ रासलीला करते हैं । उसका एक चित्र देखिये—

कोकिल बोलीं बनफूले, मधुप गुंजारन लागे ।
सुनि भयो सोर रोर वंदिन को, मदन महीपति जागे ।।
ते दूने अंकुर द्रुम पल्लव, जे पहले दव दागे ।
मानहुँ रति पति रीझ जाचकनि, बरन बरन दये बागे ।।
नई प्रीति, लता, पुहुप नये, नयन नये रस पागे ।
नये नेह नव नागरि हरषित सूर सुरंग अनुरागे ।।

इसमें कवि ने वाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आन्तरिक सौन्दर्य की अधिक अभिव्यक्ति की है ।

सभी ऋतुओं में अपना-अपना आकर्षण होता है। वसन्त के बाद वर्षा और शरद् की शोभा भी विशेष सुहावनी होती है। सूर ने वर्षा ऋतु में हिंडोले का वर्णन कर रसेश्वर श्रीकृष्ण का उल्लास चित्रित किया है। 'दादुर शोर कर रहे हैं, काली घटा छायी है, आकाश में वक-पंक्ति विचरण कर रही है, पपीहा, मोर आदि बोल रहे हैं। नन्हीं-नन्हीं बूँदें झर रही हैं, नदियाँ बह रही हैं।' ऐसे अवसर पर श्याम गोपियों के संग—

झूलत, झुलावत कण्ठ लावत, बढ़ी आनन्द बेलि।
कबहुँक रहसत, मचकि लैं लै एक-एक सहेलि।
झकझोरि झमकति डरति प्यारी, पिया अंकन मेलि।
तिहि समय सकुचि मनोज तकि छवि जक्यो धनु सर डारि॥

संयोग में जो प्रकृति सुख देती है, वियोग में वही दुख देने वाली होती है। वर्षा ऋतु की शोभा भी गोपियों के वियोग को और अधिक उद्दीप्त करती है। बादल उन्हें श्याम की याद दिलाते हैं। दामिनी दाँतों की चमक बन दुःख देती है। इन्द्रधनुष में उन्हें पीताम्बर का भ्रम होता है। बादलों में कृष्ण का रूप देख वे व्याकुल हो जाती हैं—

इन्द्रधनुष मनु पीत वसन छवि, दामिनि दसन विचारि।
जनु बग पाँति भाल मोतिनि के, चितवन चित्त निहारि॥
गरजत गगन गिरा गोबिन्द मनु, सुनत नयन भवे वारि।
'सूरदास' गुन सुमिरि स्याम के विकल भई ब्रज नारि॥

वर्षा के विभिन्न उपकरणों में गोपियों को मोर अधिक दुखी करता है। बिजली चमक रही है, बादल बरस रहे हैं और ऊपर से मोर बोल-बोल कर हृदय को जलाते हैं। वे कहती हैं—

कोऊ माई बरजे री इन मोरनि।
टेरत विरह रह्यो न परे छिन, सुनि दुख होत करोरनि॥

दिन में मोर और रात में पपीहा भी गोपियों को चैन नहीं लेने देता—

बहुरि पपीहा बोल्यो माई।
नींद गई चिन्ता चित बाढ़ी सुरति स्याम की आई॥

पपीहे के बोल से जितनी वे दुखित होती हैं, उतनी ही उन्हें शान्ति भी मिलती है, क्योंकि वह उन्हीं सा वियोगी है। वह भी उनसा ही पी-पी रटता है—

सखी री चातक मोहि जियावत।
जैसेहि रैन रटति हौं पिय-पिय तैसेहि वह पुनि गावत॥

इस प्रकार सूर ने कृष्ण के रूप, उनकी क्रीड़ाओं आदि को चित्रित करने के लिए प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में से अनेक पदार्थों को खोज निकाला है। इस प्रयोग में कवि की अन्तर्दृष्टि ही अधिक दिखाई देती है। कहीं-कहीं भाव के उद्दीपन में भी प्रकृति-वर्णन है—

पट कत बाँस काँस कुस चटकत लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अंगार, फुटत फट झटपट लपट कराल॥

बन में अग्नि-दाह का यह चित्र गोपों के मन के भय के लिए किया गया है। इसी प्रकार गोवर्द्धन धारण लीला में 'भय' के उद्दीपन के लिए जलवर्षण का चित्रोपम वर्णन है। साथ ही यह भी मानना होगा कि सूर के प्रकृति-चित्रण में कहीं-कहीं खिलवाड़ भी हो गई है। उनकी यह स्थिति भावातिरेक के कारण हुई है।

लीला-सौन्दर्य-चित्रण—श्रीकृष्ण के क्रिया-कलाप का जो वर्णन सूरदास ने किया है, वह केवल मनो-मोहकता और सौन्दर्याङ्कन की दृष्टि से ही किया है। यह क्रिया-कलाप लीला नाम से अभिहित किया गया है। लीला का प्रयोजन केवल लीला है और कुछ नहीं। इसका भावार्थ यह हुआ कि इन लीलाओं का उद्देश्य सौन्दर्य भाव जाग्रत करना है। श्रीकृष्ण के संहारक या आह्लादक कार्य सभी लीला हैं। शैशव में अँगूठा चूसने में ही वे समस्त ब्रह्माण्ड को कँपा देते हैं—

उछरत सिंधु धराधर काँपत, कमठ पीठि अकुलाई।
सेस सहस फन डोलन लागत हरि पीबत जब पाई॥
बढ़्यो वृच्छबट, सुर अकुलाने गगन भयो उत्पात।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात॥

कालिय-दमन के प्रसंग में भी सूरदास ने कृष्ण के लीला-सौंदर्य का मार्मिक उद्‌घाटन किया है—

> पूँछि राखी चाँपि, रिसनि काली काँपि,
> देख सब साँपि अवसान भूले ।
> करत फन घात, विष जात उलरात अति,
> नीर जरि जात नहिं गात परसै ।।
> 'सूर' के स्याम, प्रभु लोक अभिराम,
> बिनु जात अहि राज विष ज्वाल बरसै ।।

इस लीला में भी वे लोक अभिराम हैं। उन्हें आनन्द ही है। धेनुक बध, गोवर्धन धारण, दावानल-पान आदि कार्यों में भी उनकी यही दशा है। वे ऐसे क्षणों में कभी विषाद या क्रोध में नहीं आये। वे सर्वदा हँसते, खेलते और आनन्द मानते ही देखे जाते हैं। कंस की नगरी में भी उनके सभी कार्य ललित और विनोदपूर्ण हैं—

> हँसत हँसत स्याम प्रबल कुबलया संहार्‌यौ ।
> तुरत दन्त लिये उपारि, कंध निपट चले धार्‌यौ ।
> निरखत नर नारि मुदित चक्रिय गज मार्‌यौ ।
> अति ही कोमल अजान, सुनत नृपति जिय सकाने—
> तउ बिन जनु भयो प्रान मल्लिन पै आने ।
> हँसि बोले स्याम राम, कहा सुनत रहे नाम ।
> खेलन को हमहि काम बालन संग डोलैं ।

इसी प्रकार कंस का संहार भी उनके लिए विनोद और कौतुक ही है। उनके कंस-निकन्दन और गोपी-मोहन रूप में कोई अन्तर नहीं। वही श्याम कोमल शरीर, वही नटवर वेश और मृदुल श्रृङ्गार है—

> नवल नन्द नन्दन रंग भूमि राजैं ।
> स्याम तन, पीत पट मनो घन में तड़ित मोर के पंख माथे बिराजैं ।।
> स्रवन कुंडल झलक मानो चपला चमक दृग अरुण कमल दल से बिसाला ।
> भौंह सुन्दर धनुष, बान सम सिर तिलक, केस कुंचित सोह भृंग माला ।।
> हृदय वनमाल, नूपुर चरन लाल, चलत गज चाल, अति बुधि बिराजैं ।।

इस प्रकार सूरदास के काव्य में कृष्ण-लीला का सम्पूर्ण वातावरण सौंदर्य और माधुर्य से ओत प्रोत है और जो भक्ति-भावना से युक्त है।

प्रश्न २६—"भक्त कवि होने के कारण सूरदास ने नायिका भेद का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत नहीं किया, किन्तु उनके शृंगारिक कथन में नायिका भेद का स्वाभाविक विकास है", इस कथन की सत्यता सिद्ध कीजिए।

उत्तर—काव्य-शास्त्र के अनुसार शृंगार रस के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिका भेद का स्थान है। इस कारण वह शृंगार का ही एक अवयव है, किन्तु रीतिकालीन कवियों ने उसका ऐसा विशद और सांगोपांग वर्णन किया है कि वह एक स्वतन्त्र विषय बन गया है।

सूरदास ने राधाकृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का ऐसा विशद वर्णन किया है कि उसमें नायिका भेद का स्वाभाविक विकास हो गया है। राधा कृष्ण के पारस्परिक प्रेम के क्रमिक विकास, उनकी संयोग एवं वियोग की अनेक चेष्टाओं तथा उनके मान, उपालम्भ, मिलन आदि की अनेक उक्तियों में लक्षण कथन न होने पर भी नायिका के अनेक भेदोपभेद आ गये हैं।

पुष्टि सम्प्रदाय में स्वकीया भक्ति का महत्व है, अतः स्वकीया के अनुकूल अज्ञात यौवना से लेकर मध्या, प्रौढ़ा आदि सभी नायिकाओं का कथन हो गया है। वल्लभ सम्प्रदाय में परकीया भक्ति अग्राह्य है, अतः "सागर" में परकीया नायिका के कथन कम ही मिलते हैं। पुष्टि सम्प्रदाय की भक्ति के अनुसार राधा स्वकीया और चन्द्रावली परकीया नायिका है। अधिकांश गोपियों ने भी स्वकीया भाव से कृष्ण से अनुराग किया था। अतः उनमें भी स्वकीया तत्व का प्राधान्य है, किन्तु कहीं-कहीं उनमें परकीया तत्व की भी अभिव्यक्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त सूरदास के काव्य में गर्विता, मानवती, प्रोषित पतिका, अभिसारिका, खण्डिता आदि नायिकाओं के विशद वर्णन मिलते हैं। नीचे हम कुछ ऐसे पद उपस्थित करेंगे जिनमें नायिकाओं के विभिन्न भेदों का कथन हुआ है।

श्रीकृष्ण ने दानलीला प्रसंग में ब्रज-बालाओं के विकसित अङ्गों का ध्यान उनके (अंगों के) उपनामों द्वारा दिलाया है, किन्तु उन्हें इनका कुछ भी ज्ञान नहीं। निम्न पद में इसी 'अज्ञात यौवना' का वर्णन हुआ है—

यह सुनि चकृत भईं ब्रज-बाला।
तरुनी सब आपुस में बूझति कहा कहत नन्दलाला ॥
कहाँ तुरग, कहाँ गज केहरि, कहाँ हंस सरोवर सुनिये।
कंचन कलस, गढ़ाये कब हम, देखे धौं यह गुनिये ॥
कोकिल, कीर, कपोत बनन में, मृग, खंजन, सुक संग।
तिन को दान लेत है हमसों, देखहु इनके रंग ॥
चन्दन, चोव सुगन्ध बतावत, कहाँ हमारे पास।
'सूरदास' जो ऐसे दानी देखि लेहु चहुँ पास ॥

अपनी भुजा श्याम की भुजा पर और श्याम की भुजा अपनी छाती पर रख क्रीड़ामग्न "आनन्द सम्मोहिता" नायिका राधा का यह चित्र देखिए—

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम-भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया ॥
क्रीड़ा करत तमाल तरुन तर, स्याम-स्याम उमँग रस भरिया।
यों लपटाय रहे उर-उर ज्यों, मरकत मनि कंचन में जरिया ॥
उपमा काहि देउँ को लाइक, मनमथ कोटि बारनै करिया।
'सूरदास' बलि-बलि गोरी पर, नन्द कुँवर वृषभानु कुँवरिया ॥

अधीरा नायिका का चित्रण निम्न पद में देखिए—

मोहि छुवौ जिनि दूर रहौ जू।
जाकों हृदय लगाइ लई है, ताकी बाँह गहौ जू ॥
तुम सर्वज्ञ और सब मूरख, सो रानी औ दासी।
मैं देखति हिरदै वह बैठी, हम तुम को भइ हाँसी ॥
बाँह गहत कछु सरम न आवत, सुख पावत मन माहीं।
सुनहु 'सूर' मो तन को इक टक चितवति डरपति नाहीं ॥

नायिका भेद के आचार्यों ने परकीया के अन्तर्गत 'वचन विदग्धा' और 'क्रिया विदग्धा' का वर्णन किया है। सूरदास ने भी गोपियों व राधा की चेष्टाओं में अनेक स्थानों पर वचन व क्रिया की विदग्धता दिखाई है। यह बात

अलग है कि इन पदों में परकीयत्व का भाव न हो, किन्तु विदग्धता अवश्य है। निम्नलिखित पद में 'वचन विदग्धता' का चित्रण हुआ है—

तब राधा इक भाव बतावति।
मुख मुसकाई सकुचि पुनि लीन्हों, सहज चलीं अलकें निस्वारति।
एक सखी आवत जल लीन्हें, तासों कहति सुनावति।
टेरे कह्यो घर मेरे जैहो मैं जमुना ते आवति।
तब सुख पाइ चले हरि घर को हरि प्यारीहिं मनावत।
'सूरज' प्रभु वितपन्न कोक-गुन ताते हरि-हरि ध्यावत।

राधा की चतुरता उक्त पद में कितनी सुन्दर व्यक्त हुई है, सखी को सुना-कर कृष्ण को वचन-संकेत दे रही है कि तुम घर पर मुझे मिलो। मैं अभी यमुना से आती हूँ।

निम्न पद में ''क्रिया विदग्धा'' का चित्रण है। नायिका गुरुजनों के साथ बैठी है, कृष्ण आ गए हैं। अब उन्हें कैसे मिलन संकेत दे? एक बात मस्तिष्क में आई—झट से हाथ से बिन्दी छूकर चन्द्रोदय के समय का निर्देश कर दिया—

स्याम अचानक आय गयो री।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी, देखत ही मेरे नैन नये री॥
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी बेंदी सों कर परस किये री॥
आप हँसे उत पाग मसकि हरि, अन्तरयामी जान लिये री।

दशानुसार नायिका भेदों में 'मानवती' का प्रमुख स्थान है। नायक के दोषों का अनुमान कर नायिका का कोप-पूर्वक मान करना और नायक द्वारा उसे मनाना शृंगार प्रकरण का महत्वपूर्ण अंश है। निम्न पद ऐसे ही पदों में से एक है। राधा मान किए बैठी है। कृष्ण उसे मनाते हुए कह रहे हैं, तू रुष्ट क्यों है, मेरी तू ही कान, नाक और प्राण आधार है, तू जिसे मेरे हृदय में बताती है उसे बाँह पकड़ कर बता तो सही—

कहा भई धन बावरी, कहि तुमहिं सुनाऊँ।
तुमते को है भावती, सो हृदय बसाऊँ॥

तुमहि स्रवन, तुम नैन हौ, तुम प्रान अधारा ।
वृथा क्रोध तिय क्यों करौ, कहि बारम्बारा ॥
भुज गहि ताहि बतावहु, जो हृदय बतावति ।
'सूरज' प्रभु कहै नागरी, तुम तें को भावति ॥

इसी नायिका-मान में 'दूती' का भी प्रमुख स्थान है। उसका मुख्य कार्य रुष्ट नायिका को नायक के अनुकूल करना है। दूती मानवती नायिका को मान त्यागने के लिये कैसे उपदेश कर रही है, यह निम्न पद में देखिए—

वर्षा काल है, नदियाँ समुद्र से मिलने जा रही हैं, लतायें द्रुमों से मिल रही हैं। फिर यौवन के समय उक्त उद्दीपक वातावरण में तुझे प्रिय से मिलना चाहिए—

यह ऋतु रूसिबे की नाहीं।
बरसत मेघ मेदिनी के हित, प्रीतम हरषि मिलाहीं ॥
जे तमाल ग्रीषम ऋतु डाहीं, ते तरुवर लपटाहीं।
जे जल बिनु सरिता ते पूरन, मिलन समुद्रहिं जाहीं ॥
जोबन-धन है दिवस चारि को ज्यों बदरी की छाँहीं।
मैं दम्पति रस रीति कही है, समुझि चतुर मन माहीं ॥

अवस्थानुसार दश नायिका भेदों में "वासकसज्जा" के अनुकूल निम्न कथन को देखिए—

राधा तो मैं तब ही जानी।
अपने कर जे माँग सँवारे रचि-रचि बेनी बानी ॥
मुख भरि पान मुकुर लै देखति तिनसों कहत अयानी।
लोचन आँजि सुधारति काजर छाँह निरखि मुसकानी ॥
बार-बार उरोजनि अवलोकति उनते कौन सयानी।
'सूरदास' जैसी है तैसी मैं वाकों पहिचानी ॥

प्रिय-मिलन के लिए उत्सुक 'उत्कण्ठिता' नायिका का चित्र निम्न पद में देखिए। नायिका स्याम की बाट जोह रही है। कभी बिस्तर झाड़ती है, कभी नींद सी आई जान पानी से आँख धोती है, कभी अन्दर जाती है, कभी बाहर आती है—

चन्द्रावली स्याम मग जोवति ।
कबहुँ सेज कर झार सँवारति, कबहुँ मलय रज भोवति ।।
कबहुँ नैन अलसात जानि कै, जल लै लै पुनि धोवति ।
कबहुँ भवन, कबहुँ आँगन ह्वै ऐसे रैनि बिगोवति ।।
कबहुँ बिरह जरति अति व्याकुल, आकुलता मन में अति ।
'सूर स्याम' बहु रमनि-रमन पिय, यह गहि तब गुन तोवति ।

सोलह शृंगार से अपने को सजाकर प्रिय का अभिसार करने जाती हुई 'अभिसारिका' का चित्रण इन पंक्तियों में देखिए—

प्यारी अंग शृंगार कियो ।
बेनी रची सुभग कर अपने टीका भाल दियो ।।
मोतियन माँग सँवारि प्रथम ही केसरि अङ्ग सँवारि ।
लोचन आँजि स्रवन तरेवन छवि, को कवि कहै निबारि ।।
नासा नथ अति ही छवि राजत, बीरा अधरन रंग ।
नव सत साजि चली चोली बनि, 'सूर' मिलन हरि संग ।

'प्रेमासक्ता' नायिका का यह चित्र दृष्टव्य है—

कबहुँ मगन हरि के नेह ।
स्याम संग निसि सुरति को सुख भूल अपनी देह ।।

सूरदास के पदों में 'खण्डिता' नायिका के वर्णन पर्याप्त परिमाण में मिलते हैं । निम्न पद में प्रातःकाल नायक को अन्य नारी-संसर्ग के चिह्न दर्पण लेकर नायिका द्वारा दिखाने का वर्णन है—

प्यारी चितै रही मुख पिय को ।
अंजन अधर कपोलनि वन्दन लाग्यौ काहू त्रिय को ।।
तुरत उठी दर्पण कर लीन्हें देखो वदन सुधारो ।
अपनों मुख उठि प्रात देखि के तब तुम कहूँ सिधारो ।।
काजर बिन्दन अधर कपोलनि सकुचे देखि कन्हाई ।
'सूर' स्याम नागरि मुख जोवत बचन कह्यो नहिं जाई ।।

सूरदास ने विप्रलम्भ शृङ्गार का भी मार्मिक रूप से वर्णन किया है ।

उसमें उन्होंने ऐसे अनेक पद कहे हैं, जिनमें विरहिणी "प्रोषितपतिका" का करुण विलाप बड़ा मार्मिक है। एक पद देखिए—

हरि ! परदेस बहुत दिन लाये।
कारी घटा देखि बादर की, नैन नीर भर आये॥
बीर बटाऊ पंथी हौ तुम, कौन देस ते आये?
इक पाती हमरी लै दीजो, जहाँ साँवरे छाये।
दादुर, मोर, पपीहा बोलत, सोवत मदन जगाये।
'सूरदास' गोकुल के बिछुरे, आपुन भये पराये।

उक्त आधार पर हम कह सकते हैं कि सूरदास ने भक्तिकालीन कवि होने के नाते यद्यपि परिभाषा सहित नायिका भेदों का वर्णन नहीं किया, तो भी शृंगारिक कथन होने के कारण उनके काव्य में नायिका भेद का स्वाभाविक विकास हुआ है।

प्रश्न २७—'सूर सूर, तुलसी ससी', इस युक्ति की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—सूर एवं तुलसी हिन्दी साहित्याकाश के दो परमोज्ज्वल नक्षत्र हैं। इनमें किसका प्रकाश अधिक एवं किसका न्यून है, यह बतलाना बड़े से बड़े समीक्षक के लिये भी दुष्कर है। अनेक मनीषियों ने अब तक इन दोनों महात्माओं की तुलना की है। किसी ने अपनी मत्यानुसार सूर को श्रेष्ठ सिद्ध किया है तो किसी ने तुलसी को। प्रश्न में हमने 'सूर सूर तुलसी ससी' ऐसा कहा है। जिस विद्वान ने यह युक्ति प्रचलित की सम्भवतः उसने सूरदास को अधिक महत्व दिया है, किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि आज तक सभी विद्वानों का कथन विवाद-पूर्ण रहा है, और आगे भी रहेगा। उक्त कथन के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ नीचे दी जाती हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास ने लिखा है—

"तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है। व्यवहार दशाओं की अधिकता तुलसी में तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यंजना सूर के काव्य में प्राप्त होती है, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। सूरदास के सम्बन्ध में निम्नलिखित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते"—

"सूर सूर तुलसी ससी आदि"

इसी सम्बन्ध में मिश्र बन्धुओं ने लिखा है—

'हम लोगों का अब यह मत है कि हिन्दी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। उन्हीं के पीछे सूर का नम्बर आता है। महात्मा सूरदास हिन्दी के वाल्मीकि हैं। वालमीकि के समान यह हिन्दी के प्राचीन सत्कवि हैं...।"

सूरदास व तुलसीदास पर सबसे अधिक विवेचन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। उनके विवेचन का सार यह है कि—

(क) तुलसी का ब्रजभाषा और अवधी भाषा दोनों पर समान अधिकार था और उन्होंने, जितनी शैलियों की काव्य रचना प्रचलित थीं, उन सब पर उत्कृष्ट रचना की है। यह बात सूर में नहीं है। 'सूरदास' की पद्धति पर वैसी मनोहारिणी और सरस रचना 'गीतावली' में विद्यमान है। पर 'रामचरितमानस' और 'कवितावली' की शैली की सूर की कोई कृति नहीं है।

(ख) मनुष्य जीवन की जितनी अधिक दशायें, जितनी अधिक वृत्तियाँ तुलसी ने दिखाई हैं उतनी सूर ने नहीं।

(ग) तुलसी ने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे आदर्श स्थापित किये हैं वैसे सूर ने नहीं।

(घ) तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है, सूर की एकमुखी।

(ङ) तुलसी में लोक संग्रह व समन्वय का भाव विद्यमान है, सूर का ध्यान इस ओर गया ही नहीं। इस प्रकार शुक्ल जी ने तुलसी को ही मूर्द्धन्य स्थान दिया है।

हमारी दृष्टि से ये दोनों ही कवि हिन्दी कवियों के मुकुटमणि हैं एवं अपने-अपने क्षेत्रों में एक दूसरे से बढ़कर हैं। हिन्दी का तीसरा कोई भी कवि इनकी समता नहीं कर सकता।

संस्कृत साहित्य में सूरदास से पूर्व भी कृष्ण-साहित्य प्रचुर मात्रा में विद्यमान था। श्रीमद्भागवत, महाभारत, गीतगोविन्द आदि में कृष्ण चरित्र ही है। परन्तु सूर ने अपने कृष्ण को नया ही रूप दिया। वे भागवत् के दुख-मोचन भी नहीं, महाभारत के नीति-विशारद भी नहीं, एवं गीत गोविन्द के

नटवर भी नहीं। वे तो सूर के नन्दनन्दन, रसिक शिरोमणि हैं। सूर ने अपने काव्य में वात्सल्य शृंगार (वियोग-संयोग) दोनों का जैसा सुन्दर वर्णन किया आज तक वैसा कोई भी नहीं कर सका।

इसी प्रकार गोस्वामी जी से पूर्व भी राम-काव्य पर्याप्त मात्रा में विद्यमान था। वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण एवं रघुवंश, ये सभी राम काव्य हैं। किन्तु गोस्वामीजी का दृष्टिकोण उक्त तीनों से भिन्न था। वस्तुतः उन्होंने उक्त तीनों काव्यों की प्रमुख बातों का समावेश मानस में किया। कालिदास का कवित्व एवं अध्यात्म रामायण की धार्मिकता का इसमें अद्भुत सम्मिश्रण है। अतः रामायण में भक्ति और कवित्व का अपूर्व मणि-कांचन संयोग हुआ है।

पांडित्य की दृष्टि से भी दोनों ही महात्मा पूर्ण पण्डित हैं। भारतीय वेदान्त व दर्शन-शास्त्र के दोनों ही विशेषज्ञ थे। दोनों ही भक्ति का निरूपण करना चाहते थे। वेदान्त के तत्व दोनों महाकवियों के काव्यों में विद्यमान हैं। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि गोस्वामीजी समन्वयवादी थे, अतः उनके काव्य में सभी वादों एवं मतमतान्तरों का समन्वय है। सूरदासजी को अन्य मतों से कोई अभिप्राय ही नहीं था। अतः उन्होंने केवल पुष्टिमार्ग के अनुरूप ही अपने सिद्धान्तों का चित्रण किया। जहाँ तक कविता के भाव तत्व व कला तत्व का प्रश्न है, उसमें भी दोनों समान हैं, किसी को भी हम कम नहीं कह सकते, यद्यपि कुछ आलोचकों ने गोस्वामीजी के भावतत्व को सूरदासजी के भावतत्व से कम बताया है।

तुलसी के काव्य में जीवन की अनेक दशाओं का उल्लेख है। राम पुत्र, भाई, पति, भक्त-वत्सल, योद्धा एवं मर्यादा-रक्षक हैं। तुलसीदास ने भगवान राम के मर्यादा स्वरूप को ही लिया है, किन्तु सूरदास ने कृष्ण के बाल व किशोर रूप को ही चित्रित किया है। उसमें जीवन की विभिन्नता नहीं दर्शायी गई है। कृष्ण चरित्र की एक विशेषता यह भी है कि वे हमारे सामने अलौकिक रूप में आते हैं। अनेक सम्बन्धों से आबद्ध होने पर भी वे उनसे अलिप्त रहते हैं। इसी कारण उनका चरित्र लौकिक सम्बन्धों में विकसित नहीं हुआ। मानस

मानस के राम लौकिक भी हैं, उनका लौकिक जीवन भी विकसित हुआ है। यहाँ तक अपने उद्देश्य में दोनों कवि पूर्ण सफल हुए हैं।

जहाँ तक प्रबन्धात्मकता का प्रश्न है, वहाँ अवश्य दोनों की समता नहीं हो सकती। तुलसी का विषय ही प्रबन्ध के अनुकूल है। उसमें उन्होंने दोहा, चौपाई और गीत, कवित्त, सवैयों का भी प्रयोग किया है। सूरदास ने गीति काव्य की रचना की है। उसमें उन्होंने कृष्ण के एक ही स्वरूप को प्रमुख रूप से चित्रित किया है। यद्यपि कृष्ण के जीवन की अन्य घटनायें भी उसमें हैं, पर वे तारतम्य-रहित हैं। तुलसीदास ने भी गीतिकाव्य पर्याप्त लिखा है। अतः इस क्षेत्र में दोनों ही समान हैं। पर जहाँ तक गीति की सुन्दरता का प्रश्न है, सूरदास की गीति के आगे तुलसी की गीति नीरस है। भावसौन्दर्य के जो उदाहरण भ्रमरगीत व बाल-कृष्ण के सौन्दर्य वर्णन में मिलते हैं, वैसे तुलसी की गीतावली में नहीं।

वात्सल्य व शृंगार का निरूपण दोनों ही कवियों ने किया है, पर देखने पर ज्ञात होता है कि इसमें जितनी अधिक सफलता सूर को मिली उतनी तुलसी को नहीं। जो मनोहारिणी बाल-क्रीड़ा व वचन-वक्रता सूरदास में है वह तुलसी में कहाँ?

कहीं-कहीं तो दोनों की रचनाओं में अद्भुत साम्य है। तुलसी सूर से प्रभावित भी हैं। उदाहरण के लिए मानस का यह परम सुन्दर प्रसंग दृष्टव्य है। वनवास के अवसर पर जब सीता अपने पति व देवर के साथ चली जा रही थीं, उस समय ग्रामीण स्त्रियों ने सीता से उन पुरुषों का परिचय जानना चाहा। सीता ने जिस ढंग से उत्तर दिया उसे पढ़कर कोई भी सहृदय आनन्द-विभोर हुए बिना न रहेगा। ये प्रसंग भी सूर काव्य से प्रभावित हैं। 'मानस' का प्रसंग देखिए—

**"कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुख कहहु को अहहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महँ मुसुकानी॥
तिन्हहि विलोक विलोकत धरनी। दुहुँ संकोच सकुचति वर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनैनी। बोली मधुर बचन पिक बैनी॥**

सहज सुभाव सुभग तनु गोरे । नाम लखन लघु देवर मोरे ।।
बहुरि बदन बिधु अँचल ढाँकी । प्रिय तन चितै भौंह करि बाँकी ।।
खंजन मंजु तिरीछे नैननि । निज पति कहेउ तिनहिं सिय सैननि ।।
यही प्रसंग "कवितावली" में इस प्रकार है—
पूछति ग्राम बधू सिय सौं "कहौ साँवरे से सखि ! रावरे को हैं ?"
सुनि सुन्दर बानी सुधारस सानी; सयानि हैं जानकि जानि भली ।
तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हें समझाइ कछू मुस्काइ चली ।।
सूर काव्य में यही प्रसंग इस प्रकार मिलता है—

कहि धौं सखी ? बटोही को हैं ?
अद्भुत बधू लिए संग डोलत, देखत त्रिभुवन मोहैं ।।
यहि में को धनि पिया तुम्हारे, पुरतिय पूछहिं धाई ।
राजिव नैन मैन की मूरति, सैननि दियो बताई ।।

सूरकाव्य का और भी स्पष्ट प्रभाव तुलसीदास की "गीतावली" पर दीखता है । देखिये—

जसोदा हरि पालने झुलावै ।
हलरावै, दुलराइ, मल्हावै, जोइ सोइ कछु गावै ।।

—सूरदास

पालने रघुपतिहिं झुलावै ।
लै-लै नाम सप्रेम सरल स्वर, कोसल्या कल कीरति गावै ।।

—तुलसीदास

इस प्रकार हम तुलसीदास व सूरदास में कई समानताएँ देख सकते हैं । तुलसीदास के काव्य में महान् गुण हैं, पर सूरदास ने जिस सीमित क्षेत्र में ही सवा लक्ष पद रचकर अपना अपूर्व कौशल दिखलाया है, निश्चित ही उसमें तुलसी उनकी समता नहीं कर सकते । इन तथ्यों को देखते हुए "सूर-सूर तुलसी ससी" की सत्यता पर आक्षेप नहीं किया जा सकता ।

प्रश्न २८—सूरदास की विनय भावना का परिचय दीजिये ।

उत्तर—महाप्रभु वल्लभाचार्य से भेंट होने से पूर्व सूर भगवद्भक्ति विषयक पद बनाकर गाया करते थे । दास्य, दैन्य, भर्त्सना, विचारणा, पश्चाताप आदि

भावों से सम्बन्ध रखने वाले सूर के विनय के पद उसी समय के लिखे हुए . .

विनय के लिए एक ऐसे आधार की आवश्यकता है, जिसके लिए विनय की जाये। सूरदास ने प्रारम्भ में ही इस विषय में अपना मत स्थिर कर लिया है। उनके विनय का आलम्बन निर्गुण का सगुण अवतार (कृष्ण) है। 'अविगत' निर्गुण के प्रति विनय की भावना रहस्यमूलक, अस्पष्ट और भ्रामक हो सकती है; अतः सूर ने अपना आधार 'सगुण' माना है-

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे अन्तरतन ही भावै ॥
परम स्वादु सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी कौं अगम अगोचर, जो जाने सो पावै ॥
रूपु रेख गुन जाति जुगति बिनु निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन लीला पद गावै ॥

सूर के "सगुन" हैं, 'वासदेव" "जदुनाथ गुसाईं"। देखिए—

वासुदेव की बड़ी बड़ाई।
× × ×
बिनु दीन्हें ही देत सूर प्रभु ऐसे हैं जदुनाथ गुसाईं ॥
× × ×
वेद उपनिषद जासु कौं निरगुन ही बतावै ॥
सोई सगुन सूर नन्द की दाँवरि बँधावै ॥

सूर को यह निश्चय है कि निर्गुन व सगुन एक ही हैं। किसी कारण से ही "निरगुन" "सगुन" अवतार लेता है। उसके दो कारण हैं—

(क) ब्रह्म की लीला, (ख) भक्तों को आनन्द देना एवं उनके दुखों को दूर करना।

पहले वे भगवान के स्वभाव का वर्णन करते हैं, क्योंकि भक्त को उसी स्वभाव का आश्रय लेना है। भगवान् के स्वभाव के अङ्ग भक्त वत्सलता, भक्त की धृष्टता सहना, भक्त का कष्ट हरण, शरणागत वत्सलता, दीन ग्राहकता, गाढ़े दिन की मित्रता और अभयदान हैं। भगवान के इसी स्वभाव के

विश्वास को लेकर भक्त आगे बढ़ता है। वह सांसारिक वैभव को त्याग भगवान की भक्ति रूपी-सम्पत्ति में ही अपने को धनी मानता है—

कहा कमी जाके राम धनी।
मनसा-नाथ मनोरथ पूरन, सुख निधान जाकी मौज घनी॥
अर्थ, धर्म अरु, काम, मोक्ष फल चारि पदारथ देत गनी।
इन्द्र समान हैं जाके सेवक, नल बपुरे की कहा गनी।
कहा कृपिन की माया गनिए, करत फिरत अपनी-अपनी।
खाइ न सकै खरचि नहिं जाने, ज्यों भुजंग सिर रहत मनी॥
आनंद मगन राम गुन गावै, सुख सन्तापि की काटि तनी।
सूर कहत जे भजत राम को तिनसों हरि सदा बनी॥

आगे वह अपने को महाराजाओं से भी बड़ा मानता है, भगवान् का ऐश्वर्य ही उसका ऐश्वर्य है—

हरि के जन की अति ठकुराई।
महाराज दिविराज, राजमुनि, देखत रहे लजाई॥

यहाँ तक मन को विश्वस्त करने के बाद भक्त विनय की भूमिका में उतरता है। वह पहले भगवान् से माया और तृष्णा के परिहार की प्रार्थना करता है; क्योंकि भक्ति के यही दो प्रबल शत्रु हैं। सूर ने माया का वर्णन कई रूपकों में किया है—

माया नटी लकुटी कर लीन्हें।
× × ×
माधौ जू यह मेरी इक गाई।
अब आजु तें आपु आगे दई ले आइये चराई।
है अति हरहाइ हर कतहू बहुत अमारग जाति।
फिरत वेद बन ऊख उखारत सब दिन अरु सब राति॥

इस माया नटी के काम हैं भगवान् से विमुखता उत्पन्न करना, मन में अभिलाषाओं की तरंगें उठाकर मिथ्या से परिचय कराना और उसके प्रति आकर्षण उत्पन्न करना। यही माया का भ्रम है और यही भ्रम बाद में हिंसा,

मद, आशा, निद्रा, काम, तृष्णा आदि का कारण होता है। आशा का वर्णन सूर ने निम्न प्रकार से किया है—

> यह आसा पापिनी यहै।
> तजि सेवा बैकुण्ठ नाथ की, नीच नरनि के संग रहै॥
> जिनको मुख देखत दुख उपजत, तिनको राजा राम कहै।
> धन-मद-मूढ़नि, अभिमाननि-मिति लोभ लिये दुर्वचन सहै॥

किन्तु भक्त का अन्तिम आश्रय जहाँ भगवान का अनुग्रह है वहाँ उसे अपनी ओर से भी प्रयत्नशील होना पड़ता है। भक्त का मुख्य प्रयत्न होता है—आत्म शुद्धि एवं आत्म प्रबोध—

> रे मन छाँड़ि विषय कौ रचिवौ।
> × × ×
> रे मन अजहूँ क्यों न सम्हारै ?

कवि अपने मन को समझाता है—

> रे मन, आपु को पहिचानि।
> सब जनम तैं भ्रमत खोयो, अजहुँ तौ कछु जानि॥
> ज्यों मृगा कस्तूरि भूलै सुनौ तकि पास।
> भ्रमत ही वह दौरि ढूंढैं, जबहि पावे बास॥
> × × ×
> जब भगत भगवंत चीन्है भरम मन ते जाई।

भगवान की कृपा से ही मन स्वच्छ होता है, पर भक्त को भी कुछ साधना करनी ही चाहिए। वह साधनायें तीन हैं—

(क) नाम स्मरण, (ख) भगवत कथागान, (ग) भगवत स्वरूप चिन्तन। इसके अतिरिक्त गुरुभक्ति, दैन्य व सतसंग भी चाहिए और इसके साथ ही चाहिए आत्म प्रवादान—

> मो सम कौन कुटिल खल कामी।
> जिहि तन दियो ताहि बिसारियो ऐसो नोन हरामी।
> भरि भरि उदर विषय कौं धावै जैसे सूकर ग्रामी।
> हरिजन छाँड़ि हरि विमुखन की निसिदिन करत गुलामी॥

पापी कौन बड़ो है मोते सब पतितन में नामी।

× × ×

माधौं जू, हौं पतित सिरोमनि।

और न कोई लायक देखौ, सत सत अघ प्रति रोमनि ।।

कभी भक्त भगवान की शरण में आता है—

अब हौं हरि सरनागति आयौ।

वह भगवान की कृपा के प्रति भी आस्था रखता है—

भक्ति बिना जो कृपा न करते तो हौं आस न करतौं।

बहुत पतित उद्धार किये तुम हौं तिनकौं अनुसरतौं ।।

इन्ही भावनाओं के कारण भक्त ढीठ हो जाता है और इसी ढीठता के बल पर वह कहता है—

जो पै तुम ही विरद बिसारौ।

तो कहौ कहाँ जाइ करुनामय कृपिन करम कौ मारौ ।।

× × ×

दीनानाथ अब बारि तिहारी।

यही नहीं, अन्त में भक्त भगवान के उसी कृपालु स्वभाव से उत्साहित होकर कहता है—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।

कै तुमहीं कै हमहीं माधौ, अपुति भरोसे लरिहौं ।।

हौं तो पतित सात पीढ़िन को, पतित ह्वै निस्तरिहौं।

अब हौं उधरि नच्यो चाहत हौं तुम्हें विरद बिन करिहौं ।।

कत अपनी परतीति नसावत मैं पायो हरि हीरा।

सूर पतित तब ही उठि है प्रभु जब हँसि दैहौ बीरा ।।

यही है सूर की विनय भावना के मूल में कार्य करने वाला मनोविज्ञान। सूर सभी स्थानों पर भगवान से भक्ति माँगते हैं। इसके लिये वे अपनी पतितावस्था और भगवान की पतित-उद्धारन बानी का आश्रय लेते हैं। सूर की भक्ति में पतित भावना इतनी अधिक है कि वह उनकी भक्ति को कहीं-कहीं विचित्र रूप भी दे देती है। इस अवस्था का चित्रण उन्होंने रूपकों के सहारे किया है—

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
महा मोह को नूपुर बाजत निन्दा सबद रसाल।
भरम भर्‌यौ मन भयौ पखावज चलत कुसंगति चाल।
तृष्णा नाद करत घर भीतर नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियौ भाल।
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल-सुधि नहिं काल॥
सूरदास की सबै अविद्या दूर करौ नन्दलाल।

× × ×

अब कैं राखि लेउ भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यो द्रुम डरिया पारधि साधे बान।
ताकैं डर मैं भाज्यो चाहत ऊपर ढुक्यो सचान।
दुहुँ भाँति दुख भयौ आनि यह कौन उबारे प्रान॥
सुमिरत ही अहि डस्यौ पारधी कर छूट्यौ संधान॥
सूरदास सर लग्यौ संचानहिं जय जय कृपानिधान॥

सूर की यह भक्ति-भावना जिस कृष्ण रूप के प्रति प्रकट हुई वह निर्गुण से कम "अविगत" नहीं, किन्तु सगुण रूप होने के कारण उसकी सुन्दरता भक्त के मन में समा जाती है, जिससे वह कुछ तृप्त अवश्य हो जाता है। वस्तुतः सूर का विषय विनय नहीं है। सगुण सौन्दर्य का अवलोकन, आस्वादन और ध्यान ही उसका लक्ष्य है। यह भाव तो तभी तक था, जब तक आचार्य जी के दर्शन नहीं हुए थे।

प्रश्न २९—निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए।

बेणु, गोपियाँ, माया, पुष्टिमार्ग, राधा एवं रास।

उत्तर— वेणु (मुरली)

श्रीकृष्ण की मुरली उन पर शासन करती है। गोपियों ने इस विषय को लेकर उपालम्भ दिये हैं। सूर ने कई रूपों में मुरली का वर्णन किया है एवं प्रत्येक रूप में उनकी रागमयी वृत्ति वंशी ध्वनि के साथ तदाकार हो गई है। अद्भुत है यह मुरली जिसको सुनते ही सिद्धों की समाधि भी भंग हो

जाती है। सूरसागर में मुरली के प्रभाव के सम्बन्ध में प्रथम पद इस प्रकार है

मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी,
सुनि ध्वनि सिद्ध समाधि टरी।
सुनि थके देव विमान। सुर वधू चित्र समान।
ग्रह नक्षत्र तजत न रास। यही बँधे ध्वनि पास।
सुनि आनन्द उमँग भरे। जल थल अचल टरे।
चर-अचर गति विपरीत। सुनि बेनु कल्पित गीत।
झरना झरत पाखान। गन्धर्व मोहैं गान।
सुनि खग-मृग मौन धरे। फल तृण सुधि बिसरे।
सुनि धेनु चकित हरे। तृन दन्त नाहिं गहे।
बछवा न पीवैं छीर। पंछी न मन में धीर।
द्रुमि बेलि चपल भये। सुनि पल्लव प्रकट नये।
जे विटप चंचल पात। ते निकट को अकुलात।
अकुलित जे पुलकित गात। अनुराग नैन चुचात।
सुनि चंचल पवन थके। सरित जल न सके।
सुनि धुनि चलीं ब्रज नारि। सुत देह गेह बिसारि।
सुनि थकित भयो समीर। बहै उलटि यमुना नीर।

यह है मुरली का व्यापक प्रभाव। क्या जड़, क्या चेतन सब के सब उसी के वश में हैं। और भी देखिए—

"राधिका-खन बन भवन सुख देखिकै, अधर धरि बेनु सुललित बजाई।
नाम लै लै सकल गोप कन्यान के सबन के श्रवण वह धुनि सुनाई।।

अर्थात् मुरली की ध्वनि कानों में पड़ते ही प्रत्येक गोपी ने अनुभव किया मानों उसी का नाम ले-लेकर मुरली उसे ही बुला रही है। सोलह सहस्र गोपियाँ और प्रत्येक का नाम पुकारती हुई वंशी की एक-एक ध्वनि! सन्देश भी सब के लिए पृथक-पृथक। अद्भुत है, यह मुरली। जैसे जिसको चाहती है उसके कानों में वैसी ही ध्वनि उड़ेल देती है। मुरली क्या है, मानों भगवान् की कार्य साधिका यन्त्र रूप माया है जो विश्व के समग्र प्राणियों को अपने

अपने कार्य में निरत कर रही है। यह कार्य क्या है ? संसार के संसरण का। प्रत्येक के स्वकर्त्तव्य पालन का भाव क्या है ? यह भाव एक ही है, अपना-अपना कार्य करते हुए उधर ही दौड़ लगाना, उसी केन्द्र में जाना। गोपियों का कृष्ण के पास जाना। अध्यात्म पक्ष में जीवों का परमात्मा की ओर उन्मुख होना, जो धारा संसार की ओर बह रही है, उसे उलट कर ईश्वर की ओर बहाना। सूर ने लिखा है—

मुरली स्याम अनूप बजाई, विधि मर्याद सबनि भुलाई।
निसि बन को युवती सब धाईं, उलटि अङ्ग आभूषण ठाई।
कोउ चरण हार लपटाई, काहू चौकी भुजनि बनाई।
अँगिया काटि लहंगा उर लाई, यह शोभा बरणी नहिं जाई।

भाव यह है कि गोपियों की जो वृत्ति संसार में रमण कर रही थी वह मुरली नाद सुनते ही परमार्थ की ओर लग गई। साधक भी साधना करता हुआ कभी-कभी अनुभव करता है कि कोई उसे बुला रहा है। गोपियों को भी ऐसा ही अनुभव हुआ और वे चल पड़ीं। वे मानो साधिका हैं। मदिरा से मत्त मनुष्य को अपना ध्यान नहीं रहता। गोपियों की भी इसी स्थिति के कारण उसके पैरों में हार, लहँगा छाती पर है। वे अँधेरे को छोड़ प्रकाश की ओर चली हैं। जिसकी वृत्ति उधर हो गई है वह इधर की सँभाल क्यों करने लगा ? यही तो मुरली का रहस्य है।

अब प्रश्न यह है कि मुरली का स्थान अध्यात्म क्षेत्र में क्या है ? कुछ विद्वानों ने इसे 'शब्द ब्रह्म' का नाम दिया है। जो ब्रह्म सर्व-व्यापक है, उसकी वाणी भी सर्व-व्यापक है। अतः वेणु ध्वनि परब्रह्म का शब्द रूप है। अन्य विद्वानों ने इसे 'नाम-लीला' का रूप दिया है। भक्त नाम का जाप करते हुए जिस ध्वनि को अपने अन्तस्तल में श्रवण करता है, वही तो वंशी की ध्वनि है। कहीं-कहीं वंशी को योगमाया का रूप भी माना गया है (जैसे कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं) जो प्रभु की अपार शक्ति की वाचक है। श्रेय और प्रेम दोनों मार्ग वहीं से आरम्भ होते हैं। श्रेय को उपनिषदों ने "पराविद्या' और "प्रेम" को "अपरा विद्या" कहकर पुकारा है। वैष्णव आचार्यों का

कथन है कि वंशी निनाद के सम्मुख अभ्युदय और निश्रेयस दोनों प्रकार का सुख फीका है।

वेण्‌ु में तीन अक्षर हैं :—ब+इ+णु। "व" ब्रह्म सुख का द्योतक है। "इ" सांसारिक सुख को प्रकट करती है। इन दोनों प्रकार के सुखों को जो "ण", अर्थात् मात करने वाली है, वह है वेणु। आचार्य महाप्रभु ने इसे "ब्रह्मानन्ददपि अधिकानन्द सार भूता" अर्थात् मुरली की ध्वनि ब्रह्म के आनन्द से भी अधिक आनन्ददायिनी कहा है। इतना ही नहीं उन्होंने इसे श्रुति [शब्द] कहा है। वस्तुतः शब्द ब्रह्म ही परब्रह्म है।

सूर ने इस मुरली पर बहुत-कुछ लिखा है। जैसे—

वंशी बन कान्ह बजावत।
आइ सुनो श्रवननि मधुरे सुर राग रागनी गावत।
सुर श्रुति तान बँधान अमित अति सप्त अतीत अनागत आवत।
जनु युग जुरि वर वेष सजल मथि, बदन पयोधि अमृत उपजावत।

गोपियाँ

सूरसागर प्रधान रूप से हरिलीला काव्य है। हरिलीला गोप-गोपियों की लीला है। राधा-कृष्ण भी गोप-गोपी हैं। श्रीकृष्ण का अवतार गोप रूप में ही हुआ था। सूरसागर में प्रभु के इसी अवतारी रूप की लीलाएँ वर्णन की गई हैं।

अब प्रश्न है कि यदि कृष्ण ईश्वर हैं—सूर ने कृष्ण को परब्रह्म माना है—तो गोपियाँ क्या हैं? गोपियाँ उसी ब्रह्म की शक्ति हैं। अपने आश्रय से कभी पृथक नहीं होती। अतः कृष्ण और गोपियों में कोई अन्तर नहीं। एक गुणी है, दूसरा गुण है। सूर ने लिखा है—

गोपी-ग्वाल कान्ह दुइ नाहीं ये कहुँ नेक न न्यारे।

अध्यात्मपक्ष में कृष्ण आत्मा है तो गोपियाँ इस आत्मा की वृत्तियाँ हैं। किन्तु आत्म तत्व के एक होते हुए भी वृत्तियाँ अनेक और भिन्न रूपा हैं। इसीलिये भागवत व सूरसागर में उनके कई रूप लक्षित होते हैं। भागवत् में लिखा है—

"गोप जाति प्रतिच्छन्ना देवा गोपाल रूपिण" अर्थात गोपी व गोपों के रूप में देवता ही प्रकट हुए हैं—

सूरसागर में लिखा है—

यह बानी कहि सूर सुरन को अब कृष्ण अवतार।
कह्यौ सबनि ब्रज जन्म लेहू सँग हमारे करहु बिहार।

किन्तु भगवान की प्रकृति स्वरूपा तथा देव विग्रही गोपियों के अतिरिक्त कुछ गोपियाँ ऐसी थीं जो पूर्व जन्म में देवकन्याओं, श्रुतियों, तपस्वी ऋषियों या भक्तों के रूप में रह चुकी थीं और भगवान के साथ उनकी सेवा करने के लिए अवतीर्ण होना चाहती थी। उनमें से अनेक ने गोपियों के रूप में जन्म लिया। पद्म पुराण में लिखा है कि उग्रतपा नाम के मुनि सुनद नाम के गोप की कन्या सुनन्दा के रूप में अवतीर्ण हुए।

सूर ने एक स्थान पर गोपियों को वैदिक ऋचाओं का अवतार कहा है—

ब्रज सुन्दरि नहिं नारि, ऋचा श्रुति की सब आहि।
(मैं ब्रह्म) अरु शिव पुनि लक्ष्मी तिन सम कोऊ नाहिं।

वल्लभाचार्य जी ने एक स्थान पर गोपियों को लक्ष्मी का अंश और उसके साथ विचरण करने वाली कहा है [श्रुत्यत्तररूपणां गोपिका नाम]।

इस प्रकार गोपियाँ भिन्न-भिन्न रूपा थीं। इनमें कुछ देवकन्यायें थीं, कुछ ऋषि थे, कुछ ऋचायें थीं और कुछ स्वयं प्रभु की अन्तरंग शक्ति थीं। इन गोपियों की संख्या सोलह सहस्र कही गई है।

माया

[यद्यपि सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों में हम माया के स्वरूप का वर्णन कर चुके हैं, तो भी संक्षेप में यहाँ पर पुनः बतायेंगे।]

आचार्य शङ्कर ने माया को अनिर्वचनीय शक्ति कहा है। इसी से अभिभूत ब्रह्म का नाम ईश्वर है। ईश्वर ही सृष्टि की रचना करता है। ब्रह्म निर्गुण एवं तटस्थ है। अतः इस संसार के मूल में भी माया ही है। वैष्णव सम्प्रदाय में भी माया है, परन्तु वह सांख्य की प्रकृति के समान है। माया त्रिगुणात्मिका है। इसी से त्रिगुणात्मक [सत, रज, तम] जगत की उत्पत्ति हुई है। सूर ने भी माया का यही स्वरूप स्वीकार किया है। देखिए—

माया को त्रिगुणात्मक जानों। सत-रज-तम ताको गुण मानों ॥

जड़ स्वरूप सब माया जानों। ऐसो ज्ञान हृदय में आनों ॥

अतः सूरसागर में माया जड़ प्रकृति का ही रूप है। यह माया भगवान् के अधीन है, उसकी दासी है—

सो हरि माया जा बस माँहीं।

× × ×

परम पुरुष अवतार माया जाकी दासी।

माया वह ग्रन्थि है जो जीव को गृह, धन, पुत्र, कलत्र आदि के प्रेम में बाँध देती है। सूर ने माया को मोहिनी, भुजंगिनी, नटनी आदि कहा है। देखिए—

माया नटनि लकुट कर लीन्हें, कोटिक नाच नचावै।

दर-दर लोभ लागि लै डोलति, नाना स्वाँग करावै।

× × ×

माया विषय भुजंगिनी को विष उतार्यौ नाहिन कोई।

इसी माया को सूर ने अविद्या और तृष्णा कहा है—

माधव जू मेरी इक गाई।

अब आजु तै आप आगे, दई ले आइये चराई ॥

× × ×

माधव जू नेंकु हटकौ अपनी यह गाई।

यह माया असत् है, इससे बना यह संसार भी असत् है।

पुष्टि मार्ग

आचार्य वल्लभ के नित्याचार में मंगलाचार, भगवान् का शृङ्गार, राजभोग, संध्या, आरती आदि एवं नैमितकाचार में हिंडोला, बसन्त, फाग आदि की प्रधानता थी। सूर ने इन सभी पर रचना की है। उन्होंने मानव जीवन का उद्देश्य भगवान का स्मरण करना ही बताया है। हरि नाम वह नौका है जिस पर चढ़कर भक्त भवसागर से पार हो जाता है।

भागवत् में वर्णित सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, अति, मनवन्तर, ईशानु, कथा, निरोध और मुक्ति और आश्रय इन दस विषयों में एक पोषण भी है।

आचार्य महाप्रभु ने इसी शब्द से भगवद्भक्ति को पुष्टिमार्ग नाम दिया है। पुष्टिमार्ग में भगवान् के अनुग्रह पर सर्वाधिक बल दिया जाता है। वह अनुग्रह ही भक्त का कल्याण करता है। जिस पर भगवान् की कृपा नहीं, वह कुलीन होते हुए भी अकुलीन है। और जिस पर भगवान् की कृपा है वही कुलीन व सुन्दर है। देखिए—

जा पर दीनानाथ ढरैं।
सोई कुलीन बड़ो सुन्दर सोई जा पर कृपा करैं॥
राजा कौन बड़ो रावण तें गर्वहि गर्व करैं।
रॉंकव कौन सुदामा हूँ तें आपु समान करै॥
रूपक कौन अधिक सीता तें जन्म वियोग भरै।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा तें हरि पति पाई वरै॥
योगी कौन बड़ो शङ्कर तें ताकौं काम छरै।
कौन विरक्त अधिक नारद सौं निसिदिन भ्रमत फिरै॥
अधम जु कौन अजामिल हू तें यम तहँ जात डरै।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु फिरि फिर जठर जरै॥

यह है भगवान् के अनुग्रह का महत्व। सूरदास तो यहाँ तक कहते हैं कि—

सूर प्रतीत तरि जाय तनक में जो प्रभु नैकु ढरैं॥

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए पुष्टिमार्ग में ज्ञान, योग, कर्म, यहाँ तक कि उपासना भी निरर्थक समझी जाती है। सूरदास कहते हैं—

कर्म योग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्रीबल्लभ गुरु तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो॥

बल्लभाचार्य ने पुष्टि चार प्रकार की बताई है—[१] प्रवाह पुष्टि, [२] मर्यादा पुष्टि, [३] पुष्टि पुष्टि और [४] शुद्ध पुष्टि।

प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी श्रीकृष्ण की भक्ति करता है। मर्यादा पुष्टि के अनुसार भक्त संसार के समस्त सुखों से अपना हाथ खींच लेता है और कृष्ण के गुणगान एवं कीर्तन द्वारा भक्ति करता है। पुष्टि-पुष्टि में भगवान् का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है किन्तु साथ ही भक्त की साधना भी बनी रहती है। शुद्ध पुष्टि में भक्त पूर्णतः भगवान् पर आश्रित हो जाता

है। उस अनुग्रह के प्राप्त हो जाने पर भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान् की लीलाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसका हृदय श्रीकृष्ण की लीलाभूमि बन जाता है। वस्तुत: वल्लभाचार्य इसी भक्ति को चाहते थे, क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ है। वह वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति एवं अन्त में परम विरहासक्ति को प्राप्त होता है तथा शरीर छोड़ने पर गोलोकवास करता है।

इन आसक्तियों के रूप देखिए—

वात्सल्यासक्ति—जेंवत स्याम नन्द की कनियाँ।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छवि निरखत नन्द रनियाँ॥

सख्यासक्ति—मोहि प्रभु तुमसों होड़ पड़ी।
ना जानौं करिहौ जु कहाँ तुम नागर नवल हरी॥

कान्तासक्ति—कहा करौं पग चलत न घर को।
नैन विमुख जन देखे जात न लुब्धे असन अधर को॥

आत्मनिवेदनासक्ति—अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहरि चोलना कण्ठ विषय की माल॥

तन्मयासक्ति—उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसेहि निकसत नहीं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े॥

परमविरहासक्ति—बिन गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं।

एक प्रकार से भगवान् गोप व गोपी भक्त के रूपक हैं और भक्त की तरह ही भगवान् की प्राप्ति के लिए उन्हें आसक्ति की उक्त सभी दशाओं से गुजरना पड़ता है।

राधा

सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों के वर्णन में हमने राधा का उल्लेख किया है, वहाँ उसे भगवान् की शक्ति कहा है। सूर ने राधा का निम्नलिखित रूप में वर्णन किया है—

नीलाम्बर पहिरे तनु भामिनी, जनु घन में दमकति है दामिनी।
शेष महेश लोकेश शुकादिक नारदादि मुनि की है स्वामिनी ॥

जैसे गुण गुणी से पृथक नहीं होता, शक्ति अपने आश्रम से अलग नहीं होती, उसी प्रकार राधा कृष्ण से भिन्न नहीं। दोनों शाश्वत रूप से एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं—

तब नागरि मन हरष भई।
नेह पुरातन जानि स्याम को अति आनन्द भई।
जन्म-जन्म युग-युग यह लीला प्यारी जान लई ॥

किन्तु काव्य के भक्ति पक्ष को देखते हुए राधा का अन्य प्रतीकार्थ भी है। राधा अनुग्रह प्राप्त भक्त का प्रतीक है जो आसक्ति की अनेक दशाओं को प्राप्त होता हुआ परम विरहासक्त हो जाता है। उस समय वह इन्द्रियों के विषय से ऊपर उठ जाता है, एवं उसका अस्तित्व केवल "विरह की पीर" मात्र रह जाता है। सूर ने कहा है—

सोरह सहस पीर तन एक।
राधा जिव सब देह ॥

वैष्णव-कृष्ण-भक्ति का लक्ष्य यही था कि राधा कृष्ण की अन्यतम गोपी बन जाय। भागवत में इस अन्यतम गोपी (राधा) का उल्लेख हुआ है। सूरदास ने राधा को इस गोपी का अन्यतम स्थान दिया और उसी में भक्ति की पूर्णता की कल्पना की। इस राधा की देह सोलह हजार देहों की पीर थी, तभी तो वह कृष्ण को प्राप्त कर सकी। भक्त भी विरहासक्ति की इसी उच्चतम दशा को प्राप्त करना चाहता है। यही राधा का अन्य प्रतीकार्थ है; पहला (शक्ति) का स्वरूप तो सर्व-मान्य है ही।

रास

रास कृष्णलीला का मुख्य अङ्ग है। रास शब्द रस से बना है। "रसो वैस:" अर्थात भगवान स्वयं रस-रूप हैं, आनन्दस्वरूप हैं। उपनिषदों में भी कहा गया है कि अनादिस्वरूप ईश्वर से समस्त प्राणी प्रकट हुए हैं। रस रूप ब्रह्म एक केन्द्र है और ब्रह्माण्ड का यह चक्र उसकी परिधि है, जिसे उस प्रभु

की लीला कहा जाता है। वैष्णवों की रासलीला भी इसी आनन्द के अनुभव का नाम है।

वैष्णव भक्तों ने रासलीला को वैज्ञानिक रूप दिया है। इन विद्वानों की सम्मति में बाह्य जगत् में एक आकर्षण का नियम है। इस अनन्त आकाश में अनेक सूर्य हैं, एक-एक सूर्य के साथ अनेक ग्रह-उपग्रह लगे हुए हैं। सूर्य केन्द्रवर्ती है और समस्त ग्रह-उपग्रह उसके चारों ओर चक्कर काट रहे हैं। आकर्षण की शक्ति से ही ये सब परस्पर सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार रासलीला में कृष्ण केन्द्रस्थ सूर्य हैं। राधा तथा अन्य गोपियाँ ग्रह तथा उपग्रहों के रूप में हैं।

कुछ विद्वानों ने रासलीला को शाश्वत नृत्य के रूप में वर्णित किया है। इसी को वे शिव का नृत्य कहते हैं। शिव के पदतल की सम और विषम गति लास्य एवं ताण्डव नृत्य को जन्म देती है। नृत्य का यही शाश्वत रूप-रासलीला द्वारा प्रकट किया गया है।

एक अन्य विचार के अनुसार यह लीला शुद्ध अध्यात्म पक्ष की घटना है। इस पक्ष में श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं तथा राधा एवं गोपियाँ जीव। वृन्दावन सहस्र-दल-कमल है। यहीं तो आत्मा-परमात्मा का संयोग होता है। किन्तु वैष्णव विचारों के अनुकूल आत्मा और परमात्मा मोक्ष में भिन्न-भिन्न रहते हैं। मुक्त जीव परमात्मा के साथ क्रीड़ा करते हैं; उसकी लीला में भाग लेते हैं; लीलामात्र के लिए उनका जन्म होता है। तदनन्तर वे उसी में लय हो जाते हैं। गोपियाँ भी रासलीला में कृष्ण के साथ खेल खेलती हैं। इन सभी विचारों से यही प्रतीत होता है कि रासलीला एक प्रकार का रूपक है।

अब थोड़ा सा रास वर्णन देखिए। रास आरम्भ हुआ, कितना सुन्दर समय है, यह देखिए—

आजु निशि शोभित शरद सुहाई।
शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन बहै रोम-रोम सुखदाई॥
यमुना-पुलिन पुनीत परम रुचि-रुचि मण्डली बनाई।
राधा बाम अंग पर कर धरि मध्यहि कुँवर कन्हाई॥

खूब रास रचा है। शिव, शारदा, नारद आदि भी इस रास को देखने आते हैं। रास जब अपनी चरम-सीमा पर पहुँचता है तो सोलह सहस्र गोपियाँ द्रुत गति से कृष्ण के साथ नृत्य करती दिखाई देती हैं। एक-एक गोपी में कृष्ण व कृष्ण में एक-एक गोपी समाई हुई है। रास का इतना सुन्दर दृश्य है। सूर तो चाहते हैं कि निरन्तर मैं इस दृश्य को देखता ही रहूँ। सुर-नर-मुनि, नक्षत्र-चन्द्रमा आदि इस रास के वश में हो गये हैं। इस आलौकिक रासलीला का वर्णन कौन कर सकता है? जो इसका वर्णन कर सके वह वन्दनीय है—

रास रसलीला गाइ सुनाऊँ।
यह जस कहै मुख स्रवननि तिन चरननि सिर नाऊँ॥

एवं

रास रस रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं कहाँ इह चित्त जिय भ्रम भुलावै।

यह रासलीला विश्व की विराट् कार्य प्रणाली का मधुर आभास मात्र है। यह तो शाश्वत है। सूरदास ने कहा है—

नित्य धाम वृन्दावन स्याम।
नित्य रूप राधा ब्रज धाम॥
नित्य रास नित्य जल बिहार। नित्य मान खण्डिताभिसार।
ब्रह्म रूप ऐई करतार। करन हार त्रिभुवन संसार।
नित्य कुंज नित्य सुख हिंडोर। नित्यहि विविध समीर झकोर।

रास की नित्यता को ही सूर ने भगवान् की शाश्वत लीला कहा है। आचार्य महाप्रभु ने सूर को इसी शाश्वत लीला के दर्शन कराये थे।

प्रश्न ३०—हरिलीला क्या है? इसकी तात्विक मीमांसा कीजिए।

अथवा

"सूर ने प्रत्येक लीला के पहले उसका आध्यात्मिक संकेत उपस्थित कर दिया है। इसको न समझ कर सूर पर उच्छृङ्खल शृंगार का दोष लगाना अनुचित है।" इस कथन को सिद्ध कीजिए।

उत्तर—शुद्धाद्वैत के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म में अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं। यह सभी शक्तियाँ सर्वथा भगवान् के अधीन रहती हैं। जब परब्रह्म बाह्य-

रूप लीला करते हैं तो उनकी अनन्त शक्तियाँ भी संसार में आकर अनेक रूप, गुण और नामों से उनसे विलास करती हैं। उन शक्तियों में श्रिया, पुष्टि, गिरा आदि द्वादश शक्तियाँ मुख्य हैं। ये ही शक्तियाँ श्री स्वामिनी, चन्द्रावली, राधा और यमुना आदि के नामों से प्रकट होकर पुरुषोत्तम के साथ ही नित्य-स्थित रहती हैं। इन्हीं बारह शक्तियों से पुनः अनन्त भाव प्रकट होते हैं, जो अनेक सखी-सहचरी रूप में उनके साथ रहती हैं। इन्हीं शक्तियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए पुरुषोत्तम अपने में से श्री वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना, श्री गोकुल, पशु-पक्षी और वृक्षादिक भी प्रकट करते हैं। ये सब ब्रह्म के आधिदैविक ऐश्वर्य रूप होने से आनन्दमय चैतन्य रूप हैं, फिर भी कृष्णलीला के हेतु इन्होंने जड़त्व अपनाया है।

पुरुषोत्तम के नित्य होने से इनकी लीलाएँ भी नित्य एवं शाश्वत हैं।

जहाँ वृन्दावन आदि अजर जहाँ कुँज लता विस्तार।
तहाँ विहरत प्रिय प्रियतम दोऊ, निगम भृङ्ग गुंजार॥
रतन जटिल कालिंदी के तट अति पुनीत जहँ नीर।
सारस हंस-चकोर-मोर-खग-कूजत कोकिल कीर॥
जहँ गोवर्धन पर्वत मनिमय सघन कन्दरा सार।
गोपिन मण्डल मध्य विराजत निसिदिन करत बिहार।

अपनी इन आनन्दमयी नित्य लीला का दर्शन या ज्ञान अन्य को भी हो इस प्रकार पुरुषोत्तम की इच्छा हुई तो वेद की श्रुतियों (ऋचाओं) की प्रार्थना से पुरुषोत्तम के दर्शन हुए। उन्होंने पुरुषोत्तम से प्रार्थना की—

"श्रुतिन कह्यौ कर जोर देव तुम।
नमो नारायण आदि रूप तुम्हारो सु लख्यो हम।
निरगुण रहत जु निज स्वरूप लटको न ताको एव।
मन बानी ते अगम अगोचर दिखरावहु सो देव।
निरख सु छवि सब तकि रहे तब बोले यदुनाथ।
जो मन इच्छा होइ कहो सो मोहि कृपावर,
श्रुतिन कह्यो ह्वै गोपिका केलि करैं तुम संग।
एवमस्तु निज मुख कह्यो......................"

सो श्रुति रूप होय ब्रज मण्डल कीन्हों रास बिहार।
नवलकुंज में ओस बाहु धरि कीन्हीं केलि अपार।

भगवान् ने श्रुतियों की प्रार्थना पर उन्हें वरदान दिया। वरदान को पूर्ण करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण रूप में अवतरित हुए एवं श्रुतियाँ ब्रज-गोपियों के रूप में। पुरुषोत्तम के आविर्भाव के साथ ही उनका समस्त लीला-परिकर एवं लीला-स्थान भी ब्रज की गोपियों और गोवर्धन आदि स्थानों के रूप में भूतल में प्रकट हुए। साक्षात् गोलोक गोकुल में प्रविष्ट हुआ। गोवर्धन ने ब्रज के गोवर्धन में प्रवेश किया एवं वृन्दावन ने वृन्दावन में। इस प्रकार समस्त ब्रज तद्रूप हो गया। श्रीकृष्ण और उनका धर्म नित्य होने से उनका यह अवतार और अवतार लीला भी नित्य व शाश्वत हुई। पुरुषोत्तम की मूल लीला व अवतार लीला का नित्य सम्बन्ध है।

सूरसागर में भगवान् की दो प्रकार की लीलाओं का वर्णन है (१) अलौकिक, (२) लौकिक। अलौकिक लीलाओं में पूतना वध, कागासुर वध, शकटासुर वध, तृणावर्त्त वध आदि असुर-वध से सम्बन्ध रखने वाली लीला वर्णित हैं। लौकिक लीलाओं में चीरहरण लीला, पनघट लीला, दान लीला, रास आदि हैं। ये लौकिक लीलाएँ लौकिक तो हैं ही; साथ ही इन सब में कुछ न कुछ आध्यात्मिक भाव भी निहित हैं। इन भावों को न समझ कर लोग सूरदास पर उच्छृङ्खल शृङ्गार का दोष लगाते हैं। आगे हम उक्त लीलाओं की आध्यात्मिकता पर प्रकाश डालेंगे।

रासलीला के आध्यात्मिक पक्ष में कृष्ण परब्रह्म हैं, गोपियाँ प्रकृति स्वरूपा एवं राधा उनकी सार-रूपा। लीलामात्र के लिए ही उनका जन्म होता है। वह रास सारी सृष्टि में व्याप्त है। यह लीला अनन्त देश एवं अनन्त काल में सदैव होती रहती है। ब्रह्म से जीव उत्पन्न होता है एवं अन्त में उसी में लय हो जाता है। साधारण मनुष्य इस भेद को नहीं समझ सकते, अतः भगवान गोपियों की उत्पत्ति करके रूपक के रूप में अपनी लीला भक्त के समक्ष रखते हैं। जो मनुष्य लीला के वास्तविक अर्थ को समझने लगता है वह भी उसमें भाग लेने लगता है एवं फिर वह भगवान् से भिन्न नहीं होता। भक्त की दृष्टि से लीला का यही प्रयोजन है।

अन्य रूपक में वृन्दावन सहस्र दल-कमल है। गोप-गोपियाँ जीव हैं, कृष्ण मुक्त पुरुष हैं। जीव परमात्मा के साथ क्रीड़ा करते हैं एवं भगवान भी लीला में भाग लेते हैं। गोपियाँ मुरली का शब्द सुनते ही घर की सुध-बुध बिसार भगवान् की लीला में तन्मय हो जाती हैं। चारों ओर गोपियाँ और बीच में राधा-कृष्ण। बस, सब उस समय कृष्णमय हो जाते हैं। यह रास ऐसी होती है कि देव, गन्धर्व, शिव-पार्वती भी इसमें भाग लेते हैं। रास के बीच में राधा को गर्व होता है, भगवान् अन्तर्धान हो जाते हैं। वास्तव में यही गर्व भक्त से भगवान् को पृथक कर देता है। फिर राधा पश्चात्ताप करती है और कृष्ण प्रकट होकर रास करने लगते हैं। भक्त जब पश्चाताप करता है तो भगवान् पुन: अपने को प्रकट कर देते हैं।

इसी प्रकार चीर-हरण-लीला का आध्यात्मिक अर्थ आत्मा का माया के आवतरण से पृथक् (नग्न) होकर ईश्वर से मिलना है। अपार छविधारी कृष्ण यमुना के किनारे खड़े हैं, गोपियों ने वस्त्र किनारे पर रख दिए। भगवान के हाथ में सबको वश में करने वाली मुरली (योगमाया) है। गोपियाँ यमुना में स्नान करने लगीं। अध्यात्म-पक्ष में यमुना-स्नान का अर्थ है—भक्ति सरिता में निमग्न हो जाना। गोपियाँ तन्मय होकर उसमें डुबकी लगाती हैं। उनकी भक्ति रागानुगा है, उस पर माया का पर्दा है। भगवान् इस पर्दे को दूर करने के लिए तट से उनके वस्त्रों को उठा ले गये। आवरण के हटते ही भक्त व भगवान एक हो जाते हैं।

दान लीला में गोपियों के अंगों के दान का वर्णन है। अध्यात्म पक्ष में भक्त भगवान को अपना सर्वस्व समपर्ण कर देता है, उससे कुछ भी दुराव नहीं रखता। उसे अपना सर्वस्व देने में ही आनन्द होता है। यह भाव 'गोरस' के श्लेष द्वारा पुष्ट होता है। गोरस शब्द के अर्थ हैं। (१) दूध, दही, (२) इन्द्रियों का रस अर्थात् इन्द्रियानुभूति सुख। भक्त सारे इन्द्रियों के सुख को भगवान के अर्पण करे। इन्द्रियों के कर्म रुकते नहीं। उनसे सुख-दुख की प्राप्ति तो होगी ही, परन्तु भक्त उन्हें भगवदर्पण करके उनसे अलिप्त रह सकता है—"सर्वधर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज" ऐसा होने पर "अहं

त्वां सर्व पापेभ्यों मोक्ष पिष्याथि या शुचः।" दूसरे रूप में यह कर्म में अकर्म का सन्देश है—

ग्वारिन तब देखें नन्द नन्दन ।
मोर मुकुट पीताम्बर काछे खौर किये तन चन्दन ।।
तब यह कह्यो कहाँ अब जैहौ आगे कुँवर कन्हाई ।
यह सुन मन आनन्द बढ़ायो मुख कह बात डराई ।।
कोउ कोउ कहित चलौ ही जाई कोऊ कहै फिरि जाई ।
कोउ को कहति कहा करि हैं हरि इनको कहा हराई ।।
कोउ कहत काल ही हमको लूट लई नन्द लाल ।
सूर स्याम के गुन ऐसे हैं घरहि फिरौ ब्रज बाल ।।

किन्तु शुद्धाद्वैत के अनुसार अनुकम्पा (पुष्टि) ब्रह्म की ओर से होती है, इसी से कृष्ण आगे बढ़ कर गोरस छीनते हैं और इस द्विविधा का निवारण करते हैं। वह दान माँगते हैं—"दान लैहिहौं सब अँगन को।" अन्त में उन्हें दान मिल जाता है। गोपियाँ कहती हैं—

कछु दुराव नहीं हम राख्यौ निकट तुम्हारे आई ।
एते पर तुमही अब जानौ करनी भली बुराई ।।
जो जासो अन्तर नहीं राखै सो क्यों अन्तर राखै ।
सूर स्याम तुम अन्तर जामी वेद उपनिषद भाखै ।।

ठीक है, भगवान भक्त से अन्तर नहीं रखता तो भक्त ही क्यों रखे ?

पनघट-प्रसंग भी आध्यात्मिक रूपक है। जहाँ भक्ति और भगवान में खींचातानी चलती है वहाँ एक ओर संसार है, दूसरी ओर परमात्मा-मिलन का सुख। भक्त बीच में है। वह निश्चय नहीं कर पाता कि किधर जाय। अन्त में भगवान स्वयं अनुग्रह कर उसे संसार के पथ से हटा कर अपनी ओर कर लेते हैं। जो उस सुख का अनुभव कर लेता है, वह उस सखी की तरह हो जाता है—

घट भरि दियो स्याम उठाइ ।
नैकु तन की सुधि न ताको चली ब्रज समुहाइ ।
स्याम सुन्दर नयन भीतर रहे आय समाइ ।
जहाँ जहाँ भरि दृष्टि देखे तहाँ तहाँ कन्हाइ ।।

हिंडोला लीला में भी भगवान की नित्य लीला का वर्णन है। भगवान् ने स्वयं विश्वकर्मा को हिंडोला बनाने के लिए कहा। हिंडोला तैयार हुआ। कृष्ण राधा के साथ झूला झूलते हैं। ललिता, विसाखा आदि सखियाँ उन्हें झुलाती हैं, देवता इस लीला को देखने आते है और इस लीला को देख मोहित हो जाते हैं। आगे सूरदास स्वयं इसे स्पष्ट करते हैं—

कहत मत इन्हें बाँछा भय न बन द्रुम डार।
देह धरि प्रभु सूर विलसत ब्रह्म पूरण सार॥

यह लीला भी, जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं—नित्य है, गोलोक की लीला का ही प्रतिबिम्ब है—

तैसिये यमुना सुभग जे रच्यो रंग हिंडोर।
तैसिये ब्रज बधू जनि हरि चित्त लोचन कोर॥
तैसो वृन्दा विपिन घन कुन्ज द्वार विहार।
विपुल गोपी बिपुल बन रह नव नन्द कुमार॥
नित्य लीला नित्य आनन्द नित्य मंगल गान।
सूर सुर मुनि मुखन अस्तुति धन्य गोपी कान्ह॥

इस प्रकार उनकी अन्य लीलायें भी हैं। उनमें यद्यपि आध्यात्मिक संकेत हैं, पर वे संकेत अस्पष्ट है। इन लीलाओं में इस प्रकार के संकेत नहीं, पर कवि अपने विषय को इतनी सुन्दरता से स्थापित करने में सफल हुआ है कि पाठक स्वयं भाव की उच्चतम, अपार्थिव एवं आध्यात्मिक भूमि तक पहुँच जाता है। इतना समझ चुकने के बाद सूर पर उच्छृङ्खल शृंगार का दोष रह ही नहीं जाता।

कुछ अन्य सामान्य प्रश्न

प्रश्न ३१—'सूरसागर' के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति पर क्या प्रकाश पड़ता है ?

उत्तर—साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। समाज में जो सांस्कृतिक, धार्मिक या नैतिक स्थितियाँ होती हैं, साहित्य के ऊपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। किसी भी प्रबन्ध-काव्य में तत्कालीन सामाजिक वातावरण का-चित्रण आवश्यक सा हो जाता है। यद्यपि सूरसागर प्रबन्ध-काव्य नहीं, और न ही सूर का लक्ष्य श्रीकृष्ण के समस्त जीवन का चित्रण करना था, फिर भी कृष्ण के जीवन या लीलाओं का सूर ने जितना चित्रण किया है, उससे तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक स्थितियों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कवि ने समाज के संस्कार, पूजा-व्रत, उत्सव, मनोरंजन, भोजन आदि के न्यूनाधिक विवरण दिए हैं।

सूरसागर में ब्रज का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है, उसमें ब्रज के प्राकृत-धन (कृष्ण) के चित्र तो हैं ही, साथ ही वहाँ के गार्हस्थ्य जीवन का भी विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। अपने समय में उन्होंने आचार-विचारों का जैसा परिचय प्राप्त किया, उसका चित्रण भी उन्होंने वैसा ही कर दिया। जन्मोत्सव, छठी, नाम कर्म, अन्नप्राशन, वर्ष-गाँठ, कर्ण छेदन, गोवर्धन पूजा आदि अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनमें सूरदास ने अपने समय के ब्रज के आचार-विचारों का चित्रण किया है। ये आचार-विचार पूर्णतः ग्राह्य हैं। इनका वर्णन भी सूर ने बड़े नैसर्गिक ढङ्ग से किया है, और साथ ही इन प्रसंगों में मनोविज्ञान की सामग्री भी उपस्थित की है।

(१) जन्मोत्सव—

अपने देश में पुत्र-जन्म अनेक पुण्यों का परिणाम समझा जाता है। सभी स्त्री-पुरुष पुत्र का मुख देखने को लालायित रहते हैं। कृष्ण का जन्म हुआ है। यशोदा कहती है—

> "आवहू कन्त देव परसन्न भये पुत्र भयो मुख देखहु धाई ।।
> दौरि नन्द गये सुत मुख देख्यौ सो शोभा सुख बरनि न जाई ।'

कृष्ण का जन्म हुआ है और स्त्रियां बधावा लेकर जा रही हैं—

> "कोऊ भूषण पहिर्यो, कोउ पहिरति, कोऊ वैसे ही उठि धाई ।
> कंचन थार दूध दधि-रोचन गावय चलीं बधाई ।।

इस अवसर पर अनेक बाजे बजे, बन्दनवार बँधे, वेद ध्वनि हुई, ग्रह-नक्षत्र शोधन हुआ । सूर के समय डाढ़ी नाम की जाति थी । ये सूतों के समान ही थे । उनका नाचना भी सूर ने लिखा है । वे दान के लिए झगड़ते भी हैं ।

(२) छठी व्यवहार

छठी के समय मालिन ने बन्दनवार बाँधा । बालक को पालकी में लिटा कर आँगन में लाया गया । नाइन ने महावर आदि लगाया । भृत्यों को भाँति-भाँति के कपड़े बाँटे गये । सखियाँ पीले कपड़े पहन कर आईं । काजल व रोरी से छठी कर्म किया गया ।

(३) नाम कर्म

ब्राह्मण व चारण घर में आये । उन्होंने दूर्वा दिया । नई हल्दी तथा दही से बालक का टीका कराया गया ।

(४) अन्न प्राशन

प्रायः ६ महीने बाद अन्न-प्राशन-संस्कार हुआ । पुरोहित को बुलाकर शुभ राशि सोधी गई । सखियों को बुलाकर यशोदा ने गीत गवाये । यशोदा को गालियाँ दी गईं । यशोदा ने कृष्ण को उबटन करके उन्हें नये आभूषणों से सजाया । नन्द कृष्ण का मुँह जुठारने के लिए उन्हें गोद में लेकर बैठे । पुरुष नन्द के साथ आनन्द-विनोद करने लगे । थोड़ी देर में थाली में खीर लाई गई । जब नन्द ने कृष्ण के मुख पर खीर लगाई तो सब स्त्रियाँ गान करने लगीं ।

(५) वर्ष-गाँठ

वर्ष पूरा हुआ । सबको निमन्त्रण दिया गया, ब्राह्मण बुलाए गए,

चौक पूरा गया, यशोदा ने कृष्ण के उबटन लगाकर स्नान कराया, वर्षगाँठ का डोरा बाँधा गया, नाच हुआ, गान हुआ ।

(६) कर्ण-छेदन

नाई आया । बालक के हाथ में सोन्हारी और भेली दी गई, सींक में रोचन भर कर यशोदा ने कान पर चिन्ह लगाया; बालक पर न्यौछावर किया गया; नन्द ने ग्वाल-बालों को वस्त्र पहनाये । सूर ने इसका वर्णन किया है—

कृष्ण कुँवर को कनछेदन है। हाथ सुंहारी भेली गुर की ।
विधि विहँसत, हरि हँसत हेरि हेरि यसुमति के धुकधुकी उरकी ।।

(७) गोवर्धन-पूजा

अब ग्वाल-बाल शकट सजाकर गोवर्धन की ओर चले । साथ में वे जो षट्रस भोजन लाये थे, उससे उन्होंने गोवर्धन की पूजा की; ब्राह्मण को बुलाकर यज्ञारम्भ किया गया, ग्वाल पर्वत पर चढ़कर उस पर दूध डालने लगे एवं वस्त्राभूषण चढ़ाने लगे; लौटकर घर आये; मंगलाचरण हुआ और दीपमालिका बनाई गई ।

सूरसागर में पूजा का भी वर्णन है । सूर के समय में गौरी, शिव एवं सूर्य की पूजा का प्रचार था । लोग व्रत रखते थे एवं यमुना स्नान करते थे ।

उन दिनों शकुन मानना भी प्रचलित था । मृगमाला को दाहिनी ओर जाते हुए देखना अच्छा माना गया है । कौवे के उडने से भी शकुन जानने का वर्णन है ।

यद्यपि सूर ने राधा-कृष्ण का गन्धर्व-विवाह कराया है तथापि सूर के समय में विवाह की जो रीति थी, उस सबका वर्णन उन्होंने किया है । मौन धारण करना, निमन्त्रण, मण्डप और गान, गीत व वेद-मन्त्रोच्चारण, पाणिग्रहण व भाँवरि, गालियाँ गाना, कंकण खोलना आदि सभी बातों का वर्णन है ।

कंकण खोलने का वर्णन देखिए—

नहिं छूटै मोहन डोरना हो ।
बड़े हो बहुत अब छोरियो हो ऐ गोकुल के राई ।।
कै कर जोर करो बिनती, कै छुवौ श्री राधा जी के पाँई ।

इनके साथ ही सूरसागर में पुष्टि सम्प्रदाय के अनुसार कुछ नैत्यिक एवं नैमित्तिक आचारों का भी वर्णन है। नैत्यिक आचारों में मंगलाचार, शृंगार, ग्वाल, राज-भोग, उत्थान, भोग, सन्ध्या, आरती, शयन का वर्णन है। नैमित्तिक आचारों में हिंडोला, चाँवर, फाग, वसन्त आदि का वर्णन है। ये आचार लोक-जीवन के भी अंग थे।

वसन्त का वर्णन देखिये—

कोकिल फूली बन-बन फूले मधुप गुंजारन लागे।
सुनि भयो भोर रोर बन्दिन को मदन महीपति जागे॥
नित दूने अंकुर द्रुम पल्लव जे पहिले दबदागे।
मानहु रतिपति रीझ याचकन बरुन करन दए बागे॥

× × ×

ऋतु बसन्त के आगमहि मिलि झूम कहो।
सुख सदन मदन को जो मिल झूम कहो।
कोकिल बचन सोहावनो मिलि झूम कहो॥
हित गावत चातक मोर मिलि झूम कहो।

सूरसागर में ऐसा भी वर्णन है कि सूर के समय तक ब्रजवासी तमोगुण से शून्य थे। अर्थात् वे प्याज, लहसुन, माँस, मद्य आदि तमोगुणी पदार्थों का सेवन नहीं करते थे। परन्तु दूसरी तरफ मनुष्य संसार की वासनाओं में इतना लिप्त था कि उसके सामने कोई आदर्श ही नहीं रहा था। वह हिंसा, मद, मोह में पड़ा झूठी आशाओं में लीन रहता था। आहार-निद्रा आदि में ही वह अपना जीवन बिताता था—

अब हौं माया हाथ बिकानौ।
परबस भयो पसू ज्यों रजु बस, भज्यो न श्रीपति रानौ॥
हिंसा मद ममता रस भूल्यो, आसा ही लपटानौ।
यही करत आधीन भयौ हौं निद्रा अति न अघानौ॥
अपने ही अज्ञान तिमिरि में बिसरयौ बरम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँख है, ताहूँ में कछु कानौ॥

तब मनुष्यों के सामने आदर्श था केवल हरि भक्ति, किन्तु उसमें मन लगाना आसान न था। विषय वासनाओं का आकर्षण उसमें बाधक था। फिर भी सांसारिक यातनाओं से छूटने के लिए लोग संन्यासी बन जाते थे, किन्तु यहाँ भी वे वैभव व कीर्ति के लोभ में फँस जाते थे।

किते दिन हरि सुमिरण बिनु खोये।

× × ×

तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै विषयिन के मुख जोये।

× × ×

सूर अधम की कहौ कौन गति, उदर भरि परि सोये॥

पेट भरने में ही मनुष्य का जीवन बीत जाता था। कभी भी वह अपने को पूर्ण न कर पाता और फिर—

कहत है आगै जपि हैं राम।

बीचहिं भई और की औरे, परयौ काल सों काम।

× × ×

सूरदास प्रभु कौ बिसरायौ बिना लिये हरि नाम॥

मनुष्य वासनाओं में इतना लिप्त था कि उसे अपने कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान भी न रहता। जन्म-जन्मान्तर विषय-वासनाओं में भटकता रहता और कुत्ते व सुअर की तरह पेट भरता। अन्त में उसकी यह गति होती—

सुनत तज्यौं, तिय तज्यौ, भ्रात तज्यौ, तन तैं भई न्यारी।

स्रवन न सुनत, चरण गति थाकी, नैन बहै जल धारी॥

गलित केस, कफ कण्ठ विरूंध्यौ, कल न परति दिन राती।

माया छोड़ न छाँड़ै तृष्णा, ये दोऊ दुख थाती॥

यह तो थी सामाजिक अवस्था। धार्मिक अवस्था का भी चित्र देखिये—

जरत ज्वाला गिरत गिरि तैं स्वकर काटत सीस।

देखि साहस सकुच मानत, राखि सकत न ईस॥

कामना करि कोटि कबहूँ, किये बहु पसु घात।

सिंह-सावक ज्यों तजै गृह, इन्द्र आदि डरात॥

जप-तप केवल आडम्बर मात्र था। धर्म के नाम पर ढोंग और पाखण्ड बढ़ रहा था। तब नाथपंथियों की प्रधानता थी। इन योगियों की योगसाधना का कुछ उल्लेख भ्रमरगीत के प्रसंग में हुआ है। आसन, ध्यान और साधना इनके साधन के अंग थे। ये मुद्रा, भस्म, विषाण और मृगचर्म धारण करते थे। ये योगी गोरख का नाम लेकर अलख जगाया करते थे। ये कहते थे कि संसार ब्रह्ममय है और उसी रूप में उसे देखो। निम्न पद द्वारा इनकी साधना की स्थिति और स्पष्ट हो जायगी—

इंगला पिंगला सुसमना नारी।
सून्ग्रो सहज में बसो मुरारी॥
ब्रह्मभाव करि सब में देखौ।
अलख निरंजन को ही लेखौ॥
पद्मासन इन मन चित लायो।
नैन मूँदि अन्तर्गत ध्याओ॥
हृदय कमल में ज्योति प्रकाशी।
सो अच्युत अविगत अविनाशी॥

योग के अतिरिक्त उस समय निर्गुण उपासना का भी प्राधान्य था। काशी संन्यासियों और तार्किक पण्डितों का केन्द्र था।

उस युग में साधारण लोगों का जीवन भी कुछ शुष्क-सा हो गया था। जीवन में विलासिता की मात्रा बढ़ गई थी। मनुष्य का जीवन आलिंगन, चुम्बन, परिरम्भन आदि में बीत जाता था—

आलिंगन चुम्बन परिरम्भन।
नख छ्त चारु परस्पर हासी॥
केतिक करना बेलि चमेली।
सुमन सुगंध सिचाये॥

अपने वैभव को प्रकट करने का भी बड़ा शौक था। जन-समाज उपासना के बाह्यांगों पर ही अधिक बल देता था, लोग झूठे आडम्बर में फँसे थे। उनके जीवन में अस्थिर भावनाओं की प्रधानता थी। उनके सामने कोई आदर्श नहीं था। वे अपने जीवन को हास-विलास, चौपड़ व कलह में बिता देते थे—

चौपड़ि जगत मढ़े जुग बीते ।

लोगों में समय की मात्रा का अभाव सा हो गया था। परकीया के प्रति प्रेम प्रचलन समाज का मूलोच्छेदन करने में लगा हुआ था। लोग पनघट पर जाती हुई स्त्रियों को छेड़ते थे। ब्रज के लोग कृषि करते थे एवं स्त्रियाँ दधि बेचने जाती थीं। इस प्रकार सूरदास ने तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण किया है।

प्रश्न ३२—कृष्ण-भक्ति के विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—भारतीय साहित्य के विद्यार्थी के लिए कृष्ण नाम चिर-परिचित है। महाभारत में तो कृष्ण का नाम अनेक बार आया है। महाभारत में श्रीकृष्ण कहीं योद्धा के रूप में, कहीं वेद-वेदांत-वेत्ता के रूप में और कहीं धर्मोपदेष्टा के रूप में आये हैं। गीता के रूप में उन्होंने एक महान् धर्म का उपदेश दिया है। कई स्थानों पर उन्हें सात्वत् धर्मोपदेष्टा कहा गया है। कृष्ण का दूसरा नाम वासुदेव भी है। वसुदेव की सन्तान होने के कारण कृष्ण वासुदेव के नाम से लोक में प्रसिद्ध हो गये।

'छान्दोग्य उपनिषद' में कृष्ण को देवकी का पुत्र व घोर आंगिरस ऋषि का शिष्य कहा गया है। देवकी पुत्र कृष्ण वासुदेव कृष्ण ही थे। घोर आंगिरस ऋषि का नाम 'कौसीतकी ब्राह्मण' में भी आता है। उसके साथ ही कृष्ण के नाम का भी उल्लेख है। इन सब उल्लेखों से यही सिद्ध होता है कि कृष्ण के पिता का नाम वसुदेव एवं माता का नाम देवकी था। वे घोर आंगिरस के शिष्य थे। समस्त वेदवेदांगों के ज्ञाता थे। वे राजनीति एवं युद्ध में भी कुशल थे। उन्होंने सात्वत सम्प्रदाय की स्थापना की थी इसका मुख्य उद्देश्य था पशु-हिंसापूर्ण यज्ञों का विरोध एवं निवृत्ति मार्ग के स्थान पर प्रवृत्ति मार्ग का प्रचार। इसी धर्म का नाम बाद में वासुदेव धर्म हुआ। सम्भवतः इसी सर्वाङ्गीण सामाजिक एवं आत्मिक उन्नति के कारण वे जनता के विश्वासपात्र बन गये और जनता उनकी भक्त हो गई। आबाल, वृद्ध, मूर्ख से लेकर पण्डित तक सभी उनकी पूजा करने में अपने को धन्य समझने लगे; अतः यह निश्चित है कि सात्वत सम्प्रदाय की स्थापना करने के कारण वे ईश्वर रूप में भी पूजित

होने लगे। महाभारत में भीष्म ने उनकी ईश्वर रूप में ही पूजा की है। बाद के पौराणिक साहित्य में उनके ईश्वर रूप का और भी विकास हुआ। हरिवंश पुराण, पद्मपुराण, वायुपुराण में यह कथा आती है। ब्रह्मवैवर्त पुराण के तृतीय खण्ड एवं श्रीमद्भागवत के दशम् व एकादश स्कन्धों में तो कृष्ण की कथा अत्यंत विस्तार से आई है। कृष्ण का जो स्वरूप हम पहले वर्णित कर चुके हैं उसके साथ ही पूतना वध, शकट-भंजन, माखन-चोरी, रास आदि भी उन्हीं कृष्ण के साथ जोड़ दिये गये।

श्रीकृष्ण की उक्त लीलाओं का वर्णन महाभारत में नहीं आता अतः विद्वानों को इसमें ऐतिहासिक सत्यता ठीक रूप से प्राप्त नहीं होती। क्योंकि भागवत पुराण को सर्व पुराणों में श्रेष्ठ कहा गया है, उसमें कृष्ण की उक्त लीलाएँ हैं और महाभारत में नहीं हैं। वह भी ऐतिहासिक ग्रन्थ है। कुछ विद्वानों ने कहा है कि कृष्ण क्राइष्ट का रूपान्तर है। जब ईसाई धर्म का मद्रास में विकास हुआ तो हिन्दुओं से क्राइष्ट के रूप को कृष्ण का रूप दे दिया होगा, पर ये तो कोरी गप्पें ही हैं। कृष्ण का अस्तित्व तो हम ब्राह्मण ग्रन्थों तक में दिखा चुके हैं। उस समय तो क्राइष्ट के किसी पूर्वज का भी जन्म न हुआ होगा। अतः उन विद्वानों की धारणा स्वतः निर्मूल हो जाती है।

अब एक प्रश्न और भी है कि महाभारत में गोपियों का नामोल्लेख नहीं, फिर गोपियों की लीला क्या है? यह कहाँ से आई? इसके विषय में श्री भाण्डारकर के मतानुसार गोपी शब्द उस आभीर जाति से सम्बन्ध रखता है जो सीरिया से चलकर भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ईसा से पूर्व ही आकर बस गई थी। यह जाति बाद में दक्षिण में बस गई और वहाँ से गोपी-कृष्ण लीला का प्रचार हुआ। ये सब बातें कल्पित ही जान पड़ती हैं, क्योंकि ऐतद्देशीय किसी साहित्य में आभीरों (अहीरों) को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। यह भी सम्भव है कि आभीर क्षत्रियों में बाल-गोपाल की पूजा होती हो, किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि वे (आभीर) बाहर से आये थे। भागवत में वसुदेव ने आभीराधिपति नन्द को अपना भाई माना है, इससे

तो श्री भाण्डारकर का मत समाप्त हो जाता है। हाँ, हम यह सम्भावना अवश्य करते हैं कि ये आभीर दक्षिणवासी रहे होंगे, बाद में उत्तराखण्ड में आगये होंगे, इनमें बाल-कृष्ण की छटा एवं राधा और गोपियों की लीला का प्रचार रहा होगा। जब उन्होंने उत्तराखण्ड में वास किया तो उक्त लीलायें भी कृष्ण-भक्ति के साथ ही जोड़ दी गई।

उक्त सभी बातों से यह निष्कर्ष निकला कि बाल-कृष्ण की भक्ति दक्षिण की देन है। भागवत महात्म्य में एक स्थान पर लिखा है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हो कर्नाटक में बड़ी हुई। कहीं-कहीं महाराष्ट्र में भी उसका मान हुआ, किन्तु गुर्जर देश (गुजरात) में वह बूढ़ी हो गई। जब भक्ति वृन्दावन में आई तो फिर वह अत्यन्त प्रिय रूप वाली सुन्दरी नव-युवती सी हो गई। वैष्णव धर्म के प्रायः सभी आचार्य दक्षिण के थे। इससे यही सिद्ध होता है कि कृष्ण भक्ति का आरम्भ द्रविड़ देश में ही हुआ होगा। भागवत् में एक श्लोक भी मिलता है जिसमें लिखा है कि भक्त-जन द्रविड़ देश में ही अधिक पाये जाते हैं। वह श्लोक इस प्रकार है—

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण परायणाः।
क्वचित्-क्वचित् महाराज द्रविडेषु च भूरिशः॥

यह तो हुई कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी एक कल्पना। अब एक अन्य कल्पना लीजिये। कृष्ण-भक्ति को हम वैष्णव भक्ति भी कहते हैं "विष्णोः इदं वैष्णवम्।" विष्णु का नाम वेदों में अनेक बार आया है। 'इदं विष्णु-विचक्रमेत्रिधा निदधेपद"। वेद के अनेक मन्त्रों में विष्णु को त्रिविक्रम, उरुगाय और गोपा भी कहा गया है। इसके साथ ही निम्न मन्त्र भी ध्यान देने योग है—

ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै;
यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः;
परमंपदमव भाति भूरिः॥

इसमें अनेक सींगों वाली गौओं का वर्णन है। 'वृष्णि' शब्द भी है। यह ध्यान देने योग्य है कि पुराणों में कृष्ण को विष्णु का अवतार कहा गया

है और उन्हें वृष्ण वंश में उत्पन्न माना गया है। [वेद में इस मन्त्र का अर्थ अन्य ही है, यहाँ हमने शब्द साम्य से उक्त अर्थ लिया है]। इसके साथ ही वेद में राधा, ब्रज, वृषभानु, रोहिणी, अहि (कालीनाग), अर्जुन आदि कृष्ण लीला से सम्बन्ध रखने वाले नाम आ गये हैं। इन शब्दों को देखने से सम्भवतः कोई वैदिक प्रणाली को न जानने वाला यही अर्थ निकालेगा कि वेद में इन नामों के होने से वेद कृष्ण के बाद लिखे गये हैं, पर वस्तुतः उक्त शब्दों का वेद में पौराणिक अर्थ नहीं, वहाँ तो अन्य ही अर्थ है। जैसे कृष्ण=रात्रि, अर्जुन=दिन, गौ=किरणें आदि।

पहले ऋषियों को वेदों का साक्षात् ज्ञान था। उन्होंने बाद में वह ज्ञान अन्यों को दिया है। इस प्रकार से वेद की व्याख्या आरम्भ हुई। वेदों के छः अंग हैं, उनमें एक निरुक्त भी है ! निरुक्त के समय तक वेदों के ज्ञान या उसके अर्थ के कई सम्प्रदाय चल पड़े थे। उनमें नैरुक्तिक, याज्ञिक एवं ऐतिहासिक सम्प्रदाय प्रधान हैं। ऐतिहासिक सम्प्रदाय का कार्य भी वेद की व्याख्या करना ही है। महाभारत में लिखा है कि इतिहास और पुराणों से वेदों की व्याख्या करे। "इतिहास पुराणाभ्यां, वेद समुपवृंहयेत्।" ऐतिहासिक व्याख्याता भी इतिहास की रक्षा के साथ वेदों की व्याख्या करते थे। ये लोक वैदिक कथाओं को आलंकारिक ढंग पर स्पष्ट करते थे। इससे जनता का मनोरंजन भी हो जाता था और उपदेश का उपदेश भी। अतः वेद में जो कृष्ण, राधा, गोप आदि शब्द आये हैं वे निश्चित रूप से ऐतिहासिक नहीं हैं, पर ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम से ही रखे गये। देखिये—

सर्वेषांतु स नमानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चं निर्ममे॥

आर्य जाति ने यह कल्पना किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं अपितु विशुद्ध लोक-कल्याण की भावना से की थी। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि राम, कृष्ण, व्यास आदि ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं ? अवश्य ही ये विभू-तियाँ भी ऐतिहासिक हैं। इसमें अवतार-भावना कवि कल्पना-प्रसूत है। जब अवतारों की कल्पना हो गई तो उपनिषदों के नारायण को कृष्ण के साथ मिलाया

गया। नारायण को यज्ञपुरुष कहते हैं और वेदों में कहा है "यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् यज्ञ ही विष्णु है। इस प्रकार कृष्ण, नारायण और विष्णु एक हुए। कृष्ण वसुदेव के पुत्र होने के कारण वासुदेव भी कहलाते हैं। अतः वासुदेव, कृष्ण, विष्णु और नारायण एक ही हुए। इस प्रकार महाभारत में जो कृष्ण वेदवेदांगवेत्ता व राजनीतिज्ञ हैं, छान्दोग्य-उपनिषद् में घोर आंगिरस ऋषि के शिष्य हैं, वे ही प्रथम सात्वत धर्म के उपदेशक बनते हैं और बाद में साक्षात् ईश्वर के रूप में पूजे जाते हैं—

"कृष्णस्तु भगवान स्वयम्"

वैष्णव धर्म के द्वितीय उत्थान काल तक यही बात बनी रही। द्वितीय उत्थान के समय भारत में बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था। बौद्ध धर्म के पतन के बाद धार्मिक क्षेत्र में तीन धारायें चलीं—पूर्व में तांत्रिक मत का प्रचार हुआ, पश्चिम में शैव मत का एवं दक्षिण में विष्णु की पूजा प्रचलित हुई। कुछ काल के अनन्तर दक्षिण की यह भक्ति-पद्धति उत्तर भारत में आ गई। इसमें शिव को विष्णु की शक्ति माना गया। अब समस्त पश्चिमीय प्रदेश एवं दक्षिण भारत में विष्णु के तीनों रूपों—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव की उपासना प्रचलित हो गई।

बाद में कुमारिल भट्ट के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म का अवशेष भी लुप्त हो गया। कुमारिल भट्ट के बाद आचार्यों का युग प्रारम्भ हुआ। इन आचार्यों ने एक बार फिर वेद, उपनिषद् और पुराणों की प्रतिष्ठा की। ये सब आचार्य— जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं—दक्षिण के ही थे। शङ्कराचार्य ने जीव व ब्रह्म की एकता स्थापित करके ज्ञान मार्ग की प्रतिष्ठा की। नारायण व शिव के लिये भी अनेक भक्तिपूर्ण छन्द लिखे गये। इससे यह स्पष्ट है कि उन पर भी भक्ति का प्रभाव था।

वैष्णव धर्म में भक्ति के प्रवर्तक श्री रामानुजाचार्य माने जाते हैं। उत्तर भारत में धर्म क्षेत्र में भक्ति का बीज उन्हीं ने बोया। उनके कुछ ही समय पश्चात् आंध्र में निम्बार्क उत्पन्न हुये। भक्ति के इस क्षेत्र को उन्होंने और विस्तार दिया। बंग देश व उत्तर भारत में उनकी शिष्य मण्डली बढ़ गई।

इसके साथ ही मधुरा भक्ति का भी जन्म हुआ। रामानुजाचार्य के प्रायः दो सौ वर्ष के बाद माध्वाचार्य का जन्म हुआ। उन्होंने वैराग्य व नवधा भक्ति का प्रचार किया। उन्होंने विष्णु को परमात्मा मानकर उनके राम व कृष्ण अवतारों को उपास्य माना। उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति का पूर्ण रूप से प्रचार करने का श्रेय रामानन्द को है। उन्होंने भगवान् विष्णु को रामरूप की भक्ति का उपदेश दिया। रामानन्द ने यह भक्ति सामान्य जनों—स्त्री-शूद्र आदि के लिए भी सुलभ कर दी थी।

भक्ति के तृतीय व चतुर्थ उत्थान में परिवर्तन हुआ। वेद के गोपा व ब्रज शब्दों से लीला प्रारम्भ हो गई। लीला का आध्यात्मिक अर्थ चित्तरंजिनी वृत्ति है। यह वृत्ति ईश्वरोपासना के अर्थ में परिवर्तित हो जाता है। भगवान् मुरली बजाते हुए अपने मधुर हास से सबको मुग्ध कर देते हैं, भक्त भी इसी अवसर को चाहता है। श्रीमद्भागवत में यह लीला पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हुई। ब्रह्मवैवर्त में राधा भी कृष्ण के साथ मिल गई व राधा-कृष्ण राधामय हो गये प्रकृति व पुरुष का अलौकिक सम्मिलन हो गया। इसी गोपी वल्लभ की कहानी ने राधा-कृष्ण का चरित्र बनकर बाल-गोपाल की उपासना का रूप धारण किया। हम पहले संकेत कर आए हैं कि निम्बार्क ने मधुरा भक्ति का प्रचार किया। भागवत व ब्रह्मवैवर्त की उक्त भावना ने कृष्ण की मधुरा भक्ति के विकास में विशेष योग दिया। पन्द्रहवीं शताब्दी तक मधुरा भक्ति का इतना जोर हो गया कि श्रीमद्वल्लभाचार्य को इसके लिए शास्त्रीय व्यवस्था देनी पड़ी। इसके अनन्तर कुछ ही समय में समस्त उत्तर भारत कृष्ण की मधुरा भक्ति से प्लावित हो गया। उधर बंगाल में महाप्रभु चैतन्य ने कृष्ण की मधुरा भक्ति को दृढ़ किया। उन्होंने स्वयं को राधा रूप में मान कृष्ण की उपासना की, इधर, ब्रज में वल्लभाचार्य ने कृष्ण भक्ति को बढ़ावा दिया। उन्होंने कई बार भारत भ्रमण किया और इस भ्रमण में सहस्त्रों लोग कृष्ण भक्त हो गये। वल्लभाचार्य ने पुष्टि मत की स्थापना की जिसमें बाल-कृष्ण-की पूजा का विशेष महत्व है। कृष्ण के साथ ही राधा का वर्णन है। उसमें दीक्षित होने के बाद इसी भक्ति को कवि-कुल-शिरोमणि श्री सूरदास

ने आगे बढ़ाया। और इसके बाद भक्तजन भक्ति की उस सरिता में गोता लगाते अघाये नहीं।

संक्षेप में कृष्ण भक्ति के विकास की यही कहानी है।

प्रश्न ३३—"सूर की कल्पना उच्च कोटि की भाव-सृष्टि करने वाली है, एवं अलंकारों से सुसज्जित होकर वह और भी आकर्षक बन जाती है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—कविवर सूरदास जी की कल्पना शक्ति और अलङ्कार विधान उनके सरस हृदय, मर्मज्ञता तथा सौन्दर्यप्रियता का परिचायक है। भक्ति प्रकाशन में उनकी कल्पना को उतना विकसित होने का अवसर नहीं मिला— जितना कि वात्सल्य एवं शृंगार के वर्णन में। किन्तु फिर भी भक्ति में उसका सर्वथा अभाव भी नहीं है। अपनी इसी कल्पना के बल पर सूर ऐसे भाव-चित्र उपस्थित कर सके हैं जो साहित्य-संसार में सदा के लिये अमर रहेंगे। कृष्ण का पीताम्बर और राधा की नीली साड़ी तो सूर आँखों के सामने सदैव उपस्थित रहते हैं। राधा-कृष्ण के वस्त्रों के ये रंग उन दोनों के शारीरिक रंगों के विपर्यय ही हैं। इस पर सूर की कल्पना देखिए—

नीलाम्बर श्यामल तनु की छवि, तनु छवि पीत सुवास।
घन भीतर दामिनी प्रकाशत, दामिनी घन चहुँ पास॥

राधा की नीली साड़ी के अन्दर उनका गौर वर्ण शरीर और कृष्ण के श्यामल अङ्गों के ऊपर उनका पीताम्बर ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे बादल के भीतर बिजली चमक रही हो और बिजली के भीतर बादल। लुप्तोत्प्रेक्षा द्वारा कितना सुन्दर चित्रण हुआ है।

भ्रमरगीत का एक पद देखिए। कितनी चमत्कारपूर्ण कल्पना है उसमें—

पिया बिनु नागिन कारी रात।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात॥

नागिन का यह नियम है कि वह डस कर उलटी हो जाती है। उसका ऊपरी भाग काला एवं नीचे का श्वेत होता है। डसने के बाद वही श्वेत भाग प्रकट होता है। उक्त पद में भी कृष्ण-पक्ष की काली रात्रि का वर्णन है।

कृष्ण पक्ष की रात्रि अपने प्रथम भाग में अन्धकार से काली होती है। रात्रि में चन्द्रमा देर से उदित होता है। जब चन्द्रोदय होता है तो उसकी ज्योत्स्ना श्वेत होती है। अब वह उलटी अर्थात् सफेद हो जाती है। इसी दृश्य के आधार पर सूर ने कल्पना की कि वह विरहणी को खाकर उलट कर श्वेत हो जाती है। सूरदास की नेत्र सम्बन्धी एक कल्पना देखिये। इसमें उन्होंने लोचनों को भृङ्ग के रूप में चित्रित किया है—

लोचन भृङ्ग भये री मेरे।
लोकलाज बन धन बेलि तजि, आतुर ह्वै जु गड़े रे॥
स्याम रूप रस वारिज लोचन, तहाँ जाइ लुब्धे रे।
लपेटे लटकि पराग विलोकनि, सम्पुट लोभ परे रे॥
हंसनि प्रकास विभास देखि कै, निकसत पुनि तहँ बैठत।
सूरस्याम अंबुज कर चरननि तहँ-तहँ भ्रमि-भ्रमि पैठत॥

एक सखि कृष्ण की छवि पर मुग्ध है। वह अपनी सखी से कहती है—ऐ सखि! मेरे नेत्र तो भौंरे बन गए हैं। लोक-लाज रूपी बन की घनी बेलों को छोड़कर तथा व्यग्र होकर कृष्ण के रूप रूपी कमल में गढ़ गए हैं। पराग से युक्त कृष्ण के नेत्र कमलों पर मेरे नेत्र रूपी भ्रमर लुब्ध हो गए हैं, तथा लोभ-वश उसके सौन्दर्य कोष में दृष्टि सन गई है। हँसी रूपी सूर्य के प्रकाश को देख कर विकसित हुए कमल नेत्रों से निकल कर हमारे नेत्र-भ्रमर बार-बार उन पर बैठते हैं, तथा कृष्ण के हाथ और चरन रूपी कमलों पर घूम-घूम कर जा बैठते हैं। नेत्रों की इसमें अधिक उपमा और कौन दे सकेगा।

सूर की कल्पना कहीं भी भावुकता का अंचल छोड़कर नहीं बढ़ी। उनके काल्पनिक चित्र किसी न किसी भाव को व्यक्त करते ही हैं। कैसा ही प्रसंग क्यों न हो, सूर कल्पना के साथ उनका आन्तरिक तत्त्व अवश्य ही चित्रित करेंगे। गोपियों की आँखों से निकलते हुए आँसुओं के विषय में एक चित्र इस प्रकार का है—

मेरे नैना विरह की बेलि बई।
सींचत नैन नीर के सजनी मूर पताल गई॥

विकसित लता स्वभाइ आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारों सजनी, सब तन पसरि छई।।

(गोपी के) नेत्र से गिरते हुए आँसू विरह की लता को सींच रहे हैं। लता सिचने से फैलती है। यह विरह की बेल भी समस्त शरीर पर छा गई है। आह! अब उसे कैसे दूर किया जाय?

इस प्रकार नेत्रों पर सूर ने एक-से एक बढ़कर कल्पनायें की हैं। अब मुरली पर की गई कल्पना पर भी विचार कीजिए—

अधर रस मुरली सौतिन लागी।
जा रस की षट ऋतु तप कीन्हों सो रस पिवत सभागी।
कहाँ रही, कहँ ते यह आई, कौने याहि बुलाई।
सूरदास प्रभु हम पर ताकों कीनी सौति बनाई।।

मुरली क्या है? गोपिकाओं से स्पर्धा करने वाली, राधा की सपत्नी है। जो कृष्ण के अधर रस को पी रही है। बड़ी सौभाग्यशाली है यह!

मुरली सौत ही नहीं, धृष्ट, मानवती पत्नी भी है। इसने कृष्ण को मोहित ही नहीं किया, उनका सर्वस्व तक हरण कर लिया है, उन्हें नाना नाच नचा चुकी है। देखिये तो—

मुरली तउ गोपालहिं भावति।
सुनरी सखी! जदपि नंदनन्दहि नाना भाँति नचावति।।
राखति एक पाँइ ठाढ़ौ कर अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु कटि टेड़ी ह्वै आवति।।
अति अधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नारि नवावति।
आपुनि पौढ़ि अधर सेज्या पर कर-पल्लव-सन पद पलुटावति।।
भृकुटी कुटिल कोप नासा पुट हम पर कोपि कुपावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सुसीस डुलावति।।

मुरली कृष्ण को अपने अधीन करके कैसा नाच नचा रही है। जैसा कहती है, कृष्ण को वैसा ही करना पड़ता है। कृष्ण को एक पाँव पर खड़ा करके रखती है। मजाल क्या जो वे उसकी आज्ञा के बिना एक पग भी इधर

उधर हो जायें। कभी उनकी गर्दन झुका देती है, उसी की आज्ञा से कृष्ण की कमर भी टेढ़ी हो जाती है और देखिये वह कृष्ण के अधरों की शय्या बनाकर लेट गई और स्वयं उन्हें पैर दबाने की आज्ञा देने लगी, भगवान उस मानवती को मनाने के लिए चुपचाप उसके पैर दबाने लगे। यह है सच्ची कवि कल्पना! कवि ने किस तरह हार्दिक भावों को व्यंजित कराया है।

विरह-वर्णन में सूर ने बादलों पर कैसी सुन्दर और अलौकिक कल्पना की है। पद को पढ़ते ही गोपियों की करुणा साकार हो जाती है। देखिये—

> **देखियत चहुँ दिसि ते घन घोरे।**
> **मानो मत्त मदन के हथियन बल करि बन्धन तोरे॥**
> **स्याम सुभग तन चुअत गंड मद बरसत थोरे-थोरे।**
> **रुकत न पौन महावत हू पै मुरत न अंकुश मोरे।**
> **बल बेनी बल निकसि नयन जल कुच कंचुकि बँद बोरे।**
> **मनो निकसि बग पाँति दाँत उर अवधि सरोवर फोरे॥**

बादल क्या हैं, मानो कामदेव के मद-मस्त हाथियों ने बन्धन तोड़ दिये हों। धीमी बूँदों का पड़ना ऐसा है मानों उनके गण्डस्थल से मद चू रहा हो। पवन महावत उन्हें अंकुश मार रहा है फिर भी वे मुड़ते नहीं। मदमस्त हाथी महावत के मोड़ने से भी नहीं मुड़ता। आकाश में उड़ती हुई श्वेत बगुलों की पंक्ति मानो हाथियों के श्वेत दाँत हैं, उन्होंने कृष्ण के आने की अवधि रूपी सरोवर को फोड़ दिया है, आँखों से पानी जोरों से पड़ने लगा है जिसने कुच एवं कंचुकि आदि को डुबोकर पानी से तर कर दिया है। यहाँ बादल को हाथी का रूपक दिया है, हाथी काला होता है, बादल भी काले हैं। यह साँगरूपक का बहुत सुन्दर उदाहरण है।

नयनों के सम्बन्ध में हम दो पद पहले भी दे चुके हैं। अब वियोगिनी गोपियों के नयनों के वर्णन में कवि की कल्पना देखिये। इस वर्णन में कवि ने रूपक, उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक का अति सुन्दर वर्णन किया है—

> **सखि इन नैनन ते घन हारे।**
> **बिनु ही रितु बरसत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे॥**

ऊरध स्वाँस समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन-सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे।।
दुरि-दुरि बूँदि परत कंचुकि पर, मिलि काजर सौं कारे।
मानों परन कुटी सिव कीन्हीं, बिन मूरति धरि न्यारे।।
सुमिरि सुमिरि गरजत जल छाँड़त, अश्रु सलिल के धारे।
बूढ़त ब्रजहिं सूर को राखै बिन गिरवर-धर प्यारे।।

आँखों से बादल भी हार गये हैं, क्योंकि बादल तो वर्षा ऋतु में ही बरसते हैं, ये बिना ऋतु के ही बरस रहे हैं। इनके बरसने से आँखों की पुतलियाँ भी मैली पड़ गई हैं। दुख रूपी बरसात के कारण बचन-खग मुख-रूपी घर में घुस गये हैं अर्थात् दुख के कारण मुख से बचन नहीं निकलते। आँसुओं की धार में सारा ब्रज डूब रहा है। कृष्ण के अतिरिक्त कौन अब इसका रखवाल है। कितनी मनोहर कल्पना है।

सूर ने अनेक साँगरूपक बाँधे हैं और अपनी कल्पना के बल पर उनका पूर्ण निर्वाह किया है। वंशी को रण-विजयी राजा का रूप देकर उन्होंने युद्ध-विजय के पश्चात् जो दृश्य होता है, उसका वर्णन किया है। देखिए—

वंशी बन राज आज आई रण जीति।
मेटति है अपने बल सबहिन की रीति।।
बिडरे गज यूथ शील, सैन लाज भाजी।
घूँघट पर कवच कहो छटे मान ताजी।।
कोऊ पद परसि गये अपने अपने देस।
कोऊ भागि रङ्क भये हुते जे नरेस।।
देत मदन मारुत मिलि दसौदिसि दुहाई।
सूर स्याम श्री गोपाल बंशी बस माई।।

विनय के पद में साँगरूपक का एक उदाहरण देखिए—

अब नाच्यौ हौं बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल।।
महामोह को नूपुर बाजत निन्दा सबद रसाल।
भरम भर्‌यो मन भयौ पखावज चलत कुसंगत चाल।

तृष्णा नाद करत घट भीतर नाना विधि दै ताल ।
माया को कटि-फेंटा बाँध्यो लोभ तिलक दियौ भाल ।।
कोटिक कला काछि दिखराई जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नन्दलाल ।।

इस पद में सूरदास ने नट का रूपक बाँधा है, जो नृत्य करने के समय ऊपर से चोली पहन लेता है और माला भी पहन लेता है। उसके पैरों के नूपुर भी मधुर आवाज से बजते हैं, वह कमर में फेंटा बाँधता है एवं मस्तक पर तिलक लगा लेता है। यहाँ भी बिल्कुल वैसा ही है। काम क्रोध का चोला है, विषयों की माला है। महामोह रूपी नूपुर हैं, उनमें से निन्दा रूपी रसीला शब्द निकल रहा है। भ्रम में भरा मन पखावज है। तृष्णा अन्दर से अनेक प्रकार से ताल दे रही है। कमर में माया रूपी फेंटा है और लोभ का तिलक माथे पर लगा है। इस प्रकार पूरा नट बनकर करोड़ों कलाओं को दिखला रहा है।

सूर ने कृष्ण-जन्म की घटना की असीम शोभा का सिन्धु के रूपक द्वारा अनुरंजित वर्णन किया है, उसका भी एक चित्र देखिए—

सोभा सिंधु न अन्त रही री ।
नन्द-भवन भरिपूरि उमग चलि, ब्रज की बीथिनी फिरति बही री ।।
देखौ जाय आज गोकल में, घर-घर बेचति फिरति दही री ।
कहँ लगि कहौं बनाइ बहुत विधि, कहत न मुख सहसहुँ निबही री ।।
जसुमति उदर-उदधि तें उपजी, ऐसी सबनि कही री ।
सूर स्याम प्रभु इन्द्र नील मनि, ब्रज बनिता उर लाइ गही री ।।

उक्त विवेचन से कवि की उर्वर कल्पना-शक्ति, सौन्दर्य-प्रियता, सूक्ष्म-निरीक्षण-शक्ति, चित्रोपमता, वाग्वैदग्ध्य और असाधारण प्रतिभा का परिचय मिलता है।

इस प्रकार सूर की कल्पना अलंकारों का प्रयोग करती हुई किसी न किसी भाव अथवा चेष्टा का निर्माण करती है, कहीं-कहीं तो वह मुक्त रूप में भी भावों का अभिव्यंजन कराती है। इन्हीं के बल पर तो सूर को "सूर" कहा गया है। वास्तव में इस पक्ष में सूर अपना कोई भी सानी नहीं रखते।

प्रश्न ३४—सूरसागर के पदों को आप किन प्रमुख शीर्षकों से वर्गीकृत करेंगे ? काव्य की दृष्टि में आप किसे श्रेष्ठ समझते हैं और क्यों ?

उत्तर—सूरसागर के पदों को हम निम्नलिखित प्रमुख शीर्षकों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) विनय के पद, (ख) चौबीस अवतारों से सम्बद्ध पद, (ग) रामलीला के पद, (घ) मथुरा गमन से पूर्व कृष्णलीला सम्बन्धी पद (बाललीला, गोपी-कृष्णलीला आदि के पद), (ङ) भ्रमरगीत व द्वारिका गमन, (च) दृष्टकूट, (छ) विविध ।

(क) **विनय सम्बन्धी पद**—इसमें प्रथम स्कन्ध में आये भक्तवत्सलता, भक्त-महिमा, माया, अविद्या, विनती आदि के पद एवं अन्यत्र आये हुये विनय के पद लिये जा सकते हैं । विनय में भक्ति की सातों भूमिकाएँ हैं । सूर के ये पद बड़े ही सारगर्भित हैं ।

(ख) **चौबीस अवतारों से सम्बन्धित पद**—इसमें द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ट, सप्तम, अष्ट, एकादश तथा द्वादश स्कन्धों के पद आयेंगे । इनमें सृष्टि की उत्पत्ति, मनुष्यों की उत्पत्ति, पृथु अवतार, ध्रुवकथा, जड़ भरत की कथा, वृत्रासुर वध, कूर्म, बामन, मत्स्य, नारायण, हंस, बौद्ध एवं कल्कि अवतारों की कथाएँ हैं ।

(ग) **रामलीला सम्बन्धी पद**—इसमें सूरसागर के नवम स्कन्ध के कुछ पद हैं जिनमें सूक्ष्म रूप में रामलीला का वर्णन है । भागवत की अपेक्षा सूरसागर में रामावतार की कथा विस्तार से कही गई है ।

(घ) **मथुरा गमन से पूर्व कृष्णलीला सम्बन्धी पद**—इन पदों को दो भागों में बाँट सकते हैं—बाललीला और गोपी-कृष्णलीला । बाललीला में कृष्ण का जन्म, मथुरा से गोकुल आना, छठी, पूतना वध, बाल-वर्णन, माखन-चोरी, गोदोहन आदि होंगे । गोपी-कृष्णलीला में राधा कृष्ण क्रीड़ा, दान लीला, रास-लीला, पनघट लीला, होरी लीला आदि के पद हैं ।

(ङ) **भ्रमरगीत व द्वारिका गमन सम्बन्धी पद**—इन पदों में कृष्ण के

गोकुल से मथुरा चले जाने के बाद कंस आदि को मारना, उग्रसेन का पुनः राज्यारूढ़ होना, देवकी-वसुदेव के दर्शन करना, कुब्जा के घर जाना, गोपियों का विरह और भ्रमरगीत, द्वारिका गमन, जरासंध युद्ध, रुक्मिणी हरण, सुदामा दारिद्रयमोचन आदि की कथायें हैं।

(च) **दृष्टकूट**—इन पदों में काव्य का चमत्कार दिखाना या गोप्य वस्तु को चतुरता से प्रकट करना ही सम्भवतः सूर का अभिप्राय है। इनमें कहीं-कहीं नख-शिख वर्णन भी मिल जाता है। "अद्भुत एक अनूपम बाग, जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग।" आदि इसके उदाहरण हैं।

(छ) **विविध**—इस भाग में उनके सिद्धान्तों सम्बन्धी पद आयेंगे, जिनमें उन्होंने ईश्वर के रूप का वर्णन किया है, या अन्य सिद्धान्त, जैसे रास को उन्होंने गांधर्व-विवाह बताया है।

इन सब में काव्यकला की दृष्टि से हम जितना श्रेष्ठ मथुरागमन से पूर्व व भ्रमरगीत के पदों को कहेंगे उतना अन्य को नहीं। यद्यपि विनय के पदों में भी काव्यमयता है, किन्तु जो आनन्द वात्सल्य एवं शृंगार (संयोग एवं वियोग) के वर्णन में है वह अन्यत्र कहाँ ? सूर की समस्त काव्य कला मानों वहीं एकत्र होकर आ गई हो।

कृष्ण के बाल-वर्णन को पढ़ कौन होगा जो सूर को अन्धा कहेगा एवं दाँतों तले अँगुली न दबा लेगा। इसी प्रकार भ्रमरगीत में विरह में रोती हुई गोपियों को देख कौन हृदय ऐसा होगा जिसके नेत्रों में आनन्दाश्रु न उमड़ आयेंगे। तभी तो कहा है—

"सूर कवित्त सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करे।"

प्रश्न ३५—क्या सूरसागर में रहस्यवाद है ? सप्रमाण उत्तर दीजिये।

उत्तर—रहस्यवाद निराकार ईश्वर का उद्घाटन करने की प्रवृत्ति का नाम है, क्योंकि जब उसका कोई आकार ही नहीं, वह अनन्त एवं अज्ञेय है तो उसका अनुभव तो किसी प्रकार होना ही चाहिए। अतः काव्य क्षेत्र में ईश्वर की उसी रहस्यात्मकता (गुप्तता) को प्रकट करने की भावना रहस्यवाद कहलाती है। किन्तु ईश्वर को जब हम साकार मान लेते हैं तो वहाँ रहस्य कुछ

रह ही नहीं जाता, सब साक्षात हो जाता है। अतः सगुण भक्ति के कवियों में रहस्यवाद ढूँढ़ना व्यर्थ ही है। सूर के सम्बन्ध में भी यही बात है। इतना होते हुए भी सूरसागर में कुछ पद ऐसे हैं जिनमें हमें रहस्यवाद की झलक मिल जाती है। सूर के इस रहस्यवाद को हम 'सगुण रहस्यवाद' कहेंगे। वास्तव में रहस्यवाद भक्त की आत्मा की ऊँची उड़ान है जिससे वह परमात्मा की ओर अग्रसर होकर उसके अत्यन्त सन्निकट पहुँच जाता है।

वैसे तो भगवान् की समस्त लीला ही रहस्यात्मक है। एक आश्चर्य है, एवं जिस भगवत् अनुग्रह से यह आश्चर्य सत्य हो जाता है वह भी रहस्यमय ही है। इसीलिए सूर ने अपने कई पदों में भगवान की लीला के प्रति आश्चर्य व्यक्त किया है। देखिए—

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगेहि मीठे फल को रस अन्तर्गत ही भावै।
परम स्वादु सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै॥
मन वाणी को अगम अगोचर जो जाने सो पावै।
रूप, रेख, गुन, जाति जुगति बिनु..............॥

कवि ने कृष्ण की आनन्द लीलाओं में रहस्यात्मक संकेत दिए हैं। काली कमरी का रहस्य स्वयं श्रीकृष्ण दान-लीला में बताते हैं—

यह कमरी कमरी करि जाननि।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति॥
या कमरी के एक रोम पर वारों चीर नील पाटम्बर।
सो कमरी तुम निन्दति गोपी जो तीन लोक आडम्बर॥
कमरी के बल असुर संहारे कमरिहि तें सब भोग।
जाति-पाँति कमरी सब मेरी 'सूर' सबहि यह जोग॥

वह कमरी कृष्ण की रहस्यमयी योगमाया है जिसे हम अपनी बुद्धि से विभिन्न रूपों में समझते हैं।

श्रीकृष्ण और राधा के मिलन-सुख और गोपियों के संयोग-वर्णन से सूर ने प्रायः इस प्रकार के आध्यात्मिक संकेत दिये हैं, जिनसे उनकी पार्थिवता एवं

ऐन्द्रियता अपार्थिवता एवं अतीन्द्रियता में बदल जाती हैं। गोपी जब कहती हैं—

का यह 'सूर' अजिर अवनी तनु तजि अगास पिय भवन समै हो।
का यह ब्रजबासी क्रीड़ा जल, भजि नन्द नन्द सबै सुख लैहौ॥

तब उसके प्रेम का लौकिक रूप स्पष्ट आभासित होता है। राधा और कृष्ण के प्रेम को तो कवि ने चिरंतन एवं पुरातन प्रेम कहा है—

प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूलि गई।
को माता को पिता बन्धु को वह तो भेंट नई॥

सूर की सबसे अधिक रहस्यात्मक उक्तियाँ मुरली के सम्बन्ध में हैं। मुरली का नन्द लोक-लोकान्तर व्यापी है, उसका आदि-अन्त नहीं। वास्तव में मुरली 'शब्द ब्रह्म' का एक रूप है जो कानों के माध्यम से लोकातीत रहस्य की अनुभूति का संकेत करता है। वंशी की ध्वनि सुनते ही समस्त ब्रह्मांड आनन्द-मग्न हो जाता है—

बाँसुरी बजाई आछे रंगते मुरारी।
सुनि के धुनि छूट गई शङ्कर की तारी॥
वेद पढ़त भूल गये ब्रह्म ब्रह्मचारी।
रसना सुनि कहि न सकै ऐसी सुधि बिसारी।
इन्द्र सभा थकित भई लगी जब करारी॥
रम्भा को मान मिट्यो नृतकारी॥
जमुनाजू चकित भई नहिं सुधि संभारी।
'सूरदास' मुरली है तीन लोक प्यारी॥

मुरली नाद का प्रभाव लोकातीत है। नारायण भी उसे सुन ललचाने लगते हैं। रास का सर्वोत्तम आनन्द तो उसी में केन्द्रीभूत है। वह कण-कण को स्पन्दित कर सकती है। इसी प्रकार सूर की वृन्दावन सम्बन्धी कल्पना भी अद्‌भुत और विस्मयजनक है। वह श्रीकृष्ण के परमानन्द रूप का रूपकमय वर्णन है।

परन्तु हमारा संकेत तो यहाँ उन पदों की ओर है जिसमें भक्त की आत्मा भगवान् के वियोग से दुःखित होकर एक अलौकिक एवं अकल्पित लोक का

निर्माण करती है। निर्गुणी रहस्यवादी मूर्त चित्रों की उपेक्षा करते हैं परन्तु भक्त सूरदास के रहस्यावादी पदों में भी मूर्त चित्र स्पष्ट रूप से चित्रित हुए हैं। सन्तों के रहस्यवाद की तरह इनका रहस्यवाद एकदम मूर्त का तिरस्कार नहीं कर देता। अतः ऐसे रहस्यवाद का नाम विद्वानों ने 'सगुण रहस्यवाद ही रखा है।

"सगुण रहस्यवाद" के पदों में सूरदास ने अन्योक्ति पद्धति का प्रयोग किया है एवं रूपकों के आश्रय से नकारात्मक चित्रों को स्पष्ट करने का यत्न किया है। सूर एक आदर्शमय लोक की कल्पना करते हुए लिखते हैं—

चकई री ? चलि चरन सरोवर जहाँ न मिलन वियोग।
निसि दिन राम नाम की वर्षा, भय रुज नहिं दुःख सोग।
जहाँ सनक से मीन, हंस शिव, मुनिजन-रन-रवि-प्रभा-प्रकाश।
प्रफुल्लित कमल निमिष नहिं ससि डर गूंजत निगम सुवास।
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ता फल सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम ! इहाँ कहा रहि कीजै॥

इस पद में आत्मा को चकई और विहंगम नाम से पुकारा गया है, तथा इसमें परोक्ष संसार की धुँधली सी आभा दिखाई है। अन्य स्थानों पर सूर ने आत्मा को सखी, भृंगी एवं सुवे के रूप में सम्बोधित किया है। एक अन्य पद देखिये—

भृङ्गी री ! भज चरण कमल पद जहँ नहिं निसि को त्रास।
जहाँ विधि भानु समान प्रभा नख सों वारिज सुख रास॥
जिहिं किंजल्क भक्ति नव लक्षण याम ज्ञान रस एक।
निगम सबक सुक नारद शारद मुनिगन भृङ्ग अनेक॥
शिव विरंचि खंजन मन रंजन छिन-छिन करत प्रवेश।
अखिल कोस तहाँ बसत सुकृत जन प्रकटत स्याम दिनेश॥
सुनु मधुकरी भरम तजि निर्भय राजिव रवि की आस।
सूरज प्रेम सिन्धु में प्रफुलित तृप्त चलि करें निवास॥

उक्त दोनों पदों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सूर ने भावुक कवि-हृदय होने के नाते सगुण रहस्यवाद की सृष्टि की है। इसके साथ ही चकई,

भृंगी आदि विभिन्न वस्तुओं को एक ही वस्तु (आत्मा) का प्रतीक मानने से विनय की अलौकिकता भी स्पष्ट हो गई है।

अतः हम कह सकते हैं कि यद्यपि सूर ने रहस्यवाद के लिए रहस्यवाद को नहीं अपनाया, फिर भी उनके वियोगी हृदय से कुछ वेदनाएँ इस रूप में प्रकट हुई हैं जिसमें रहस्यात्मकता का आभास आ गया है। इस रहस्यवाद को हम शुद्ध रहस्यवाद न कहकर 'सगुण रहस्यवाद' ही कहेंगे।

प्रश्न ३६—"सूरदास एक कुशल कवि होने के साथ-साथ अद्भुत संगीतज्ञ भी थे।" सूर-काव्य के आधार पर विवेचन कीजिए।

उत्तर—आचार्य प्रपन्नाचार्य के शब्दों में—"सूरदास भक्ति की पुण्य भूमि पर संगीत की दिव्य साधना कर रहे थे—इस प्रकार उन्होंने अपना अस्तित्व हरि-गुण-गान में लीन कर दिया था। **'सोई रसना जौ हरि गुण गावै।'** के विश्वासी इस दिव्य कवि और संगीतज्ञ के लिए **'सौ बातन की एक बात'** यही थी कि सूरदास ने अपने पदों के द्वारा **'हरि-हरि-हरि सुमिरन करौ'** के आधार पर सगुण लीला के पदों का गायन किया और इस काव्यमय संगीत को हरि चरनारविन्द में अर्पित कर शास्त्रीय-संगीत को दिव्य रूप प्रदान किया।"

संगीत-मर्मज्ञ आचार्य प्रपन्नाचार्य का उपर्युक्त मन्तव्य सूर को एक उच्च कोटि का संगीतज्ञ सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। वस्तुतः आलोचकों ने अभी तक सूर के इस गुण पर बहुत कम प्रकाश डाला है। सूर एक उच्च कोटि के गायक थे, इसका सबसे पहला प्रमाण यह मिलता है कि पुष्टिमार्ग के प्रतिष्ठापक आचार्य वल्लभ ने उनके विनय के पद सुन, उनके गायन पर रीझकर उन्हें श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन-मण्डली का अध्यक्ष नियुक्त किया था। और सूर जीवन के अन्तिम क्षणों तक इसी पद पर आसीन रहे थे।

संगीत-शास्त्र के मर्मज्ञ सूर :

उपर्युक्त घटना से यह तो प्रमाणित हो जाता है कि सूर बहुत अच्छे गायक थे परन्तु यह प्रमाणित नहीं हो पाता कि उन्हें संगीत-शास्त्र में भी दक्षता प्राप्त थी। परन्तु जब हम सूर-काव्य का अध्ययन करते हैं तो हमें इस बात का भी प्रमाण मिल जाता है कि शास्त्रीय-संगीत के क्षेत्र में सूर की गहरी पैठ थी।

सूर का युग संगीत-कला की उन्नति का चरम युग था। यदि उस युग को संगीत का 'स्वर्ण-युग' कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। उस युग में स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजू बावरा, बाबा रामदास जैसे प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुए थे। स्वामी हरिदास ब्रजवासी थे और उस युग में उन्होंने अनेक प्रसिद्ध संगीतज्ञों को संगीत की शिक्षा दी थी। सम्भव है सूरदास पर भी उनका प्रभाव पड़ा हो। सूर-काव्य का अध्ययन करने से यह सिद्ध हो जाता है कि वह संगीत कला में पारंगत थे। उन्हें शास्त्रीय-संगीत का अच्छा ज्ञान था। उनका प्रत्येक पद किसी-न-किसी राग या रागिनी में बँधा हुआ है। यहाँ तक कि उनके दोहे और कवित्त भी राग-रागनियों में बँधे हुए हैं। संगीत के तीन पक्ष माने गए हैं—गीत, वाद्य तथा नृत्य। सूर ने संगीत के इन तीनों पक्षों का अपने काव्य में समावेश किया है। इस सम्बन्ध में सूर का एक पद दृष्टव्य है—

"नन्दनन्दन सुघराई मोहन बंसी बजाई।
स रि ग मा प ध नी सा में सप्त सुरनि गाई॥
अतीत अनागत संगीत विच तान मिलाई।
सुर ताल नृत्य ध्याई पुनि मृदङ्ग बजाई॥"

इसमें मुरली-वादन के साथ राग की प्रस्तावना, तदनन्तर स्वरों का आन्दोलन राग का रूप, फिर ताल-स्वर के साथ नृत्य और मृदङ्ग-वादन की योजना है।

विभिन्न राग-रागनियों का ज्ञान :

सूर संगीत-शास्त्र में मान्य छः राग तथा छत्तीस रागनियों के स्वरूप से पूर्णतः परिचित थे। सूर के निम्नांकित पद में छत्तीस रागनियों के नामों का उल्लेख हुआ है—

"ललिता ललित बजाय रिझावत मधुर बीन कर लीने।
ज्ञान प्रभात राग पंचम षट मालकोस रस भीने॥
सूर हिंडोल मेघ मालव पुनि सारंग सुर नट जान।
सूर सावन्त भूपाली ईमन करत कान्हरो गान॥

ऊँछ अड़ाने के सुर सुवियत निपट नायकी लीन।
करत बिहार, मधुर केदारो, सकल सुरत सुख दीन॥
सोरठ गौंड-मलार सोहावन भैरव ललित बजायो।
मधुर विभास सुनत बेलाबल दम्पति अति सुख पायो॥
देवगिरि देशाक देव पुनि गौरी श्री सुखरास।
जैतश्री और पूर्वी तोड़ी आसावरि सुख-रास॥
रामकली गुनकली केतकी सुर सुघराई गाए।
जै जैवन्ती जगत मोहनी सुर सौं बीन बजाए॥

उपर्युक्त पद में रेखांकित शब्द विभिन्न रागनियों के नाम हैं। परन्तु रागनियों के नाम याद कर लेने से ही किसी को कुशल संगीतज्ञ नहीं मान लिया जा सकता। संगीत-शास्त्र के विद्यार्थियों को ये नाम याद रहते हैं। देखना यह है कि सूर ने इन रागनियों के अनुसार अपने काव्य की रचना की है अथवा नहीं। पुष्टिमार्ग के अनुसार भगवान कृष्ण की दैनन्दिन लीलाओं का कीर्त्तन किया जाता है। सूर श्रीनाथ जी के मन्दिर की कीर्त्तन-मण्डली के अध्यक्ष थे। उनका काम ही भगवान की दैनन्दिन लीलाओं का गान करना था। सूर के 'सूरसागर' के प्रत्येक पद का शीर्षक किसी-न-किसी राग या रागनी पर आधारित है। श्रीनाथ जी के मन्दिर की कीर्त्तन-पुस्तक में भगवान की दैनन्दिन लीलाओं का वर्णन रागनियों के आधार पर ही किया गया मिलता है। भगवान की दैनन्दिन लीलाओं का समय और भाव निश्चित है। सूर ने इन लीलाओं के समय और भाव के अनुसार ही पदों को रागनियों में विभक्त किया है। संगीत-शास्त्र के ग्रन्थ 'संगीत रत्नाकर' में रागनियों का वर्गीकरण कर जिस रागनी को जिस समय गाने का विधान किया गया है, सूर ने अपने पद उसी समय-निर्धारण तथा भाव के अनुकूल ही उन्हीं रागनियों में बाँध दिए हैं। उदाहरण के लिए हम केवल एक ही 'समय' सम्बन्धी सूर के पदों का परिचय देंगे। 'सन्धार्ति' नामक एक 'समय' माना गया है जो रात्रि के दूसरे पहर अर्थात् ९ बजे से १२ बजे तक होता है। 'संगीत-

रत्नाकर' के अनुसार इस 'समय' में केदारा, कामोद, मल्हार, कान्हड़ा, बहार, दरबारी, अड़ानो, सूरत, भूपाली आदि राग-रागनियों के गाने का विधान है। और इस 'समय' में अनुराग के पद, संयोग-लीला, निकुञ्ज-लीला आदि के पद गाए जाते हैं। सूर के कीर्त न-सम्बन्धी पदों में हमें विषय और समय के अनुरूप ही राग-रागनियों का विधान मिलता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सूर को संगीत-शास्त्र का पूरा ज्ञान था और उनमें उन रागनियों को अपने पदों में पूर्णतः उतार देने की अद्‌भुत क्षमता भी थी।

सूर के प्रिय राग :

वैसे तो हमें सूर-काव्य में सम्पूर्ण राग-रागनियों के दर्शन मिल जाते हैं परन्तु सूर के सर्वाधिक प्रिय राग तीन ही रहे हैं—विलावल, सारंग और धनाश्री। इनमें से भी 'विलावल' उनका सर्वाधिक प्रिय राग रहा है। आचार्य प्रपन्नाचार्य के अनुसार 'सूरसागर' का आरम्भ विलावल से हुआ है और उसकी समाप्ति भी विलावल में ही हुई है। यहाँ तक कि उसके प्रत्येक स्कन्ध (केवल दशम् स्कन्ध के अतिरिक्त) का आरम्भ भी विलावल से ही हुआ था। पुष्टि सम्प्रदाय के अनुसार 'भैरवी' और 'वागेश्री' नामक रागों को गणिका माना गया है, इसलिए सूर ने भी इन दोनों रागों को अपने काव्य में कहीं भी स्थान नहीं दिया है।

वाद्यों सम्बन्धी सूर का ज्ञान :

प्रायः गायन और वादन का अभिन्न सम्बन्ध माना जाता है। वाद्यों के सहयोग से संगीत का प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। सूर-काव्य में हमें प्रायः विभिन्न प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मिल जाता है। इनमें से कुछ वाद्य ऐसे हैं जो सूर के युग में प्रचलित थे और आज नहीं बजाए जाते। कुछ वाद्य ऐसे हैं जो उस युग में भी बजाए जाते थे और आज भी बजाए जाते हैं। इन वाद्यों का उल्लेख कृष्ण-जन्मोत्सव, रास-लीला तथा होली से सम्बन्धित पदों में हुआ है क्योंकि यही अवसर हैं जब सामूहिक गान-नृत्य का आयोजन हुआ करता था। कुछ वाद्यों का उल्लेख दृष्टव्य है—

"ताल मुरज, रबाब, बीना किन्नरी रस सार।"
"झाँझ झालरी, किन्नरी रंग भीनी ग्वालिनि।"
"ताल मृदंग उपंग, चंग बीना, डफ राजै।"
"बाजत ताल पखावज-आवज ढोलक बीना झाँझ।"
"दुन्दुभी, डिमडिम झालरी बिच बिच मुरली बाजै।"

उपर्युक्त वाद्यों में स्वर-वाद्य और ताल-वाद्य दोनों ही प्रकार के वाद्य हैं।

सूर के संगीत-ज्ञान का एक और प्रमाण

सूर ने संगीत-शास्त्र के कठिन से कठिन रूपों को अपने पदों में बड़ी सफलता के साथ बाँधा है। इसका एक प्रमाण दृष्टव्य है। संगीत-शास्त्र में एक प्रकार के गीत होते हैं जिन्हें 'ध्रुवा' कहा जाता है। आगे चल कर ऐसे गीतों को 'ध्रुवपद' की संज्ञा प्रदान की गई। इन पदों में वाक्य, वर्ण (गान-क्रिया) अलंकार के यति, पाणि और लय ध्रुव रूप में परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। ऐसे पद बड़े लम्बे और बोझिल होते हैं। वस्तुतः इनकी रचना केवल गाने के लिए ही की जाती है, पढ़ने के लिए नहीं। इन्हें गाते समय बिना पुनः साँस लिए, एक ही साँस में बड़ी लम्बी स्वर-साधना करनी पड़ती है। और उस लम्बी स्वर-साधना के अनुकूल ही शब्द-योजना की जाती है जिन्हें लम्बी-लम्बी पंक्तियों में योजित किया जाता है। पढ़ते समय ये पद बड़े अटपटे से लगते हैं। परन्तु जब उन्हें किसी ध्रुवपद-गायक के मुख से सुना जाता है तब उनमें अद्भुत शक्ति, प्रवाह और नाद-सौन्दर्य उत्पन्न हो उठता है। प्राचार्य प्रपन्नाचार्य के अनुसार सूर के 'ध्रुवपद' इसके सम्पूर्ण शास्त्रीय-लक्षणों से युक्त हैं। सूर का एक 'ध्रुवपद' उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

**"बनी सहज यह लूट हरि केलि गोपिन के सुपने यह कृपा कमला ने पावै।
निगम निर्धार त्रिपुरारि हू बिचारि रह्यौ पचि रह्यौ सेष नहिं पार पावै॥"**

साहित्य-संगीत का अद्भुत समन्वय

सूर काव्य में हमें साहित्य और संगीत का अद्भुत समन्वय मिलता है। समस्त हिन्दी-साहित्य में सम्भवतः सूर ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने साहित्य और संगीत का इतने कौशल के साथ उतना सुन्दर और प्रभावशाली समन्वय किया हो। ललित-कलाओं में साहित्य और संगीत सर्वश्रेष्ठ ललित कलाएँ

मानी गई हैं। विद्वानों में यह विवाद प्रायः उठता रहा है कि इन दोनों में से किसे श्रेष्ठ समझा जाय क्योंकि प्रभाव की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से न्यून नहीं हैं। और जब इनको सर्वश्रेष्ठ कलाओं का समन्वय हो जाय तो उस सम्मिलित रूप के प्रभाव की कल्पना सहज ही की जा सकती है। इन दोनों कलाओं के सन्तुलित एवं कलात्मक योग ने ही सूर-काव्य को इतना अधिक प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी बना दिया है। काव्य और संगीत-शास्त्र के योग ने सूर-काव्य में एक अलौकिक दिव्य भाव की सृष्टि की है। आचार्य प्रपन्नाचार्य के अनुसार भगवान कृष्ण के मुरली-वादन और महाराजस के लिए साधारण गीतों की आवश्यकता नहीं थी। उस मनोरम भाव की पूर्णता तो सिद्ध संगीत ने द्वारा ही हो सकती थी। हमें सूर के इस कौशल का प्रमाण उनके उन पदों में प्रायः मिल जाता है जो गान-नृत्य से सम्बन्धित हैं। महारास से सम्बन्धित निम्नलिखित पद द्वारा सूर के संगीत-ज्ञान का पूर्ण प्रमाण मिल जाता है—

(ए, ए, ए, ए, ए, ए,) श्री नन्द नन्दन नयत सुधंग। (नचत सुधंग)
वृन्दावन जमुना तट, अमित मनमथ मद-बिमरदन।
सघन कुंजन मंजु अभिनव जलज सुन्दर अंग॥

(ए) तन दियत दामिनि द्युतिकारी सुख सुधाकर मान हारी।
भ्रकुटी कुटिल कटाच्छ-संजुत चपल नैन कुरंग॥

(ए) संग गोपिन बीच राजत, भूषन मनिमय किरन झलकत।
स्रवन कुंडल गंड मंडित, सुभग बसन सुरंग॥

(ए) कंठ-ताल अरु मंजीर, बंसी, मुरज, बीन, रबाब।
ढफ, आनक, महुबर, उपंग, झाँझ, किन्नरी, मुखचंग॥
तततादिक, द्रिमन द्रिम द्रिम मृदंग—
बाजत तेई ताथेई ता तत्ततादि दुरंग॥
सुर-गन विमनाति चढ़े ब्रह्मा, रुद्र, नारद, इन्द्र पुलकित।
सू जय, जय, जयति, जय, जय, जयति ललित त्रिभंग॥"

उपर्युक्त पद में आलाप, मृदंग के बोल, वाद्यों के नाम तथा नृत्य के टुकड़े अत्यन्त स्वाभाविक रूप में चित्रित किए गए हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि सूर-साहित्य के काव्य और संगीत का अद्‌भुत समन्वय सम्पन्न हुआ है। सूर की अत्यधिक लोक-प्रियता का यही रहस्य रहा है कि संगीतज्ञ उसमें संगीत-साधना का चरम रूप, विद्वान उसमें अद्‌भुत काव्य-सौन्दर्य तथा साधारण जन उसमें पूर्णतः तन्मय कर देने की विलक्षण शक्ति और प्रभाव पाते रहे हैं। संगीतज्ञ और साधारण-जन—दोनों ही समान रूप से सूर-काव्य को गुनगुनाते हुए अमित आनन्द-लाभ करते आए हैं।

प्रश्न ३७—सूर के अप्रस्तुत-विधान का विवेचन करते हुए सिद्ध कीजिए कि सूर ने इसका प्रयोग कर अपनी काव्य-शक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया है।

उत्तर—

अप्रस्तुत-विधान किसे कहते हैं :

उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि 'अप्रस्तुत-विधान' से विद्वानों का क्या तात्पर्य रहा है। कवि अपनी रचना में जीवन से सम्बन्धित किसी वस्तु या तथ्य का वर्णन करता है। इसे काव्य का विभाव पक्ष कहा जाता है। परन्तु जहाँ कवि जीवन से सम्बन्धित किसी वस्तु या तथ्य का वर्णन न कर अपनी कल्पना द्वारा नए-नए तथ्यों या वस्तुओं का वर्णन करता है, उसे अप्रस्तुत-विधान कहते हैं। जब हम किसी प्रस्तुत वस्तु या तथ्य को पूर्ण रूप का बोध करने में असमर्थ रहते हैं तब कवि उस प्रस्तुत के समानातर ही किसी अप्रस्तुत का चित्रण कर उस प्रस्तुत को अधिक स्पष्ट, प्रभाव-शाली बना देता है और ऐसा करके हमें उस प्रस्तुत के रहस्य या महत्व का बोध कराने में सहायक होता है। कवि करता यह है कि अपनी कल्पना द्वारा उस अप्रस्तुत द्वारा वर्णित प्रस्तुत के रूप, सौन्दर्य, आकार, व्यापार-क्रिया आदि का वैसा ही चित्र अंकित कर देता है जैसा उस प्रस्तुत का होता है। ऐसा करके कवि अपने पाठकों या श्रोताओं के हृदय में भी उस प्रस्तुत के प्रति वही गहन अनुभूति और भावोद्रेक उत्पन्न कर देता है जैसा कि उस प्रस्तुत के प्रति स्वयं उसके अपने हृदय में रहता है। यदि ऐसा करने में कवि सफल हो जाता है तो उसके अप्रस्तुत-विधान को सफल और कलात्मक माना जाना है। कवि का यह अप्रस्तुत-विधान सुन्दर वस्तु को तो सुन्दरतम बनाता ही है, कुरूप और कुत्सित को ही सुन्दर और आकर्षण बना देता है।

अप्रस्तुत-विधान के इसी महत्व को लक्ष्य कर 'काव्य-दर्पण' के रचयिता पंडित रामदहिन मिश्र ने इसके सम्बन्ध में लिखा है कि—"यह काव्य का प्राण है, कला का मूल है और कवियों की कसौटी है। यही काव्य में प्रभाव उत्पन्न करती है, प्रेषणीयता लाती है, भावों को विशद् बनाती है और रमणीयता को बर्द्धित करती है।"

अप्रस्तुत-विधान : अनेक अलंकारों का जनक :

अप्रस्तुत-विधान काव्य में प्रयुक्त अनेक अलंकारों का जनक माना जाता है। उपमा, सन्देह, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, रूपक आदि अलंकार इसी से अद्‌भूत हुए हैं। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के पारस्परिक सम्बन्धों के अनुसार ही अलंकार अपने रूप बदलते रहते हैं। अप्रस्तुत-विधान में प्रधानतः प्रस्तुत के रूप, गुण, क्रिया या प्रभाव का अंकन किया जाता है। डा० संसार चन्द्र के अनुसार—"उपमा में अप्रस्तुत प्रस्तुत के समकक्ष रहता है। उत्प्रेक्षा में प्रस्तुत पर अप्रस्तुत की कल्पना होने लगती है। अपन्हुति में प्रस्तुत का निषेध हो जाता है, रूपक में अप्रस्तुत प्रस्तुत को आक्रान्त कर लेता है तथा रूपकातिशयोक्ति अथवा अन्योक्ति में वह प्रस्तुत को आत्मसात् कर लेता है। यह आत्मसात्-करण की अवस्था ही अप्रस्तुत-विधान की चरम परिणति या परिनिष्ठा कहलाती है।" भाव यह है कि अनेक अलंकारों के सहयोग द्वारा कवि अप्रस्तुत-विधान के माध्यम से प्रस्तुत के प्रति अपनी अनुभूति या भालोद्रेक की सफल अभिव्यक्ति करता है और अपने पाठकों को उस प्रस्तुत का पूर्ण बिम्ब-ग्रहण करा देता है।

सूर का अप्रस्तुत-विधान :

सूर ने अपने काव्य में अपने आराध्य के विविध रूपों, भंगिमाओं तथा छात्राओं का अप्रस्तुत-विधान द्वारा साकार चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने में सूर विभिन्न अलंकारों की सहायता से, अपनी अद्‌भुत कल्पना द्वारा नए-नए उपमानों की सृष्टि कर अपने आराध्य के एक-एक अंग का वर्णन करते हैं। बाल-कृष्ण के क्रीड़ारत सुन्दर रूप का वर्णन करते हुए सूर ने अप्रस्तुत-विधान का यही चमत्कार दिखाया है—

"कहाँ लौं बरनौ सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक-आँगन में नैन निरखि छबि पाई॥

कुलही लसत सिर स्याम सुभग अति, बहुबिधि सुरंग बनाई।
मानहुँ नव-घन ऊपर राजत मघला धनुष चढ़ाई।।
अति सुदेश मृदु चिकुर हरत मन, मोहन-मुख बगराई।
मानहु प्रगट कंज पर मंजुल, अलि-अवली फिर आई।।
नील सेत अरु पीत लाल मनि, लटकन भाल लुनाई।
सनि, गुरु-असुर, देव-गुरु मिलि मनु भौम सहित समुदाई।।"

बाल-कृष्ण के उपर्युक्त रूप-वर्णन में सूर एक पंक्ति में कृष्ण के वस्त्रों, आभूषणों, केशराशि आदि का वर्णन करते हैं और दूसरी पंक्ति में 'मानहुँ' कह कर उनकी ऐसे उपमानों से तुलना करते हैं जो वहाँ प्रस्तुत नहीं हैं। जैसे, कृष्ण के मस्तक पर शोभित 'कुलही' को देख उन्हें उपमा सूझती है मानो नव-घन पर इन्द्र-धनुष सुशोभित हो रहा हो। कृष्ण के भाल पर नीले, श्वेत, पीले और लाल रत्नों का लटकन शोभायमान है। इन विभिन्न प्रकार के रत्नों के विभिन्न रंगों के लिए सूर विभिन्न वर्णों वाले नक्षत्रों—शनि, शुक्र, बृहस्पति को उपमान के रूप में ला प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत के सौंदर्य को अत्यधिक प्रभाव-शाली और अनुभूति पूर्ण बनाने के लिए जिन अप्रस्तुत उपमानों की योजना यहाँ सूर कर रहे हैं, यह प्रणाली ही अप्रस्तुत-योजना या अप्रस्तुत-विधान कहलाती है।

उपमान की हीन स्थिति का चित्रण :

उपर्युक्त सौन्दर्य-वर्णन में सूर ने ऐसे अप्रस्तुत उपमान जुटाए हैं जो स्वयं सुन्दर होने के कारण प्रस्तुत के रूप-सौन्दर्य को द्विगुणित कर देते हैं। परन्तु कहीं-कहीं सूर लोक-प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय की तुलना में हीन घोषित कर उपमेय के रूप-सौन्दर्य और उसके प्रभाव को चरम सीमा पर पहुँचा देते हैं। सूर ने कृष्ण के चंचल नेत्रों का वर्णन करते समय इसी पद्धति को अपनाया है—

"देखि री! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई नहिं पटतर एक सैन।।
राजिबदल, इन्द्रीवर, शतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं के बिगसत, ये बिगसत दिनराति।।

अरुन असति सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मतो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हो आय॥

उपर्युक्त पद में कवि व्यतिरेक, प्रतीप और उत्प्रेक्षा अलंकारों द्वारा कृष्ण के चंचल, सुन्दर नेत्रों की तुलना में अनेक प्रसिद्ध उपमानों को दीन सिद्ध कर देता है। नेत्रों की चंचलता की उपमा खंजन, मीन, मृग-शावक से दी जाती है परन्तु इन तीनों की चंचलता भी कृष्ण के नेत्रों की चंचलता के सम्मुख नहीं ठहर पाती। फिर कवि कमल की विभिन्न जातियों से कृष्ण के नेत्रों की तुलना कर उन्हें भी हीन प्रमाणित कर देता है। क्योंकि कमल प्रातः खिलते हैं और रात्रि को मुँद जाते हैं परन्तु कृष्ण के ये नेत्र तो रात-दिन खिलते रहते हैं। अतः कमलों से उनकी उपमा नहीं की जा सकती। इसके आगे कवि कृष्ण के नेत्रों के तीन रंगों—काला, सफेद और लाल के सम्बन्ध में कहता है मानों यमुना, गंगा और सरस्वती का संगम हो रहा हो। इस प्रकार कवि इस पद में प्रस्तुत नेत्रों की चंचलता, रूप और रंगों का चित्रण अप्रस्तुत खंजन, मीन, मृगशावत, कमल, गंगा-यमुना-सरस्वती द्वारा करता है। ऐसे अप्रस्तुत-विधान द्वारा कवि कृष्ण के नेत्रों के सौन्दर्य को चरम रूप प्रदान कर देता है।

रूपकातिशयोक्ति का चमत्कार :

राधा के नख-शिख का वर्णन करने में सूर ने रूपकातिशयोक्ति अलंकार के प्रयोग द्वारा अप्रस्तुत-विधान का कौशल दिखाया है। वह राधा के नख-शिख का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त तायर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तामर सुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग॥

इस पद में कवि राधा के सम्पूर्ण शरीर की एक बाग से उपमा दे रहा है जिसके विभिन्न प्रकार के पशु-पक्षी क्रीड़ा कर रहे हैं, पुष्प खिल रहे हैं। राधा के दोनों चरण दो कमलों के समान हैं, उन चरणों के ऊपर गज-गति के साथ

मन्द-मन्द चलती जंघाएँ और पुष्ट नितम्ब हैं। नितम्बों के ऊपर सिंह की कटि के समान राधा की क्षीण कटि। कटि के ऊपर सरोवर के समान गहरी नाभि है और नाभि के ऊपर गिरि के समान उन्नत पुष्ट कुच और उनके ऊपर खिले लाल कमलों के समान कुचाग्र हैं। कुचों के ऊपर कपोत की सी सुन्दर ग्रीवा है और उसके ऊपर अमृत-फल जैसा मुँह, उस पर पल्लव जैसे अधर, उस पर शुक जैसी नासिका, पिक जैसी मधुर वाणी, उसकी कस्तूरी जैसी गन्ध, खंजन जैसे चपल, सुन्दर नेत्र, धनुष जैसी वक्राकार भौंहें, अर्ध चन्द्र जैसा भाल, और उस भाल के ऊपर सिन्दूर रेखा से रंजित सर्प जैसी लम्बी, चिकनी, काली वेणी जो मानो मुँह में लाल मणि लिए बैठी हो।

इस प्रकार यहाँ कवि रूपक या रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से प्रस्तुत के लिए समान-धर्मा अप्रस्तुत उपमान जुटा देता है और उसके द्वारा राधा के रूप का ऐसा प्रभावशाली बिम्ब प्रस्तुत करता है जो अपने चमत्कार और अनुभूति की गहनता के कारण अप्रतिम बन जाता है। सूर ने ऐसे अप्रस्तुत-विधान का चमत्कार बार-बार विभिन्न अलंकारों के रूप में दिखाया है। यद्यपि सूर सारे उपमान लोक-प्रसिद्ध ही जुटाते हैं परन्तु उनकी योजना में एक ऐसी मौलिकता है जो हमें सहज ही अभिभूत कर लेती है।

दृष्टकूटों द्वारा अप्रस्तुत-विधान :

यदि कवि अपने सम्प्रदाय, साधना-पद्धति आदि की कुछ बातों को कहना तो चाहता है परन्तु इस तरह कहना चाहता है जिससे जन-साधारण तो उन्हें न समझ पाएँ परन्तु अधिकारी लोग समझ जायें, ऐसी स्थिति में कवि उन बातों को प्रतीकों के माध्यम से कहता है। कबीर आदि सन्त-कवियों ने ऐसी बातें उलटवाँसियों के माध्यम से कही हैं और सूर आदि भक्त-कवियों ने दृष्टकूट के माध्यम से। साधारणतः रति का वर्णन अश्लील माना जाता है। साधारण जनों पर उसका कलुषित प्रभाव पड़ता है। सूर ने यद्यपि राधा-कृष्ण की रति-क्रीड़ा का वर्णन खुले परन्तु संयत रूप में भी किया है परन्तु कहीं-कहीं उन्होंने दृष्टिकूटों की सहायता से भी यह वर्णन किया है। दृष्टिकूटों के माध्यम से कही गई बातों को अधिकारी विद्वान ही समझ पाते हैं, साधारण जन नहीं। सूर ने अपनी 'साहित्य-लहरी' में ऐसे दृष्टकूट पर्याप्त संख्या में लिखे हैं। इन

दृष्टकूटों में भी सूर ने अप्रस्तुत-विधान की ही योजना की है। राधा-कृष्ण की केलि-क्रीड़ा से सम्बन्धित ऐसा ही एक दृष्टकूट दृष्टव्य है—

"कनक-बेलि तमाल अरुझी सुभुज बंध अखोल।
भृंग-जूथ सुधा करनि मनु, सघन आवत जात॥
सुरसरी पर तरनि-तनया, उमंगि तट न समात।
कोकनद पर तरनि तांडव, मीन-खंजन संग।
कीर तिल जल सिखर मिलि जुग मनौं संगम रंग॥"

इन संभोग-वर्णनों के साथ ही सूर ने रति-क्रीड़ा के उपरान्त की स्थिति और नायक-नायिका के शरीर पर पड़े उस रति के चिन्हों का भी अप्रस्तुत-योजना द्वारा चित्रण किया है। जैसे—

"सोभित शिथिल बसन मन मोहन, सुखबत स्रम के पागे।
मानहुँ बुझी मदन की ज्वाला, बहुरि प्रजारन लागे॥"

ऐसे वर्णनों में सूर ने क्रिया-व्यापारों का ही अधिक वर्णन किया है।

स्वभाव और प्रेम-निरूपण :

सूर ने राधा, गोपियों, कृष्ण आदि स्वभाव और प्रेम-भावना का भी बड़ा मनोरम वर्णन किया है। 'भ्रमरगीत' प्रसंग में स्वभाव का भिन्न-भिन्न प्रकार से अप्रस्तुत उपमानों द्वारा बड़ा हृदयग्राही वर्णन किया गया है। यहाँ हमें इन वर्णनों में सूर के मनोवैज्ञानिक-ज्ञान तथा सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति का प्रमाण मिलता है। इस प्रकार उन्होंने प्रेम की तल्लीनता और व्यग्रता के चित्रण में ऐसी-ऐसी मनोरम, साधारण दैनिक जीवन से उपमाएँ जुटायी हैं जिन्हें देखकर हम आश्चर्य चकित तो नहीं होते परन्तु अनुभुति की समानता में डूब जाते हैं। गोपियों की उत्कट प्रेमाकुलता की उपमा उन्होंने मटकी से झलकते हुए छाछ से दी है।

प्रकृति का मानवीकरण :

सूर ने गोपियों तथा राधा की विरह जनित व्याकुलता को अभिव्यक्त करने के लिए प्रकृति का भावाक्षिप्त वर्णन किया है। उसे गोपियों के समान प्रकृति भी कृष्ण के विरह में व्याकुल दिखाई देती है। अप्रस्तुत विधान के इस

रूप को काव्य शास्त्र में 'समासोक्ति' कहा गया है। कृष्ण के विरह में ब्रज की सम्पूर्ण प्रकृति दग्ध हो रही। कृष्ण के विरह के कारण यमुना भी काली पड़ गई है। प्रकृति के इन भावाक्षिप्त चित्रों द्वारा सूर ने गोपियों तथा राधा की विरह-वेदना की तीव्रता व्यंजित करने के लिए जो अप्रस्तुत योजना की है वह अत्यन्त कलात्मक है। इन चित्रणों में गोपियाँ कहीं प्रकृति को अपने अनुकूल पातीं और कहीं उसे उनकी विरह-वेदना को और अधिक तीव्रता प्रदान करने वाले शत्रु के रूप में। कहीं घन, मयूर, चन्द्रिका उन्हें और अधिक दुखी करती हैं तथा कहीं चातक, दादुर आदि उनके साथ सहानुभुति प्रकट करते दिखाई पड़ते हैं। कहीं वे वर्षाकालीन बादलों में कृष्ण के रूप को देख और अधिक व्यस्थित हो उठती हैं।

'भ्रमरगीत' में अप्रस्तुत-विधान :

'भ्रमरगीत' में सूर ने अप्रस्तुत भ्रमर के माध्यम से प्रस्तुत कृष्ण और उद्धव को गोपियों के उपालम्भ का विषय बनाया है। डाक्टर संसार चन्द्र के शब्दों में—"सीधे ढंग से न कहकर अन्य ही प्रकार से—अप्रस्तुत-मुखेन —कही गई उक्ति द्वारा प्रसूत रमणीयता ही तो काव्य में प्राणाधान करती है। भावुकता जहाँ ऐसी उक्ति को हृदय की गहराई प्रदान करती है, वहाँ विद्रूप उसमें हास्य और चुभतापन ला देता है। सूर के भ्रमरगीत में हमें ये सभी बातें मिलती हैं, इसलिए कवि को अमर प्रतिष्ठा दिलाने में भ्रमरगीत का बड़ा हाथ है।

डाक्टर संसार चन्द्र ने सूर के अप्रस्तुत-विधान का विवेचन करते हुए अन्त मे कहा है—

"इस प्रकार सूरदास के अप्रस्तुत-विधान के मूल्ल में उनकी भाव-प्रवणता, उर्वर कल्पना-शक्ति, सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति, सौन्दर्य प्रियता एवं वाग्वैग्ध्य के दर्शन होते हैं।···पद-पद पर मिलने वाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान-बूझ कर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाए, केवल उपमाओं और रूपकों की छटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षण और व्यंजना का चमत्कार—यहाँ तक कि एक ही चीज, दो-दो चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है—फिर भी स्वाभाविक और

सहज प्रवाह कहीं भी आहत नहीं हुआ। महाकवि सूरदास के अप्रस्तुत-विधान की यही सबसे बड़ी निजी विशेषता है।"

प्रश्न ३८—सूर-काव्य के महत्व पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

उत्तर—

सूर-काव्य के महत्व स्थापन की आवश्यकता :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी-साहित्य में लोक-कल्याण की भावना का प्रबल-प्रत्यक्ष रूप देख उसे ही अपनी समीक्षा का मानदंड बना लिया था और तुलसी को एक प्रकार से हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित कर दिया था। समाज-कल्याण की भावना का प्रभाव देखकर ही उन्होंने रीतिकालीन-साहित्य को मूलरूप से तथा कृष्ण-भक्ति-साहित्य को गौरव रूप से सामाजिक-पतन का कारण मान प्रशंसा नहीं की थी। लोक-कल्याण की इस आधार-तुला को ही एकमात्र मानदंड मान शुक्ल जी के परवर्ती समीक्षकों ने हिन्दी-साहित्य का मूल्यांकन करने वाली जिस परम्परा को आगे बढ़ाया, उसमें निश्चित रूप से सन्तुलन का अभाव था। शुक्लजी ने कह दिया कि सूर-काव्य में जीवन के चित्रण का अभाव है, कवि की पहुँच जीवन के सभी अंगों तक होनी चाहिए, सूर ने जीवन के केवल एक अंग को अपनाया है, भगवान की शक्ति, शील और सौन्दर्य की विभूतियों में से सूर ने केवल सौन्दर्य की आराधना की है और वे शृंगार और वात्सल्य के चित्रण तक ही सीमित रहे हैं। शुक्ल जी के इस मन्तव्य को ही वेद वाक्य मान अनेक परवर्ती आलोचकों ने सूर को समाज से निर्लिप्त रहने वाल कवि घोषित कर दिया।

हम शुक्ल जी को इस युग का अत्यन्त महान, एकमात्र मौलिक और सर्वश्रेष्ठ विचारक मानते हैं। परन्तु लोक कल्याण के तुलसी द्वारा चित्रण को ही एकमात्र सत्य मान लेने के कारण उनके निष्कर्षों में एक प्रकार की हठपूर्ण एकांगिता और असन्तुलन आ गया था। यहाँ हमारा अभिप्राय सूर और तुलसी की तुलना करना नहीं है। दोनों ही हिन्दी के महान कवि और अमर गायक हैं। यहाँ हम सूर के प्रति किए गए अन्याय का ही निराकरण करना चाहते हैं। सूर पर जो एकांगिता का लांछन लगाया गया है वह कितना आधारहीन और निर्बल है, हमारा विवेचन यही सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा।

चित्रण की भिन्न पद्धतियाँ :

तुलसी और सूर की चित्रण पद्धतियाँ परस्पर भिन्न हैं। तुलसी प्रबन्ध काव्य की रचना करते समय केवल प्रत्यक्ष पद्धति को ही अपना सकते थे। वहाँ अप्रत्यक्ष पद्धति के लिए गुंजायश नहीं थी। दूसरे उनके सामने वर्णित युग की विभिन्न समस्याएँ थीं जिनके माध्यम से वह अपने आराध्य राम के महान रूप की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। इसी कारण उन्हें प्रत्यक्ष चित्रण पद्धति को अपनाना पड़ा था। इसके विपरीत सूर प्रबन्ध काव्य की रचना न कर मुक्तकों के रूप में अपने आराध्य की लीलाओं का गुणगान कर रहे थे। वहाँ समाज के विस्तृत रूप को प्रत्यक्ष रूप से चित्रित करने की गुंजायश नहीं थी। इसीलिए उन्होंने मुक्तक पदों में अपने आराध्य का वर्णन किया था। इसके लिए उन्हें चित्रण की अप्रत्यक्ष पद्धति अपनानी पड़ी थी। तुलसी जिन बातों को प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप में कह गए हैं, सूर ने वही बातें सांकेतिक रूप से कही हैं। राम के समान कृष्ण भी समाज के अंग हैं। इन दोनों के माध्यम से उनका समाज किसी न किसी रूप में साकार हो उठा है। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ तुलसी अधिक समाज-सापेक्ष रहे हैं वहाँ सूर ने अपने आराध्य के माध्यम से ही सब कुछ कह दिया है। ध्यान से देखने पर हमें सूर-काव्य में समाज का वही रूप मिल जाता है। जो तुलसी-साहित्य में मिलता है। सूर ने जो बातें प्रेम के माध्यम से कहीं हैं तुलसी उन्हीं बातों को प्रत्यक्ष प्रणाली द्वारा कह गए हैं। तुलसी में विस्तार और विवेचन अधिक है, सूर में सांकेतिकता और संक्षिप्तता की प्रधानता है।

प्रेम का रूप और परिणाम :

सूर के आराध्य प्रेम-स्वरूप हैं। तुलसी के आराध्य शक्ति, शील और सौन्दर्य के पुंज हैं। जहाँ तुलसी ने अपने आराध्य के इन तीनों गुणों को विस्तार दिया है, सूर प्रेम को ही केन्द्र मान उसी भावना के माध्यम से अपने आराध्य द्वारा वे सारे काल करा लेते हैं जो तुलसी के राम करते हैं। सूर के कृष्ण शैशव में बाल-क्रीड़ाएँ करते हैं, किशोर होने पर अनेक आततायियों का बध करते हैं और अन्त में कंस को मार मथुरा के राज्य को स्वयं न लेकर अपने

नाना उग्रसेन को दे देते हैं। क्या कृष्ण का यह रूप उनमें शक्ति और शील का समावेश नहीं करता? इन्द्र तथा अन्य राक्षसों द्वारा ब्रजवासियों की रक्षा कर क्या कृष्ण लोक-कल्याण के कार्य नहीं करते? अनेक प्रचलित कुरीतियों को निर्मूल कर क्या वह समाज को आगे बढ़ाने में योग नहीं देते?

परन्तु ये सारी बातें गौण हैं। यह तो ब्रह्म स्वरूप कृष्ण अनायास ही कर लेते हैं। सूर ने कृष्ण के इन गुणों पर अधिक बल न देकर मानव-कल्याण के मूल-साधन—प्रेम को ही सर्वोपरि महत्व दिया है।

प्रेम: मानव-कल्याण का सर्वाधिक सशक्त साधन :

सूर के कृष्ण प्रेम की साकार मूर्ति हैं। प्रेम-भावना मानव की शाश्वत भावना है। प्रेम से लबालब हृदय कभी किसी का अनिष्ट नहीं कर सकता। प्रेम मानव की सहज वृत्तियों को उदात्त बनाता है। और जिस व्यक्ति का हृदय उदात्त होता है वह कभी भी किसी का अकल्याण नहीं कर सकता। क्या कृष्ण के प्रेममय रूप में हमें जीवन का यह महान सन्देश नहीं मिलता। प्रेमी व्यक्ति अपने प्रेमास्पद के प्रति एकनिष्ठ रहते हुए सदैव कर्त्तव्य-निष्ठ बना रहता है। कृष्ण को ब्रज प्यारा है, गोपियाँ और राधा प्यारी हैं, नन्द-यशोदा प्यारे हैं। प्रेम की इस अक्षय-विधि को अपने हृदय में समेटे कृष्ण निरन्तर लोक-कल्याण के कार्यों में निरत रहते हैं। मथुरा पहुँच कर भी वह ब्रज को नहीं भूल पाते। ब्रज में पाए प्रेम की गहनता और तन्मयता उन्हें सदैव ब्रज लौटने के लिए व्याकुल बनाए रखती है परन्तु कृष्ण वहाँ लौट नहीं पाते। क्योंकि उसके सामने समाज का सार्वभौम कल्याण करने की समस्या है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि सूर ने कृष्ण के इस लोकोपकारी रूप को अधिक महत्व और विस्तार क्यों नहीं दिया? इसका स्वाभाविक उत्तर यह है कि प्रेम के प्रभाव ने उन्हें 'स्व' की संकुचित सीमा से बाहर निकाल कर विश्व-कल्याण के विस्तृत क्षेत्र में ला खड़ा किया था जो अक्षय प्रेम की एकमात्र परिणति होती है। इसी कारण कृष्ण उस गहन प्रेम-वेदना को अहर्निशि अपने हृदय में छिपाए लोक-कल्याण के लिए स्वयं को पूरी तरह से समर्पित कर देते हैं। सूर इसी कारण कृष्ण का वर्णन करते समय एकमात्र प्रेम-भावना पर ही

अपना सारा ध्यान केन्द्रित रखते हैं । वह जानते हैं कि प्रेम की एकनिष्ठता व्यक्ति को लोक-कल्याण के लिए स्वतः ही प्रेरित कर देगी । यही सूर और तुलसी की चित्रण-पद्धति का मूलभूत अन्तर है तुलसी जिस लोक-कल्याण को राम द्वारा विस्तार देते हैं और अपना सारा ध्यान उसी पर केन्द्रित कर देते हैं, सूर उसी लोक-कल्याण को प्रेम की स्वाभाविक परिणति मान सहज और साधारण रूप से करा देते हैं । वह कृष्ण द्वारा किए गए लोक-कल्याण के कार्यों के लिए कृष्ण को न तो अधिक महत्व ही देते हैं और न उनके लिए उनकी अत्यधिक प्रशंसा ही करते हैं । वह जानते हैं कि यह लोक-कल्याण तो प्रेम की स्वाभाविक भरम परिणित है, फिर इसकी इतनी प्रशंसा क्यों की जाय ।

प्रवृत्तिमार्ग के दृढ़ समर्थक :

सूर-काव्य के समाज-सापेक्ष होने का एक दूसरा प्रबल प्रमाण यह है कि उन्होंने हिन्दी के सन्त-कवियों तथा निवृत्ति मूलक सम्प्रदायों द्वारा बसुप्रचारित निवृति-मार्ग का दृढ़तापूर्वक विरोध कर प्रवृत्ति-मूलक उपासना तथा जीवन-पद्धति का प्रबल समर्थन किया था । उन्होंने मानव की सहज वृत्तियों का निषेध न कर, कृष्ण को सारे रागों का केन्द्र बना, उन्हें 'जड़ोन्मुख' से 'चिन्मय' बना दिया था । 'भ्रमरगीत' का प्रसिद्ध योग और भक्ति का द्वन्द्व सूर की इसी महान उपलब्धि का प्रमाण है । योग निवृत्ति मार्ग का समर्थक है और भक्ति प्रवृत्ति मार्ग की । और इसका एकमात्र माध्यम है—प्रेम ।

मानव एकता के प्रचारक :

सूर अपने इस प्रेम द्वारा मानव की एकता का उद्घोष करते हैं । प्रेम के क्षेत्र में सामाजिक-विभेद छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । दीन जाति की अशिक्षिक गोपियाँ प्रेम की एकनिष्ठता की ज्वलन्त प्रतीक तक की जाती हैं । कुब्जा कृष्ण की प्रेयसी का पद प्राप्त कर लेती है । इसके द्वारा सूर ने दलित-पतित मानव को महान बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया है । डाक्टर विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने प्रेम की इसी महत्ता का, सूर-काव्य के सन्दर्भ में, विवेचन करते हुए लिखा है कि—"संघर्ष रहित और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अनुभवों से रहित होने पर भी कृष्ण-साहित्य ने भारतवर्ष में 'प्रेम की प्रतिष्ठा' करने में तुलसी से

अधिक सफलता पाई है और यह 'प्रेम' व्यावहारिक जीवन की यथार्थ आवश्य-कता थी, इसीलिए वह सभी जातियों द्वारा स्वीकृत हुआ ।" डा० उपाध्याय के इस कथन में यथार्थ बोल रहा है । परन्तु डा० उपाध्याय का यह कथन भ्रम-मूलक है कि सूर आदि का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों तथा संघर्षों से परिचय नहीं था । परिचय अवश्य था और उसे उन्होंने अभिव्यक्त भी किया है परन्तु इतने सांकेतिक और अप्रत्यक्ष रूप में कि सहज ही पकड़ में नहीं आ पाता ।

अलौकिकता को लौकिकता में परिणति :

सूर-काव्य की सबसे महान उपलब्धि यह है कि उन्होंने अलौकिकता को लौकिकता के साथ इतने घनिष्ट रूप से घुला-मिला दिया है कि अलौकिकता का रूप ही तिरोहिता हो उठा है । सूर प्रायः यह तो याद दिलाते चलते हैं कि कृष्ण ब्रह्म हैं परन्तु वह साधारणतः उनका चित्रण विशुद्ध लौकिक रूप में करते हैं । कृष्ण की बाल-क्रीड़ा, प्रेम-प्रसंग, अत्याचारियों का विनाश आदि उन्हें अलौकिक नहीं रहने देते । सूर द्वारा बार-बार याद दिलाने पर भी कृष्ण हमारे लिए लौकिक प्रेम की साक्षात मूर्ति ही बने रहते हैं । उनकी अलौकिता हमें चमत्कृत तो कर देती है परन्तु भाव-विभोर नहीं कर पाती । तुलसी के राम से हमें श्रद्धा-विनय-मिश्रितमय-सा लगता है परन्तु सूर के वृक्ष के साथ हम खेलते हैं, हँसते हैं, रोते हैं और उन्हें प्यार करते हैं । राम को हम अपना रक्षक मानते हैं, परन्तु कृष्ण हमारे सखा बन जाते हैं । और हम कृष्ण के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर सूर की भाव-गहनता में डूब जाते हैं । यशोदा और गोपियाँ हमें कृष्ण के विरह में रुला देती हैं, हम बाल-कृष्ण के साथ हँसते-खेलते रहते हैं । जो व्यक्ति अगम्य, अलक्ष्य ब्रह्म को हमारे लिए इतना अधिक परिचत और आत्मीय बना देता है, उसकी भाव-गहनता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है ।

सूर-काव्य का नया मूल्यांकन

इसलिए हमें सूर-काव्य का नए सिरे से पुनः मूल्यांकन करना चाहिए । सूर की भक्ति, दार्शनिक भावना, काव्य-कौशल आदि का विवेचन इतना महत्व-पूर्ण नहीं है जितना कि सूर काव्य की पृष्ठ-भूमि में प्रवाहित होने वाली सूर की

वह विचार-धारा और भाव-धारा है जो अपने सन्दर्भ में पूर्ण सशक्त और जलन्त है। सूर-काव्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सूर हमें अपने साथ पूर्ण भाव-विभोर कर देते हैं। और साहित्य की सबसे बड़ी सफलता हमारी दृष्टि में यही है कि जो साहित्य हमें अपने साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने के लिए बाध्य कर दे, वही शाश्वत और अमूल्य साहित्य है। इस दृष्टि से सूर साहित्य हिन्दी का अलभ्य और अमूल्य साहित्य है।